समर्पण।

—:o:—

नाथ ! जगन्नाटक-नियामक !!

इस भवाटवी के विषम-दृश्य में भी महर्षि वाल्मीकि, और कृष्ण द्वैपायन भगवान् वेदव्यास जैसे महानुभावों द्वारा आपका सुश्लोक्य और सु ललित विशाल साहित्योद्यान निर्मित किया गया है। उसे भास, कालिदास, और भवभूति आदि महाकवियों द्वारा अनुपम अभिनव और अनल्प प्रतिभा-चातुरी से आपहीने सु-सज्जित और सु-रक्षित कराके अद्यापि तादृश शोभा सम्पन्न रख छोड़ा है, और उसके प्रेमियोंके लिये मुक्त-द्वार कर रक्खाहै उसी उद्यान के एक अद्वितीय मालाकार के पुष्पावचय से लेकर सु-गुम्फित किया हुआ अतएव उसी के मकरन्द से आमोदित यह एक, छोटासा नव-विकसित अनाघ्रात पुष्प-स्तवक आपही के पाद-पङ्कज में:—

"त्वदीय वस्तु गोविन्द ! तुभ्यमेव समर्पितम्"।

उपक्रमणिका ।

—:o:—

भूमिका

मेघदूत के परिचय के लिये अधिक उल्लेख अनावश्यक है। यह-काव्य साहित्य संसार में आबाल वृद्ध प्रसिद्ध है। इसका और इसके

मेघदूत का परिचय

रचयिता महाकवि कालिदास का नाम शायदही किसीने न सुना होगा। तथापि बहुत से लोग इसको केवल शृङ्गार-रसात्मक काव्य समझते हैं। किन्तु यह उनका भ्रम है, क्योंकि इसको केवल शृङ्गार-रस की कल्पित आख्यायिका प्रेम कहानी-समझना, इसमें वर्णन किये हुए भावों पर विचार न करने की अनभिज्ञता मात्र है। अतएव यह स्पष्ट करने के लिये कि, मेघदूत में क्या वस्तु वर्णित है? और यह किस उच्च-श्रेणी का ग्रंथ है? इस विषय में कुछ उल्लेख किया जाता है।

यह-मेघदूत-थोड़े में अधिक अर्थ-बोधक, सृष्टि-सौन्दर्य के साथ शृङ्गार-रस मिश्रित, हृदयङ्गम वर्णन वाला शिक्षा-गर्भित काव्य-रत्न है। इसमें अनेक पर्वत, नदी, देश और स्थानों के वर्णन से प्रकृति के अपूर्व-सौन्दर्य का मनोहर चित्र अङ्कित है, तीर्थ और पवित्र स्थलों का माहात्म्य वर्णन है, यक्ष-कान्ता की वियोग-दशा के व्याज (बहाने) से पातिव्रत्य-धर्म सूचन है। इसमें उच्च भावना-मय शृङ्गार रस की योजना अवश्य की

गई है, पर इसीसे यह केवल शृङ्गार-रस का काव्य कदापि नहीं कहा जा सकता। वास्तव में कवि ने इसमें कान्ता-सम्मित शब्द द्वारा अर्थात् मधुर और कोमल मनोरञ्जक शब्दों से अनेक लैाकिक-व्यवहारोपयोगी-अलैाकिक शिक्षा सूचन की हैं। यह छोटासा काव्य जिस प्रकार काव्य-प्रेमीजनों को मनोमुग्ध-कारक है, उसी प्रकार विद्यार्थियों के लिये भी अत्यन्त उपयोगी है। इसीसे विद्वानों ने इसको साहित्य की शिक्षा में रक्खा है।

मेघदूत जैसे मनोरञ्जन काव्य को शिक्षा-गर्भित करना यह कवि कुल-शेखर कालिदास की असाधारण प्रतिभा-शक्ति का अपूर्व उदाहरण है। इनकी शिक्षा-पूरित मनोहारिणी कविता पर मोहित होकर आर्या सप्तशती कार श्रीमद्गोवर्धनाचार्य ने, देखिए! कैसा आनन्दोद्गार निकाला है:—

'साकूतमधुरकोमलविलासिनीकण्ठकूजितप्राये।
शिक्षा समयेऽपि मुदे रतिलीला कालिदासोक्तिः'॥

अर्थात् शिक्षा समय में भी आनन्द देने वाली दो ही वस्तु हैं। एक, भाव-गर्भित मधुर और कोमल कण्ठ-कूजित वाली, विलासवती कामिनी की रति-लीला। और दूसरी, उसी के समान-भाव-पूरित मधुर और कोमल पदावली वाली कालिदास की हृदय हारी कविता।

मेघदूत को साहित्यदर्पणकारादि ने खण्ड काव्य माना है। क्योंकि खण्ड-काव्य के:—

'कुर्यात्क्षुद्रे काव्ये खण्डकथायां नायकं सुखिनम्।
आपद्गतश्च भूयो द्विजसेवा सार्थवाहादिम्॥
अत्र रसं करुणं वा कुर्यादथवा प्रवासशृङ्गारम्।
प्रथमानुरागमथवा पुनरन्ते नायकाभ्युदयम्"॥

यह लक्षण, प्रायः मेघदूत में मिलते हैं। किन्तु दण्डी आदि पूर्वाचार्यों ने इसकी महाकाव्यों में गणना की है। बात यह है कि इसकी काव्य रचना की रसमयता से लोकोत्तर आनन्द देने वाले अनुपम गुणों के कारण यह इतना विश्व-मोहक बन गया है, कि इसकी समानता में बहुत से महाकाव्य भी नहीं लग सकते।

इसमें कवीन्द्र कालिदास ने यौवन के उद्यान में क्रीडा-सक्त यक्ष-दम्पति को नायक और नायिका कल्पना करके उन के विप्रलम्भ शृङ्गार-रस का वर्णन किया है। विप्रलम्भ शृङ्गार का लक्षण यह है:—

"अप्राप्तिर्विप्रलम्भः स्याद् यूनोर्जाताभिलाषयोः।
विप्रलम्भस्य भेदाः स्युरयोगो विरहस्ततः॥
प्रवासः शापकरुणमानसाश्चेति पञ्चताः"॥

(मालविकाग्निमित्र नाटक की काटयवेम टीका पत्र ४२)

अर्थात् अभिलाषी-दम्पति का परस्पर में न मिलना, विप्रलम्भ शृङ्गार है। और अयोग, विरह, प्रवास तथा शाप आदि इसके भेद हैं। मेघदूत में शाप-प्रवास रूप विप्रलम्भ का

वर्णन है। विप्रलम्भ शृङ्गार के विना सम्भोग-शृङ्गार की पुष्टि नहीं हो सकती है। कहा है:—

"न विना विप्रलम्भेन सम्भोगः पुष्टिमश्नुते"॥

हमारे कवि-कुल-गुरु कालिदास की अभिरुचि शाप-प्रवास रूप वियोग-शृङ्गार के वर्णन में अधिक देखी जाती है। शाकुन्तल और विक्रमोर्वशीय-नाटकों में भी उन्होंने अधिकतया इसीका वर्णन किया है।

मेघदूत, दो भागों में विभक्त है। पूर्व-मेघ और उत्तर-मेघ। पूर्व-मेघ म राम-गिरि से लेकर अलका तक के वर्षा-कालिक मार्ग का, और उत्तर-मेघ में नगाधिराज-हिमालय के हिमवेष्टित गगन-भेदी उत्तुङ्गशिखरस्थ अलका और यक्ष-स्त्री की विरहावस्था तथा अन्त में यक्ष के सन्देश का वर्णन है।

वर्षा ऋतु में वर्णन करने योग्य क्या विषय हैं? सो भगवान् भरत मुनि ने आज्ञा की है:—

"कदम्बनिम्बकुटजैः शाद्वलैः सेन्द्रगोपकैः।
मेघैर्वातैः सुखस्पर्शैः प्रावृट्कालं प्रदर्शयेत्॥
मेघौघनादगम्भीरैर्धाराप्रपतनैस्तथा।
विद्युन्निर्घातघोषैश्च वर्षारम्भं समादिशेत्"॥

(नाट्यशास्त्र अ॰ १४, ३४-३५)

अर्थात् कदम्ब, निम्ब, कुटज, हराघास, इन्द्रवधू, बादलों की घटा और स्पर्श से सुख देने वाला पवन इत्यादि वर्षा काल के और मेघों की घोर गर्जना, धारा-प्रपात तथा बिजली

का निर्घात आदि वर्षा के आरम्भ-समय के वर्णन करने योग्य विषय हैं।

इन्हीं वस्तुओं का कवि ने इस मेघदूत में अपनी अप्रतिम प्रतिभा द्वारा बड़ा ही चित्ताकर्षक वर्णन किया है। अथवा यों कहना चाहिये, कि मेघ-मण्डल से प्राकृतिक दृश्य के जो चमत्कार दीख पड़ते हैं, तथा पुराण, इतिहासों में पर्वत, नदी तथा अन्य स्थान जो श्रीराम, सीता, अर्जुन और श्री बलराम आदि के पवित्र चरित्रों से अद्यापि प्रसिद्ध हैं, और हिमालय प्रान्त के सृष्टि-सौन्दर्य के जो विचित्र-दृश्य हैं, उनको नेत्रों के सन्मुख-कवि ने यथावत्-चित्र अङ्कित करके रख दिया है। इसमें उज्जैन और अलका का अद्वितीय वर्णन और अन्यान्य उपर्युक्त स्थल तथा प्रसङ्गों के मनोहर वर्णन से इस काव्य की निरुपम शोभा हो गई है। यक्ष-पत्नी की विरहावस्था तथा यक्ष के सन्देश का करुणारसात्मक वर्णन हृदय को एक बार ही द्रवित कर देता है। सत्य तो यह है,कि एवंभूत कल्पना की आनन्दमयी सृष्टि में यथेच्छ विहार करने का अधिकार मेघदूत के रचयिता जैसे कवि को ही उपलब्ध हो सकता है। महाराष्ट्रीय विद्वान् श्री विष्णुकृष्ण शास्त्री, चिपलुणकर ने बहुतही यथार्थ कहा है, कि:—

"यदि कालिदास के अन्य सब ग्रंथ उपलब्ध न हो के यह एक मेघदूत ही साहित्य संसार में विद्यमान रहता तो भी यह महाकवियों की गणना में सर्वोपरि माना जाता। इस

काव्य की कथा सूत्र की सामग्री केवल कवि की कल्पना शक्ति के उदात्त और हृदयङ्गम भाव मात्र है। इसकी कथा नितान्त सरल होने पर भी अत्यन्त चमत्कृतिजनक है। एतादृश रसोद्बोधक कल्पना माधुरी कथा का अस्तित्व केवल संस्कृत में ही नहीं किन्तु विस्तृत संसार की अन्य भाषाओं में भी प्रायः नहीं मिल सकता है"। इत्यादि

मेघदूत में यक्ष दम्पति के वियोग शृङ्गार परिपूर्ण आदर्श दाम्पत्य प्रेम का मनोवेधक चित्र अङ्कित किया गया है। प्रायः बहुत लोग ऐसे हैं, जो शृङ्गार रस के नाम ही से घृणा करते है, किन्तु अन्य कवियों का वर्णित शृङ्गार जबकि स्थूल इन्द्रियों की वासना-पूरित और प्रकाश रूप में होता है, तब कालिदास का वर्णन किया हुआ शृङ्गार, कुछ अन्य ही प्रकार का-प्रेम की उन्नत भावनाओं से गम्भीर और पटान्तर से प्रकाशमान होने से तादृश जनों के लिये भी घृणोत्पादक नहीं, किन्तु आनन्द जनक होता है।

संस्कृत और अंग्रेज़ी साहित्य के परमानुभवी हिन्दी के आदर्श लेखक सरस्वती के सम्पादक विद्वद्वर श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने मेघदूत के विषय में रघुवंश के भाषानुवाद की भूमिका में लिखा है कि:—

"मेघदूत में कालिदास ने आदर्श प्रेम का चित्र खींचा है। उसको सविशेष हृदयहारी और यथार्थता-व्यञ्जक बनाने के लिये यक्ष को नायक कल्पना करके कालिदास ने अपने

कवित्व-कौशल की पराकाष्ठा कर दी है। निःस्वार्थ और निर्व्याज प्रेम का जैसा चित्र मेघदूत में देखने को मिलता है वैसा और किसी काव्य में नहीं। मेघदूत के यक्ष का प्रेम निर्दोष है। और, ऐसे प्रेम से क्या नहीं हो सकता? प्रेम से जीवन पवित्र हो सकता है; प्रेम से जीवन को अलौकिक सौन्दर्य प्राप्त हो सकता है। प्रेम से जीवन सार्थक हो सकता है। मनुष्य-प्रेम से ईश्वर सम्बन्धी प्रेम की भी उत्पत्ति हो सकती है। अतएव कालिदास का मेघदूत शृङ्गार और करुण-रस से परिप्लुत है तो क्या हुआ, यह उच्च-प्रेम का सजीव उदाहरण है"।

द्विवेदीजी महाशय का यह कथन बहुत ही यथार्थ है। वस्तुतः परिणत-दशा को प्राप्त होने पर प्रेमियों के दोनों हृदय अभेद-वृत्ति का अनुभव प्राप्त करते हैं। स्थूल-इन्द्रियों की भोग-वासना जब तृप्त हो जाती है, अथवा ज्ञान-बल से विराम को प्राप्त हो जाती हैं, तब इसी प्रेम की मर्यादा शनैः शनैः विशाल होके अन्त में ईश्वर प्रेम में परिणत हो जाती है, अतएव प्रेम भी मोक्ष रूप परम-पुरुषार्थ-साधन में एक सोपानरूप है। सत्व, रज, तम से मिली हुई त्रिगुणात्मक-सृष्टि में प्रेम का स्थान रजोगुण है, यह रजोगुणमयी प्रेम-भावना जब संकान्तित रहती है, तब संकुचित होने के कारण-उसमें रजोगुण का प्राबल्य अधिक होता है, परन्तु जब अपने आत्मीय स्वजनों से लेकर अखिल विश्व पर्यन्त उसकी मर्यादा जैसे जैसे विशाल

होती जाती है वैसे वैसे हृदय की शुद्ध भावनाओं के कारण उसमें से रजोगुण का अंश न्यून और सत्व गुण का मिश्रण होता जाता है। काल क्रम से सत्वांश बढ़ने पर वही प्रेम-भावना, सत्व गुण मय परमात्म भक्ति में विराम पा जाती है। तादृश दशा मोक्ष के अनुकूल हो जाती है। निष्कर्ष यह है, कि शुद्ध प्रेम की प्रवृत्ति यदि सत्व गुण की तरफ झुकती है तो मोक्ष के साधन रूप हो जाती है, किन्तु वही स्थूल इन्द्रियों का विषय वासना के तृप्त करने की तरफ झुक जाती है तो काल क्रम से तमोवृत्ति बढ़ जाने पर मनुष्य के अधः पतन का कारण हो जाती है। एतावता सांसारिक स्थिति में रहकर प्रेम भावना को श्रेय मार्ग में लगाना यही मनुष्य मात्र का कर्तव्य है। अस्तु।

उन्नत भाव गर्भित दाम्पत्य स्नेह का रसमय काव्यचित्र अङ्कित करने में,संस्कृत साहित्य में सिद्धहस्त दो ही कवि सर्वोपरि हुए हैं। एक कालिदास और दूसरे भवभूति। भवभूति ने भी उत्तर राम चरित नाटक में इस विषय का गम्भीर और चित्ताकर्षक चित्र उतार कर करुणा रस को मूर्तिमान् उपस्थित कर दिया है। इनकी समता इन्हीं में मिल सकती है।

कालिदास की कवित्व शक्ति

कालिदास के काव्य में अत्यन्त प्रमोदोत्पादक अविनाशिनी शक्ति भरी हुई है। अतएव सहस्रों वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी वह उसी प्रकार आनन्द दायक बनी हुई है। प्राचीन काल के प्रायः

सभी साहित्य के उत्कट विद्वानों ने इनकी कविता का रसानुभव करके अपने अपने आनन्दोद्गार निकाले हैं। स्वर्गीय-सुधारस-परिसुत कादम्बरी के प्रणेता महाकवि बाण ने हर्षचरित में कालिदास की सूक्ति की प्रशस्ति में लिखा है—

"निर्गतासु न वा कस्य कालिदासस्य सूक्तिषु।
प्रीतिर्मधुरसान्द्रासु मञ्जरीष्विव जायते"॥

केवल पूर्वकालिक ही नहीं, वर्तमान में भी एक नहीं अनेक गण्यमान्य साहित्य के विद्वान्, महाकवि कालिदास की कविता के विषय में अत्युच्च विचार प्रकट करके अपनी लेखिनी को गौरवान्वित कर रहे हैं। भारतवर्ष के वर्त्तमान कविवर श्रीमान् रवीन्द्रनाथ ठाकुर-जिनके काव्यपर मुग्ध हो कर यूरोपीय विद्वत्-समाज ने साहित्य-परीक्षा का अपना सर्वोपरि-उपहार समर्पित करके जिनको साम्प्रतिक कवि सार्वभौम सिद्ध किया है, तथा श्रीयुक्त राजेन्द्रलाल देव, श्रीयुत अरविन्द घोष इत्यादि बङ्गदेशीय तथा महाराष्ट्र, गुर्जर, मद्रास इत्यादि भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों के विद्वद्गण कालिदास की कविता पर मनोमुग्ध हो रहे हैं। इन्होंने अपने अपने ग्रन्थ और निबन्धों में जो विस्तृत और प्रशंसनीय आलोचना की हैं, उनके देखने ही से इन बातों का अनुभव हो सकता है कि कालिदास क्यों आसमुद्र सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं? उनमें ऐसे कौनसे विलक्षण गुण थे? उनके काव्य में क्या माधुर्य है? उनकी सुन्दर उपमाओं की अपूर्व कल्प-

नाओं में क्या विलक्षणता है? उनके उत्प्रेक्षादि अलङ्कारों में क्या चमत्कार है? उनके व्यवहृत रमणीय शब्दों में कैसी श्रवण-सुखद प्रसाद-गुण-पूर्ण पदावली हैं? उक्ति में क्या अर्थ गौरव है? भावों में कैसा गाम्भीर्य और क्या उच्चता है? सृष्टि-सौन्दर्य के वर्णन में कैसी सूक्ष्मदर्शिता है? उनके काव्य-गह्वर में छिपे हुए कैसे लोकोपयोगी उपदेश रत्न गर्भित हैं? उनके काव्यों में रसों का किस प्रकार परिपोषण होके वे परिपाक-दशा को प्राप्त हुए हैं? खेद है, कि इच्छा रहने पर भी विस्तार भय से यहां उक्त विद्वानों के विस्तृत लेखों का सारमात्र भी उद्धृत नहीं कर सकते। निष्कर्ष यह है, कि कालिदास अलौकिक प्रतिभा-शाली महाकवि थे। उनकी वेदान्त, न्याय, सांख्य, योग, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष, पदार्थ-विज्ञान, लोकाचार, राजनीति और साधारण नीति आदि सभी शास्त्रीय विषयों में असाधारण गति थी। उनके ग्रन्थ ही इस बात का साक्ष्य देरहे हैं। उनकी काव्य-रचना स्वाभाविक है, जान पड़ता है, कि काव्य रचना के समय उनको सुमधुर और भाव-व्यञ्जक शब्दों के स्मरण करने की कुछ आवश्यकता न पड़ती थी, किन्तु तादृश सर्वोत्तम शब्दों के समूह कविता में प्रयोग करने के लिये उनके सम्मुख स्वयं प्रार्थी रहते थे। प्रकृति के सम्पूर्ण अलौकिक दृश्य उनकी प्रतिभा के दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर उनको प्रत्यक्ष दृष्टिगत होते थे। कालिदास रस-सिद्ध कवीश्वर थे। उनकी पीयूष

प्रवाहिनी सरस्वती ने मात्र एतद्देशीय ही नहीं किन्तु द्वीपान्तरीय विद्वानों के चित्त को भी रसाकृष्ट करके मोहित कर दिये हैं। जर्मन-देशीय कवि-शेखर गेटी Goethe, सुप्रसिद्ध तत्ववेत्ता प्रवासी हंबोल्ड—Alexunder Von Humboldt और विद्वद्वर श्लेजेल इत्यादि योरोपीय विद्वान् और समालोचकों ने कालिदास की कविता का केवल अनुवाद रूप से रस-पान करके आनन्दातिशय में मग्न होकर शिरः प्रकम्पन किया है। इसीसे इनका कविराज चक्रवर्त्ती होना सिद्ध होता है।

मेघदूत पर योरोप के विद्वानों का मत

देखिये केवल मेघदूत के सर्वोत्तम गुणों पर मनोमुग्ध होकर योरोपीय विद्वानों ने अपने योरोप के साहित्य में किसी काव्य को इसकी समता के योग्य नहीं माना है। Mr. Mon Fanche ने कहा है:—

There is nothing so perfect in the elegiac leterature of Europe as the Maghduta of Kalidas. *

एक दूसरे जर्मन विद्वान ने भी यही कहा है:—

There exist for instance in our European literature few pieces to be compared with the Maghdute in sentiment and beauty.

इनके सिवा और भी अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से अपने अपने आनन्दोद्गगार निकाले हैं।

* देखो डाक्टर भाऊदाजी का कालिदास पर निबन्ध पत्र।

यूरोप खण्ड में मेघदूत की कीर्ति-कौमदी विकाश करने के यशोभागी डाक्टर एच. एच. विलसन् H. H. Vilson साहब को समझना चाहिये। ये महोदय आनरेबुल ईस्ट इन्डिया कम्पनीके असिस्टैन्ट सरजन और एशियाटिक सोसायटी के सेक्रेटर थे। सब से प्रथम इन्होंने ही ईसवी सन् १८१३ में अङ्गरेज़ी भाषानुवाद और टीका के साथ इसकी एक आवृत्ति कलकत्ते में प्रकाशित की थी। तदनन्तर मिस्टर गील्डमीस्टर Gildmeister ने उक्त डाक्टर विलसन् की आवृत्ति तथा दो पेरिस की और एक कोपन हेगन की हस्तलिखित आवृत्तियों के आधार से ईसवी सन् १८४१ में बोन Boun में लैटिन भाषा के शब्द कोश के साथ एक आवृत्ति निकाली। इसके पश्चात् प्रोफ़ेसर मोक्षम्यूलर साहब ने कानीग्सबर्ग में एक आवृत्ति सन् १८४७ में निकाली तदनन्तर इसी सन् में ब्रेसलो में मिस्टर स्टेन्जलर ने जर्मन शब्द कोश और विस्तृत टीका के साथ एक आवृत्ति निकाली। इनके सिवा जी. ए. जेकब. शट्ज, और फ्रीटस आदि की यूरोप में निकाली हुई और भी कितनी ही आवृत्तियां हैं। अभी मिस्टर हूलज-Hultzsch साहब ने सन् १९११ ईसवी में वल्लभदेवकी टीका की लन्डन में एक आवृत्ति निकाली है। निष्कर्ष यह है, कि इस समय से लगभग १०० वर्ष पूर्व, मेघदूत की कीर्ति यूरोप में प्रसारित हुई थी, तब से जैसे जैसे वहां के विद्वानों में इसका

मेघदूत का यूरोप में प्रचार

प्रचार हो रहा है, वैसे वैसे प्रतिदिन इसकी अधिकाधिक वृद्धि हो रही है। अस्तु,

मेघदूत की टीकाओं का विवरण

इस-मेघदूत-की हमारे भारतवर्ष में भी न मालूम कितनी टीकायें प्राचीन विद्वानों द्वारा निर्मित की गई थीं। हमारा संस्कृत-साहित्य यवन-राजकुलाक्रान्त होने पर अब भी उसमें इस-छोटे से काव्य की बहुतसी टीकाएं उपलब्ध होती हैं। उनमें से इस समय तक जितनी टीकाओं का पता मिल सका है, उनका विवरण इस प्रकार है:—

* (१) मेघदूत-विवृतिः अथवा पञ्चिका
(वल्लभदेव कृत, मुद्रित)

† (२) सञ्जीवनी (मल्लिनाथ कृत, मुद्रित)

* इस टीका की आवृत्ति मि० हुलश Hultzsch साहब ने सन् १९११ में लन्दन में अत्यन्त श्रम पूर्वक निकाली है। प्रकाशक महाशय ने इसके प्रणेता-वल्लभदेव का समय बहुत से प्रमाणों द्वारा ईसवी सन् के दशम-शतक के पूर्वार्द्ध में स्थिर किया है। इस -वल्लभदेव की लिखी हुई रघुवंश, कुमारसम्भव और शिशुपाल-वध पर भी टीकायें हैं। यह राजानन्द आनन्द -व का पुत्र था, इसके पौत्र कैयट ने आनन्दवर्धनाचार्य के देवी-शतक पर टीका लिखी है, जो कि 'काव्यमाला' के नवम गुच्छक पत्र १-३१ में मुद्रित हुई है।

† इस सु-प्रसिद्ध टीका की सब से प्रथम आवृत्ति सन् १८४९ में बनारस में छपी थी, जैसा कि इन्डिया आफिस के संस्कृत पुस्तकों की लायब्रेरी के सूची पत्र पेज़ १३५ में उल्लेख है। तदनन्तर इसकी अनेक आवृत्तियां कलकत्ता, बम्बई आदि से निकल चुकी हैं। उनमें केवल संस्कृत के पाठकों के लिए पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की (सन् १८६९ में) तथा पण्डित

* (३) विद्युल्लता (पूर्ण सरस्वती कृत, मुद्रित)

† (४) सारोद्धारिणी (कर्त्ता का नाम अज्ञात)

‡ (५) सुखबोधिका (महिमसिंह गणि जैन कृत)

प्राणनाथ काश्मीरी की (सन् १८७१ में) और श्रीयुत हृषीकेश शास्त्री की कलकत्ते में छपी हुई आवृत्तियां और अङ्गरेजी के पाठकों के लिए श्रीयुत G R नन्दार्गीकर की सन् १८६४ में बम्बई से निकाली हुई आवृत्ति बहुत उपयोगी हैं। मल्लिनाथ का स्थितिकाल डाक्टर भन्डार कर महाशय ने अपने मालती माधव और रघुवंश के एडीशन में ईसाकी तेरहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में या चौदहवीं के पूर्वार्द्ध में निश्चित किया है।

* इस टीका की आवृत्ति वाणीविलास प्रेस श्रीरङ्गम में श्रीयुत R Y कृष्णमाचार्य ने सन् १६०६ ई० में निकाली है। प्रकाशक महाशय ने टीकाकार पूर्ण सरस्वती को केरल देशीय लिखा है, और मल्लिनाथ के परवर्ती, अर्थात् इस समय से लगभग ३५० वर्ष प्राचीन अनुमान किया है। यह टीका बड़ी विलक्षण है। इसमें मूल के शब्दार्थ के सिवा गूढ़ भाव और कवि के व्यङ्गार्थ भी बहुत उत्तमरीति से स्फुट किये गये हैं। इसमें उपर्युक्त दोनों टीकाओं की अपेक्षा केवल कालक्रम में ही नहीं, किन्तु शब्दार्थ प्रकाशन में भी नूतनता है। एतदर्थ इस टीका के प्रकाशकर्ता महाशय को धन्यवाद है।

† इस टीका की हस्तलिखित एक प्रति जो दक्षिण कालेज पूना की लायब्रेरी में नं० १४७-१४ है, उसके अन्त में लिखा है —

" इति श्री कालिदासविरचितमेघदूतकाव्यरससारोद्धारिणीटीका समाप्ता। सम्वत् १६१७ आषाढ़ मासे कृष्ण पक्षे एकादश्यां भृगुदिने लिखतेयम्" ॥

इस पर से ज्ञात होता है, कि यह टीका वि० सत्तरहवीं शताब्दी के प्रथम की बनी हुई है। इस का दूसरा नाम 'रूपभूतिनी' भी है। यह भी बहुत उत्तम और विस्तृत है। इसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं।

‡ इस टीका की हस्त लिखित एक प्रति जो दक्षिण कालेज पूना की लायब्रेरी में नं० २८०-१७ डाक्टर भन्डारकर द्वारा (सन् १८८३ ८४ में) संग्रहीत है, उसके अन्त में यह श्लोक है —

(६)* सुगमान्वया (सुमतिविजय जैन कृत)

(७) मालती (कल्याणमल कृत) भं, ५२६, अ, १६,

(८) मनोरमा (कविचन्द्र कृत) रा, नं० २१७४

(९) रसदीपिका (जगद्धर कृत) रा, नं०, १९९६

(१०) तत्वदीपिका (भगीरथ मिश्र कृत) रा, नं० २२१

(११) मुक्तावली (रामनाथ कृत) ओ, १२५, B. भं० १३८१A.

(१२) शिष्यहितैषिणी (लक्ष्मीनिवास कृत) भं० १५९ वे, ७६ वे, ७६,

"सम्वचन्द्रकलाब्धिमिते श्रीमेघदूतानघे मासे भाद्रपदे शुभोदयकरे चैकादशी वासरे। टीकेयं वरवाचकेन महिमासिंहेन सत्साधुना शिष्यानान्तरबुद्धिहर्ष विजयादीनाकृते निर्मिता" यह टीका भी विस्तारपूर्वक लिखी हुई है।

* यह टीका बीकानेर (राजपूताना) निवासी सुमतिविजय जैन की लिखी हुई है। इसकी हस्तलिखित प्रति दक्षिण कालेज-पूना की लायब्रेरी में सन् १८८३ में जो राजपूताने में से डाक्टर पीटर्सन महाशय की संगृहीत है, उस में पुस्तक के लिखने का समय वि० सम्वत् १६०४ लिखा हुआ है। यह टीका और उपर्युक्त महिमसिंहगणी की टीका दोनों की लेखन शैली समान है।

भं०—श्रीयुत R. G. भन्डारकर-बम्बई की लिखी हुई बोंबे प्रेसीडेन्सी के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों की सन् १८८२-८३ की रिपोर्ट।

रा० श्रीयुत राजेन्द्रलाल मित्र-कलकत्ता के हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों के नोट।

ओ० ओक्सफोर्ड (Oxford) की बोडलियन (Bodleian) लायब्रेरी का सूचीपत्र।

वे० बोडलियन Bodleian लायब्रेरी ओक्सफोर्ड Oxford की संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकें।

(१३) दुर्बोधपदभञ्जिका (विश्वनाथ कृत) व, ६२६.

(१४) मेघदूतार्थ मुक्तावली (विश्वनाथ मिश्र कृत) रा, नं० ३६६-अ. XVII १४.

(१५) तात्पर्यदीपिका (सनातन शर्म्मकृत) ओ, १२५ B. नं० १३८१ A.

(१६) शिशुहितैषिणी (श्रीवत्स कृत) पी, ४-२८.

(१७) मेघदूत टीका (कर्त्ताका नाम अज्ञात) रा, II २१०२ और नं० १५७ १५८

(१८) अवचूरी (कर्त्ता अज्ञात) अ. XV २०,

(१९) मेघलता (कर्त्ता अज्ञात) रा, नं० २०५६ और नं, १६०.

(२०) उद्योतकर (कर्ता अज्ञात) केट०

(२१) कविरत्न-टीका वो.

(२२) कृष्णदास-टीका म०

व० बनारस का सन् १८७४-८ का पश्चिमोत्तर देशकी प्राईवेट लायब्रेरियों के संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकोंका सूचीपत्र–Catelogae।

अ० अवध प्रान्तकी सन् १८७५ में और अलाहाबाद की सन् १८७८ ८ में मिस्टर J. C Nesfielot की सहायता से पण्डित देवीप्रसाद-कलकत्ता की लिखी हुई हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की नामावली Lest

पी० प्रोफ़ेसर पीटर्सन् Petersnos की चौथे सरकल की हस्तलिखित संस्कृत पुस्तको की रिपोर्ट।

केट० केटलॉगस् केटलॉगम by theodor Aufrecht liepzig 1891 (volumes I and II) pages 466 I and 107 part II

म० मद्रास के I S केनडा स्वामी अय्यर का सन् १८६१-८ में लिखा हुआ परीक्षा बोर्ड की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकोंकी लायब्रेरीका सूचीपत्र।

(२३) क्षेम हंसगणि-टीका पी, ३-३६५.

(२४) चिन्तामणि-टीका गु, ७-६८.

(२५) जनार्दन टीका पी, ३-३२४.

(२६) जिनेन्द्र टीका, व, ६१६.

(२७) दिवाकर-टीका, भं० १५१६.।

(२८) भरतसेन-टीका, भं० ४१५,,६६४, १३८१ A और ओ० १२५ A.।

(२९) राम उपाध्याय कृत टीका, मा, २८८।

(३०) वाचस्पति गोविन्द कृत टीका, ओ० १२५ A और भं० १३८१ A.।

(३१) शाश्वत कृत टीका, रा० नं० २७४०।

(३२) सरस्वतीतीर्थ कृत टीका, केम्ब्रिजयुनिवर्सटी की लायब्रेरी में है।

(३३) हरिदास कृत टीका, अ, XIV २८.।

(३४) कल्पलता पी, ४,२८,।

(३५) मोटजित कविकृत टीका, रि-३६२।

गु०गुजरात, सिंध, कच्छ, काठियावाड और खानदेश की प्राइवेट लायब्रेरियों का संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकोंका सूचीपत्र।

मा० मायसोर और कुरग के हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों का मिस्टर लेविस रायस बेंगलोरका सूचीपत्र।

रि० रिपोर्ट हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की श्रीयुत R G भंडारकर की लिखी हुई सन् १८८४-१८८५ की।

(३६) रविकर कृत टीका रा० ३३७१।

(३७) सुबोधिका मेघराज कृत।*

इस—विवरण-में जिन टीका या टीका-कर्त्ताओं के नामों के आगे जो जो सङ्केत चिन्ह दीये गये हैं, उन चिह्नों से जिस टीका का उल्लेख जिस पुस्तकालय (लायब्रेरी) के सूचीपत्र- Catalogue में या जिस विद्वान् द्वारा किया गया है, उसका सूचन किया गया है। और ये चिन्ह किस पुस्तकालय या किस विद्वान् का सूचन करते हैं, सो समझाने के लिये उन चिन्होंको टिप्पनी में स्पष्टता से लिखा गया है। तथा उन चिन्हों के आगे जो अङ्क हैं, वे उन लायब्रेरियों के सूचीपत्रों में दिये हुए नंबर या उन विद्वानों के सेक्शन आदि का सूचन करते हैं।

मेघदूत और रामायण — कविकुल शेखर कालिदास, सन्देश-काव्य के मार्ग-दर्शक कवि हैं। श्रीद्रामायण और श्रीमद्भागवत में वर्णित सन्देश-पद्धति को देखकर प्रथम इन्होंने ही उसको काव्यरूप-मेघदूत में प्रदर्शित की है। साहित्य-रसानुभवी मल्लिनाथ ने मेघदूत की टीका-सञ्जीवनी में लिखा है, किः—

"सीतां प्रति रामस्य हनूमत्सन्देशं मनसि निधाय मेघसन्देशं कविः कृतवान् इत्याहुः"।

---

* मि० जी-आर मन्दार्गीकर के मेघदूत के एडिसन् में इसका उल्लेख है।

अर्थात् कहते हैं, कि श्रीसीताजी के समीप भगवान् श्री रामचन्द्रजी का हनुमानजी द्वारा भेजा हुआ सन्देश, हृदय में रखकर कवि ने इसकी रचना की है।

मल्लिनाथ का यह कथन यथार्थ है। बात यह है कि महाकवियों की सरस्वती स्पष्टता वा गूढ़ता से महापुरुष-चरित-वर्णन के परिमल से शून्य नहीं देखी जाती। यह बात विद्वानों से छिपी नहीं है, कि महर्षि वाल्मीकि के सूक्ति सुधारस का निरन्तर आस्वादन करनेवाले कविकुल-कमल-दिवाकर कालिदास ने प्रायः अपने सभी ग्रन्थों में कहीं शब्द और कहीं अर्थ द्वारा श्री रामायण का प्रतिबिम्ब ग्रहण किया है। मेघदूत को भी ध्यानपूर्वक देखने से यह प्रत्यक्ष अनुभव होता है, कि महर्षि वाल्मीकि के वर्णन किये हुए, जनकनन्दिनी के विरह की वेदनाकुलित भगवान् श्री रामचन्द्रजी का सन्देश लेकर दक्षिणोदधि को उल्लंघन करने के लिये आकाश में-विद्युद्गण विभूषित मेघ के समान-गमन करते हुए हनुमानजी के प्रसङ्ग के काव्य-रसामृत से आकृष्ट चित्त होकर महाकवि कालिदास ने इस-मेघदूत में अपनी प्रियतमा के वियोगी किसी यक्ष की मानसी वृत्ति के विषय को लेकर मेघ को दूत कल्पना करके उसी प्रसङ्ग को रूपान्तर से वर्णन किया है। देखिए! कवि-सार्वभौम भगवान् वाल्मीकि नेः—

"अयं स कालः सम्प्राप्तः समयोद्य जलागमः।
संपश्य त्वं नभो मेघैः संवृतं गिरिसानुभिः" ॥

इस पद्य द्वारा मेघाच्छन्न गिरि-शिखर के वर्षाकालिक दृश्य से बढ़ी हुई श्री रघुनाथजी की अत्यन्त असह्य विरहावस्था का वर्णन प्रारम्भ किया है। कालिदास भीः—

"आषाढ़स्य प्रथमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानुम्"।

इत्यादि से तादृश वर्षाकालिक दृश्योत्पन्न यक्ष की विरहावस्था का वर्णन प्रारम्भ करते हैं। फिर—

'जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु'। 'रामगिर्याश्रमेषु'। 'रघुपतिपदैरङ्कितम्'। 'इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा'।

इत्यादि पदों के प्रयोग ही से रामायणोक्त कथा के साथ इसका प्रत्यक्ष सम्बन्ध मालूम होता है, सो नहीं किन्तु रामायण में 'शुशुभे स महातेजा महाकायो महाकपिः। वायुमार्गे निरालम्बे पक्षवानिव पर्वतः'। इत्यादि से श्रीमारुती की पर्वत, गज आदि से सादृश्य कल्पना की गई है, उनको कामरूप कथन किये गये हैं। यहां मेघदूत में भी 'अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः'। इत्यादि से तादृश सादृश्य और कल्पना है। रामचरित में सुग्रीव द्वारा वानरों के गन्तव्य मार्ग का कथन है, और यहां यक्ष द्वारा मेघ के गन्तव्य मार्ग का। वहां लङ्का का सुवेल शृङ्गस्थित और यहां अलका का कैलास शृङ्गस्थित वर्णन है। लङ्का में हनुमानजी की भांति यहां मेघ का भी सायङ्काल के समय अलका में प्रवेश और रात्रि में छोटारूप धारण करना कथन किया गया है। तथैव और भी उक्त महर्षिवर्य के वर्णित भावों की बहुधा एकता है। विशेषतया अशोकवाटिका में अशरण

श्री मैथिली की अतिकरुणावस्था के सूचक विशेषणों में और यहां यक्ष-प्रेयसी की तादृश अवस्था वर्णन में प्रायः अन्यूनातिरिक्त सर्वथा समानता है, जैसाकि इस-पुस्तक में उन पद्यों की व्याख्या में स्पष्ट किया गया है। सन्देश तथा अभिज्ञान दान का भी तदनुसार ही वर्णन है। निदान, यह निर्विवाद है, कि कालिदास ने मेघ-दूत की कल्पना में आदि काव्य श्रीमद्रामायण के उक्त प्रसङ्ग को लक्ष्य में रख उसीका अनुसरण करके इसके कथा-सूत्र को ग्रथित किया है।

मेघदूत के अनुकरण काव्य

यह सन्देश काव्य मेघदूत छोटा होके भी अपूर्व रस-पूर्ण होने से संस्कृत-भाषा में इसके अनेक अनुकरण काव्य रचना किये गये हैं। अब तक जितने अनुकरण काव्यों का पता मिला है, उनकी नामावली इस प्रकार है—

(१) 'पार्श्वाभ्युदय'—जिनसेनाचार्य कृत, (निर्णयसागर प्रेस-बम्बई द्वारा प्रकाशित)।
(२) 'नेमिदूत'—विक्रम कवि कृत, (काव्यमाला द्वितीय गुच्छक में मुद्रित)।
(३) 'हंस सन्देश'—वेन्दान्तदेशिक वेंकटनाथार्यकृत (वाणी-विलास प्रेस में प्रकाशित। मेघसन्देश की भूमिका में उल्लेख)
(४) कोकिल सन्देश—उद्दण्ड शास्त्रिकृत (इसका उल्लेख भी उक्त मेघसन्देश की भूमिका में है)।

(५) शुक सन्देश—लक्ष्मीदास कृत (इसका भी उल्लेख उक्त पुस्तक ही में है)

(६) पवन दूत—धोइक कृत, (बंगाल एशियाटिक सोसायटी द्वारा प्रकाशित)।

(७) पवन दूत-वादिचन्द्र कृत, (काव्यमाला त्रयोदश गुच्छक में प्रकाशित)

(८) इन्दु दूत—विनयविजयगणि कृत, (काव्यमाला चर्तुदश गुच्छक में प्रकाशित)।

(९) मनो दूत—तैलङ्ग व्रजनाथ कृत ई० सन् १७५८ में निर्मित (काव्यमाला त्रयोदश गु० में मुद्रित)।

(१०) पदाङ्क दूत—कृष्णसार्वभौम कृत, ई० स० १६४५ में निर्मित।

(११) उद्धव दूत—माधव कवीन्द्र भट्टाचार्य कृत।

(१२) उद्धव सन्देश।

(१३) हंस-दूत—रूप गोस्वामीजी कृत।

(१४) मनो-दूत—भगवद्दत्त कृत।

(१५) रथाङ्ग दूत लक्ष्मीनारायण, प्रेस बनारस में मुद्रित।

इन सब अनुकरण काव्यों में जिनसेनाचार्य कृत पार्श्वाभ्युदय की रचना सबसे प्रथम की हुई है। उसमें मेघदूत का एक या कहीं दो चरण लेके उसके आधार पर शेष चरणों की रचना करके पार्श्वनाथ का चरित्र गुम्फित किया गया है। प्रो० के. बी. पाठक महाशय ने, इसमें श्लोकों का जो क्रम है, वही

क्रम मेघदूत के श्लोकोंका विश्वसनीय माना है। उन्होंने अपनी सन् १८९४ में निकाली हुई मेघदूत की आवृत्ति की भूमिका में लिखा है, कि उक्त जिनसेनाचार्य ने शक ७०५ में प्रथम, "जैन हरिवंश" लिखा था और आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में पार्श्वाभ्युदय। राष्ट्रकूटका प्रथम अमोघवर्ष राजा ई० सन् ७३५ में सिंहासनारूढ़ हुआ था, उस समय जिनसेनाचार्य उसके गुरु हुए थे, उसी समय उन्होंने पार्श्वाभ्युदय लिखा था। पार्श्वाभ्युदय में किस रीति से मेघदूत का ग्रंथन किया गया है, उसका उदाहरण दिखाने के लिए उसके कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं:—

श्रीमन्मूर्त्या मरकतमयस्तम्भलक्ष्मीं वहन्त्या
योगैकाग्र्यस्तिमिततरया तस्थिवांसन्निदध्यौ।
पार्श्वं दैत्यो नभसि विहरन् बद्धवैरेण दग्धः
कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात् प्रमत्तः ॥१॥

तन्माहात्म्यात् स्थितवति सति स्वे विमाने समानः
प्रेक्षांचक्रे भृकुटिविषमं लब्धसञ्ज्ञो विभागात्।
ज्यायान् भ्रातुर्वियुतपतिना प्राक्कलत्रेण योभू-
च्छापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः ॥२॥

× × × × × × ×

तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दु मौले—
रच्यं भर्तुस्त्रिभुवनगुरोरर्हतः सत्सपर्यैः।

शश्वत्सिद्धैरुपचितबलिं भक्तिनम्रः परीया-

पापापाये प्रथममुदितं कारणं भक्तिरेव ॥ ६५ ॥

× × × × × × ×

श्रीवीरसेनमुनिपादपयोजभृङ्गः

श्रीमानभूद्विनयसेनमुनिर्गरीयान् ।

तच्चोदितेन जिनसेनमुनीश्वरेण ।

काव्यं व्यधायि परिवेष्टितमेघदूतम् ॥

इत्यमोघवर्षपरमेश्वरपरमगुरु श्री जिनसेनाचार्य विरचिते मेघदूतवेष्टिते पार्श्वाभ्युदये भगवत्कैवल्यवर्णनं नाम चतुर्थस्सर्गः ।

इसको जिनसेनाचार्यने मिथ्याभिमान से मेघदूत से उत्कृष्ट कथन किया है। किन्तु इसकी क्लिष्टता युक्त नीरस रचना कहां? और मेघदूत की मधुर-कोमल और भाव-गर्भित पदावली कहां?

मेघदूत का दूसरा अनुकरण साङ्गणके पुत्र विक्रम कवि रचित 'नेमिदूत' है। मेघदूत के प्रत्येक श्लोक का चौथा पाद लेके शेष तीन पादोंकी रचना कवि ने स्वयं करके इसको लिखा है। उसके भी कुछ श्लोक पाठकों के मनोरञ्जनार्थ उद्धृत किये जाते हैं:—

'प्राणित्राणप्रवणहृदयो बन्धुवर्गं समग्रम्।
हित्वा भोगान् सहपरिजनैरुग्रसेनात्मजां च॥
श्रीमान्नेमिर्विषयविमुखो मोक्षकामश्चकार
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु॥ १॥

सा तत्रोच्चैः शिखरिणि समासीनमेनं मुनीशम्
नासान्यस्तानिमिषनयनं ध्याननिर्धूतदोषम्।
योगासक्तं सजलजलदश्यामलं राजपुत्री
वप्रक्रीडापरिणतगजं प्रेक्षणीयं ददर्श॥ २॥

मेघदूत के उपर्युक्त अनुकरण-काव्यों में एक हंस-सन्देश नामक श्रीमान् वेङ्कटनाथार्य का बनाया हुआ है। इस काव्य की अभिनव भट्ट बाण कृष्णमाचार्य ने मेघ-सन्देश की भूमिका में बहुत प्रशंसा की है।

संस्कृत के अतिरिक्त अन्य भाषाओं में भी इस मेघदूत के अनुकरण काव्य रचना किये गये हैं। केवल अनुकरण ही नहीं इसके अनुवाद भी बहुतसी भाषाओं में हुए हैं। यूरोपीय भाषाओं के भाषान्तरों के विषय में ऊपर दिग्दर्शन कराया जा चुका है। तिब्बत की भाषा का अनुवाद भी इसका तांजोर के भण्डार में है, जिसके आधार से डा० बेख-Beckh ने जर्मन भाषा में अनुवाद करके उसकी एक आवृत्ति (ई० सन् १९०७ में) बर्लिन में प्रकट की है। मि० गुणतिलक ने सिंहली भाषा में भी इसके एक भाषान्तर का पता लगा कर उसकी एक आ-

वृत्ति (सन् १८९३ में) कोलम्बो में प्रकाश की है । इससे यह सिद्ध होता है, कि पूर्वकाल में इसकी प्रसिद्धि तिब्बत से लङ्काद्वीप तक थी। इसके सिवा बङ्गाली, महाराष्ट्री, गुजराती, हिन्दी सभी भाषाओं में इसके अनुवाद हुए और हो रहे हैं।

मेघदूत के हिन्दी अनुवाद

हमारी हिन्दी भाषा में भी इसके कुछ अनुवाद हुए हैं। उनमें सब से पहिला श्रीमान् राजा लक्ष्मणसिंह का किया हुआ ब्रजभाषानुवाद है। यह कालक्रम से ही केवल नहीं किन्तु काव्य-माधुर्य में भी प्रथम श्रेणी है। उसमें केवल मूल का भाव यथावत् लाने में ही अनुवाद-कर्त्ता कृतकार्य नहीं हुए, किन्तु सरसता में भी। उक्त राजा साहिब के अनुवाद से महाकवि कालिदास की सुधारस-भरी देव-वाणी का आस्वादन, केवल हिन्दी जाननेवाले काव्य-रसिक भी प्राप्त कर सकते हैं।

दूसरा अनुवाद हिन्दी-ब्रजभाषा में कानपुर के प्रसिद्ध कवि स्वर्गीय श्रीयुत राय देवीप्रसाद पूर्ण महाशय का है। इसकी भी प्रशंसा हिन्दी के प्रसिद्ध लेखक और साहित्यानुभवी विद्वान् करते हैं, वस्तुतः प्रशंसनीय है।

तीसरा-अनुवाद ब्रजभाषा ही में श्रीयुत लाला सीताराम बी. ए. डिप्टी कलक्टर युक्तप्रान्त निवासी का है। इसकी आलोचना, हिन्दी-कालिदास की समालोचना में जो श्रीयुत पण्डित महावीरप्रसाद द्विवेदीजी ने लिखी है, उससे मालूम

होता है कि लाला साहिब जिस प्रकार कालिदास के रघुवंशादि काव्यों के अनुवाद में कृतकार्य नहीं हुए, उसी प्रकार मेघदूत के भाषान्तर में भी साहित्य मार्मिकों की दृष्टि में आदरास्पद नहीं हुए।

चौथा—हिन्दी की खड़ीबोली-बोलचाल की भाषा में हिन्दी के सुलेखक पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयीजी का किया हुआ समश्लोकी अनुवाद है। वाजपेयीजी का काव्य रचना के द्वार प्रवेश ही में यह प्रथमारम्भ—जैसा कि उन्होंने कथन किया है—प्रशंसनीय है।

इनके सिवा मेघदूत का और कोई हिन्दी अनुवाद अब तक कर्णगोचर नहीं हुआ है। उपर्युक्त सभी भाषाओं के टीका और अनुवाद करनेवाले विद्वानों में प्रत्येक ने कालिदास की वाणी का रसास्वादन कराने के लिये यथाशक्ति प्रयास किया है। भिन्न भिन्न लेखकों की वाणी में भिन्न भिन्न लेखन प्रणाली का चातुर्य रहता है। इस महाकवि की वाणी के गुणानुवाद करने में प्रत्येक विद्वान् का "उन्नताश्रयमाहात्म्यख्यापाख्याति लाल सै·"। * के अनुसार अपनी वाणी का साफल्य और गौरव मानना स्वाभाविक है, एतावता ऐसे अक्षय्य सुधा रस पूर्ण कालिदास के काव्य वारिधि की जितनी टीका और जितने अनुवाद हों उतनेही थोड़े हैं। यही कारण लक्ष्य में रखकर

* देखो वल्लभदेव की टीका का प्रारंभ।

हिन्दी के साहित्य प्रेमी पाठकों के मनोरञ्जनार्थ इस तुच्छ लेखक ने भी यथाशक्ति प्रयत्न किया है यदि उनको यह रुचिकर हुआ तो वह अपना श्रम सफल मानेगा।

कालिदास के आसमुद्र प्रशंसित और सर्वगुण सम्पन्न प्रौढ़ भावगर्भित इस अनुपम काव्य का हिन्दी की बोल चाल की भाषा में समश्लोकी वृत्त में यथार्थ छाया लाना वस्तुतः कैसा महान् दुष्कर कार्य है ?

इस अनुवाद और टीका के सम्बन्ध में विनीत निवेदन।

यह बात विद्वानों से अविदित नहीं है। उक्त कवि-शेखर की काव्य शक्ति में यह विचित्रता है, कि उसमें भाषा, भाव और रस परस्पर में एक दूसरे के पोषक हैं। अनुवाद में उन गुणों का बनाये रखना दुःसाध्य ही नहीं किन्तु सर्वथा असाध्य-कार्य है। तथापि सचमुच यह कार्य, संस्कृत साहित्य के निरन्तर परिशीलन करने वाले प्रतिभा-शाली विद्वान् द्वारा होने योग्य है। इस अल्पज्ञ द्वारा इस कार्य का साहस करना निस्सन्देह अनधिकार चर्चा है। बात यह है कि प्रथम तो इस कार्य के लिए जिन सामग्रियों की आवश्यकता है, उनका सर्वथा अभाव है, पुनः यह कार्य प्रसन्न और स्वस्थ-चित्त द्वारा सम्यक् सम्पादन हो सकता है, सो भी अभाग्यवश कुछ समय से न चित्त को प्रसन्नता ही लभ्य है और न स्वस्थता। प्रत्युतः उद्विग्न और व्यग्र-चित्त को इस कार्य में योजन करके उक्त दोनों वस्तु-प्रसन्नता और

स्वस्थता-प्राप्त करने की चेष्टा की गई है। तथापि यथासाध्य प्रयत्नसे मूल के शब्दार्थ को समद्धृत और गद्यभाषान्तर में जहां तक हो सका बिगड़ने नहीं दिया है। गद्य भाषान्तर कुछ स्थूल अक्षरों में रक्खा गया है, इससे मेघदूत की शृङ्खला-बद्ध आख्यायिका पढ़ने और समझने में सुभीता होगा, इसीलिये गद्यार्थ में शब्दार्थ की अपेक्षा-भावार्थ पर अधिक ध्यान रक्खा गया है। तथैव मूल के अन्तर्निहित गूढ़-भाव, व्यङ्गयार्थ और प्रसङ्गोत्थित देश, पर्वत, नदी, स्थान आदि भू-गौलिक तथा ऐतिहासिक वर्णन के विवेचनीय विषय को यथामति विशेष स्पष्ट करने के लिए टीका में समझाने की चेष्टा की गई है। अलङ्कारों के विषय में भी सङ्क्षिप्त विचार प्रकट किया गया है।

इसके सिवा मेघदूत में वर्णित भावों का अन्य काव्यों में अनुकरण वा सादृश्य है, उसका भी कुछ दिग्‌दर्शन अवतरण रूप से किया गया है। यह कार्य समय और विस्तार की अनुकूलता के अनुसार ही सम्पादन किया गया है, आशा है शायद यह पद्धति, साहित्य-मार्मिकों को रुचिकर हो।

मेघदूत के पाठ-क्रम में प्रायः बहुत भेद देखा जाता है। इस पुस्तक में मूल के पाठ तथा श्लोकों का क्रम प्रायः श्री युत R. G. नन्दार्गीकर द्वारा प्रकाशित मल्लिनाथ की टीका की आवृत्ति के अनुसार रक्खा गया है। क्योंकि उन्होंने बहुत-

सी हस्त लिखित और मुद्रित पुस्तकों को देखकर सारासार का विवेचन करके मेघदूत का सम्पादन किया है। कहीं कहीं, कारण विशेष से यह क्रम छोड़ा भी गया है, जिसका कारण टीका या टिप्पणी में सूचन कर दिया है। इसके अतिरिक्त मूल के जिन जिन पदों में प्रसिद्ध अन्य टीकाकार और प्रकाशकर्ताओं के पाठ से भेद है, यह दिखाने के लिए मूल के उन पदों पर अङ्कों के चिन्ह देके उनकी पाद टिप्पणी में टीकाकार व प्रकाशकर्ताओं के नाम के प्रथमाक्षर के सङ्केत चिन्ह सहित पाठ भेद लिख दिया है। निम्न-लिखित टीकाकार और प्रकाशकर्ताओं का पाठ भेद दिखाया गया हैः—

व—वल्लभदेव।,　　　ह—हरगोविंद।
विद्यु—विद्युल्लता टीका　　क—कल्याणमल्ल।
महि—महिमसिंहगणी।　नं—R. G. नन्दार्गीकर
सु—सुमतिविजय।　　ई—ईश्वरचन्द्र विद्यासागर
सा—सारोद्धारिणी टीका। प्रा—प्राणनाथ काश्मीरी
भ—भरत।
स—सनातन।
रा—रामनाथ।

अब, केवल निम्नलिखित श्लोक के उल्लेख पूर्वक इस विषय को समाप्त किया जाता हैः—

"बोद्धारो मत्सरग्रस्ताः प्रभवः स्मयदूषिताः।
अज्ञानोपहताश्चान्ये जीर्णमङ्गे सुभाषितम्" ॥

इसमें महानुभाव भर्तृहरि ने कहा है, कि विद्वद्गण मत्सरता ग्रसित हैं, राजा लोग वा धनाढ्य गण अभिमान रूपी दोष से दूषित हो रहे हैं, और तदितर जन, अज्ञानान्धकार में निमग्न, इस कारण से सुभाषित मधुर काव्य, काव्य कर्ताओं के अङ्ग ही में जीर्ण विशीर्ण हो रहा है।

ये वाक्य उस-समय के हैं, जब भारत वर्ष में साहित्य की पूर्ण उन्नत दशा थी। इससे ज्ञात होता है कि उस समय भी ग्रंथकर्ताओं को अपने परिश्रम की वाञ्छित-सफलता लब्ध होने में अवश्य कठिनता थी। इस समय तो जैसी कुछ अवस्था है सो प्रत्यक्ष ही है। अतएव विनीत भाव से निवेदन है, कि यह छोटीसी रचना न तो तादृश मत्सर ग्रसित विद्वज्जनों की सेवा में समर्पित है। और न यह उन साहित्य रसानभिज्ञ-केवल द्रविण मदिरा घूर्णित दृश महोदयों को प्रसन्न करने के लिए है। और न उन विचारे हत बुद्धि अ रसिक जनों के लिए ही, जिनकी नीरसता पर घृणा करके विधाता से प्रार्थना करने की यह आवश्यकता हुई कि:—

'लिख यनेष्वटनं रिपुसङ्गमे लिख शिरस्यति शस्त्रनिपातनं । अरसिकेषु कवित्वनिवेदन शिरसि मालिख ! मालिख !! मालिख' !!!

किन्तु साहित्योद्यान का यह एक छोटा सा पुष्प-स्तवक, केवल साहित्य-मार्मिक सज्जनों के कृपा-कटाक्ष मात्र का अभिलाषी है। और उत्कण्ठित है, सहृदय समालोचक महोदयों

के दृक्-भाजन होने का भी, क्योंकि ग्रंथ के गुणावगुण प्रकट होने का एक मात्र साधन समालोचना ही है। उसके बिना न तो लोक ही में किसी ग्रंथ के गुण अवगुण प्रकाश हो सकते हैं, और न उसके कर्ता ही को अपने परिश्रम का साफल्य वा व्यर्थत्व जान पड़ता है। इसी से महाकवि कालिदास ने कहा हैः—

'तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा" ॥
(रघुवंश १-१०)

यदि सत्य समालोचकों द्वारा ग्रंथ की अनुपयोगिता प्रकाश की जाय तो भी लाभ ही की सम्भावना है, क्योंकि उस से निर्माता को आगे के लिए शिक्षा प्राप्त होती है महज्जनों की कठोरता भी सन्मार्ग-प्रर्वतक होती है, कहा हैः—

'कालागुरोः कठिनतापि नितान्तरम्या'।
(पं० राज जगन्नाथ रस गङ्गाधर)

और यदि समालोचकों द्वारा ग्रंथ प्रशंसनीय माना जाय तब तो वक्तव्य ही क्या है, कहा ही है—'क्लेशो फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते'।

अवश्य ही इसमें मूल के शब्दार्थ और लेख-प्रणाली में बहुधा दोष होना संभव है, क्योंकि कहां तो कालिदास जैसे महाकवि की सु-संस्कृत माधुर्य-रसवती सरस्वती? और कहां

इस क्षुद्रातिक्षुद्र लेखक की अल्प बुद्धि? जब कि उच्चश्रेणी के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वान् टीकाकारों ने भी यही कहा है, कि—

'कालिदासवच: कुत्र व्याख्यातारो वयं क च।
तदिदं मन्ददीपेन राजवेश्मप्रवेशनम्" ॥
(वल्लभदेव-टीकाकार)

'कालिदासगिरं सारं कालिदास: सरस्वती।
चतुर्मुखोऽथवा साक्षाद्विदुर्नान्येतु मादृशा ॥
(मल्लिनाथ रघुवंश की टीका।)

तब, इस विषय में मेरे जैसे तुच्छों की तो यही दशा है कि—

'जेहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं। कहहु तूल किहि लेखे माहीं'।

किन्तु यह जान कर भी इस कार्य में हस्तक्षेप का साहस, केवल अविचार है। अथवा यह समझिये कि उक्त कवि के काव्य मधु-मोहित चित्त वृत्ति की उन्मत्तता मात्र है। एतदर्थ इस की सभी प्रकार की त्रुटियों के विषय में सज्जनों से क्षमा प्रार्थना की जाती है।

निवेदक—

विनीत—कन्हयालाल पोद्दार।

महाकवि कालिदास

कालिदास किस समय और किस देश में हुए, इत्यादि इनका ऐतिहासिक वृत्त जानने की अति उत्कट उत्कण्ठा सभी देश और भाषा के विद्वानों को हो रही है। पर खेद है कि अद्यापि यथेष्ट सफलता लब्ध नहीं हो सकी है, यद्यपि इस विषय में अनेक विद्वानों द्वारा अत्यन्त गवेषणापूर्वक ग्रंथ और निबंध प्रकाश किये जा रहे हैं। कुछ दिनों से तो साहित्य-समुद्र में इस बात का तूफान सा आ रहा है। या यों कहिये कि लेख, और मुद्राओं के दीपकों से कालिदास को प्रकाश में लाने के लिये अनेक प्रयत्न हो रहे हैं। प्रबन्धों के कल्पना जाल समुदाय से उनको पकड़ने की चेष्टायें की जाती हैं। उनके समीप पहुंचने के लिये काल गणना की सोपान राजि-निसेनी लगाई जा रही है। गवेषणा के तीव्र-साधनों से आकाश पाताल तक उनको खोजने की युक्तियां की जा रही है। तथापि किसी को समीप और किसी को दूर, किसी को प्राचीन और किसी को नवीन, कभी दृश्य और कभी अदृश्य, कभी एक और कभी अनेक प्रतीत होने वाले ऐन्द्रजालिक-मदारी के समान उनका अब तक किसी को भी ठीक पता नहीं लगा है। निष्कर्ष यह

है कि उनका समय आदि स्थिर करने के विषय में सभी मोहित हो रहे हैं। इसका कारण स्पष्ट है कि इनके समय निरूपण करने के लिये न तो इनके प्रणीत ग्रंथों से स्पष्टतया आन्तर्य प्रमाण ही मिलता है और न बाह्य प्रमाण। इस अभाव से पुरातत्व-प्रेमीजनों का चित्त बड़ा उद्विग्न हो रहा है।

किन्तु कालिदास के समय निरूपण विषयिक आन्दोलन को सर्वथा निष्फलो भूत भी नहीं कहा जा सकता है। इस विषय का अन्वेषण बड़े बड़े उच्चश्रेणी के पुरातत्वविद् विद्वानों द्वारा हो रहा है। उन्होंने अपने अपने विचार, बड़ी गवेषणा-पूर्वक प्रकाश किये हैं,उनके द्वारा केवल बहुत से प्राचीन सम्राट् और अन्य महाकवि तथा विद्वानों के समय निर्णय पर ही प्रकाश नहीं गिर रहा है, किन्तु कालिदास का समय भी अब निरा अन्धकारावृत नहीं रह गया है, परन्तु उसके भी कुछ समीपवर्ती प्रकाश जा पहुंचा है, यदि कुछ काल तक इसी प्रकार इस विषय की गवेषणा, विद्वद् समाज में प्रचलित रही तो संभव है कि कदाचित् इस कार्य में और भी सफलता प्राप्त हो। अस्तु,

कालिदास का समय स्थिर करने वाले विद्वान प्रायः दो पक्ष में विभक्त देखे जाते हैं। एक पक्ष, इनको ईसवी सन् के पीछे तीसरी शताब्दी से छठी शताब्दी तक स्थापित करता है, और दूसरा पक्ष ईसा के पूर्व पहिली या दूसरी शताब्दी में।

दूसरे पक्ष का सिद्धान्त बहुमान्य और अधिक प्रमाण मूलक होने से प्रतिदिन उसकी पुष्टता हो रही है। सम्प्रति भास के नाटक प्रकाश होने से इस पक्ष का सिद्धान्त और भी विश्वसनीय प्रतीत होने लगा है।

यहां इन दोनों पक्षों के विचार विस्तार भय से पृथक् पृथक् उद्धत न करके, केवल उन प्रबन्धों को देखने से तथैव महाकवि भास के नाटकों पर से जो कुछ विचार स्फुरण होते हैं, वही विनीत भाव से विद्वानों के समक्ष प्रदर्शित करने की आज्ञा ली जाती है। यद्यपि ऐसे जटिल विषय में लेखनी उठाना उच्चश्रेणी के परमानुभवी लेखकों को ही शोभा-प्रद हो सकता है। तथापि इस अल्पज्ञ के विचार में यह उचित प्रतीत होता है कि किसी भी लेख या ग्रंथ को देख कर उस पर से जो कुछ विचार उत्पन्न हों, उनको विद्वानों के समक्ष प्रकाश करने मात्र का अधिकार तो प्रत्येक मनुष्य को होना आवश्यक है। फिर उसके सारासार का निर्णय केवल विद्वानों के समीक्षण पर निर्भर होना ही चाहिये। बस इसी विचार से और महाकवि कालिदास को—

'मणौ वज्रसमुत्कीर्णे सूत्रस्येवास्ति मे गतिः'।

इस उक्ति के अनुसार अर्थात् हीरे के द्वारा महा-कठिन मणियों में छेद किये जाने पर उनके भीतर बहुत पतला सूत का धागा भी प्रवेश हो सकता है। इसी सहारे पर पठित-

समाज द्वारा पूर्वलिखित निबन्धों के आधार पर यह साहस किया जाता है। आशा है कि इस धृष्टता पर विद्वद्गण क्षमा-प्रदान करेंगे।

इस विषय में आगे कुछ लिखने के पहिले महाकवि भास के समय पर विचार प्रदर्शित करना उपयोगी समझ कर उसका उल्लेख किया जाता है। क्योंकि कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र—नाटक में भास का नाम उल्लेख किया है, केवल यही नहीं किन्तु भास के लिखे हुए नाटकों के आधार पर कालिदास के विषय में और भी बहुत सी बातों की सहायता मिलती है।

—:o:—

महाकवि भास।

भास नामक पूर्वकाल में एक बहुत प्रसिद्ध महाकवि हो गये हैं। संस्कृत भाषा की नाटक-रचना में उनका मार्ग-दर्शक कवि होना सिद्ध होता है। यद्यपि वेबर आदि कुछ यूरोपियन विद्वानों का मत है कि भारतवर्ष में नाट्य-कला का अनुकरण ग्रीक-नाटकों के आधार से हुआ है। इस कल्पना की पुष्टि में वे युक्ति देते हैं कि "ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी में भारतवर्ष का ग्रीस के साथ बहुत सम्बन्ध था। उस समय सेल्युकस का अपनी पुत्री एथिना को महाराज चन्द्रगुप्त को देना, टीलोमी-दूसरे का पाटलिपुत्र के राजाओं के साथ

सद्व्यवहार रखना, दोनों देशों के दूतों का एक का दूसरे के राज्य में परस्पर आना जाना, और ग्रीक साहित्य का भारतीय ब्राह्मण वर्ग द्वारा आदर युक्त देखा जाना, इतिहास प्रसिद्ध है, जैसा कि मेकडोनलस् संस्कृत लीटरेचर पुस्तक पेज ४१४-१५ में कहा गया है। इसके सिवा शिलालेखों में भी यवन अथवा ग्रीक का नाम मिलता है। इत्यादि कारणों से जाना जाता है, कि उस समय बाक्ट्रिया, पञ्जाब और गुजरात आदि के स्थानों में ग्रीक नाटकों के प्रयोग देखकर उनके आधार से भारतवर्ष के कवियों ने उनका अनुकरण किया होगा"। किन्तु इस कल्पना जाल पर विचार करने से सहज ही यह भ्रमात्मक ज्ञात होता है। मि० मेकडोलन तथा कोलब्रुक आदि यूरोपीय विद्वानों का मत ही इससे विरुद्ध है, वे इस प्रकार के साहित्य का भारतवर्ष में ही स्वतंत्रता से उद्भव और अभिवर्धन होना मानते है और उनका ऐसा मानना सर्वथा यथार्थ भी है। कालिदास के विक्रमोर्वशीय-नाटक में भगवान् भरत मुनि द्वारा इन्द्र की सभा में 'लक्ष्मी स्वयम्वर' का अभिनय दिखाने का उल्लेख है, इसके सिवा यह बात निर्विवाद है, कि महा महिम भरतमुनि जैसे नाट्याचार्य, ग्रीस साहित्यकारों की अपेक्षा बहुत प्राचीन है। पुनः भामह जैसे प्राचीन साहित्याचार्यों के ग्रथों में भी उनके पूर्ववर्ती कवि और काव्यों का उल्लेख देखा जाता है, एतावता इस नाट्यकला का उद्भव और

विकास, स्वतंत्रता से ही हमारे देश में होना निश्चित होता है। सुतरां भास का नाटक लेखन में आदर्श कवि मानना अतिशयोक्ति नहीं कही जा सक्ती।

अलङ्कार शास्त्र के कर्त्ता राजशेखर कवि ने 'सूक्तिमुक्तावली' में भास और उसके 'स्वप्नवासवदत्ता' नाटक की प्रशस्ति में लिखा है—

'भासनाटकचक्रेऽपि छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः'॥

अर्थात् भास के स्वप्नवासवदत्ता नाटक का परीक्षा के समय अग्नि भी भस्म न कर सका था। कादम्बरी-कार बाणभट्ट ने भी भास के काव्य रस से आकृष्ट चित्त होके लिखा हैः—

'सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशोलेभे भासो देवकुलैरिव'॥

(हर्ष चरित)

नाटकों की रचना से अपूर्व यशराशि प्राप्त करनेवाले भास का और उसके नाटकों का कुछ ही समय पहिले केवल नाममात्र सुना जाता था—ग्रन्थ उपलब्ध न होने से उसके नाटकों का विनष्ट होना अनुमान किया जाता था, किन्तु हर्ष का विषय है, कि भास के एक नहीं अनेक नाटक अब ट्रावनकोर के महाराज के प्रशंसनीय साहित्योत्साह से और उस राज्य के साहित्य कार्याध्यक्ष श्रीयुत गणपति शास्त्री जी के तल्लग्न

उद्योग से उपलब्ध होके यहां प्रकाश हो गये हैं। इस कवि के अब तक जितने नाटक प्रकाशित हुए हैं उनके नाम इस प्रकार हैं:—

१ स्वप्न वासवदत्तम्।	८ दूत घटोत्कचम्।
२ प्रतिज्ञा यौगन्धरायणम्।	९ कर्णभारम्।
३ पञ्चरात्रम्।	१० उरुभङ्गम्।
४ अविमारकम्।	११ अभिषेक नाटकम्।
५ बाल चरितम्।	१२ चारुदत्तम्।
६ मध्यमव्यायोगम्।	१३ प्रतिमा नाटकम्।
७ दूत वाक्यम्	

यद्यपि उपर्युक्त नाटकों में ग्रंथ निर्माता कवि का नाम किसी भी नाटक में लिखा हुआ नहीं है, तथापि इन सभी नाटकों की भाषा, काव्य रचना, शब्द प्रयोग और श्लोकों का परस्पर ऐक्य आदि आन्तर्य और बाह्य प्रमाणों द्वारा उक्त प्रकाशकर्त्ता महाशय ने स्वप्नवासवदत्ता की विद्वत्ता पूर्ण भूमिका में यह स्पष्ट सिद्ध करके दिखा दिया है, कि उपर्युक्त सभी नाटक महाकवि भास के हैं। भास के समय निरूपण विषय में भी स्वप्नवासवदत्ता और प्रतिमा नाटक की भूमिका में बहुत विस्तरित विवेचन किया गया है।

भास का समय।

यह तो निर्विवाद ही है, कि भास, कालिदास के पुरोयायी थे, जैसा कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है:— 'प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धान् अतिक्रम्य वर्त्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः ?'

इस से यह भी सिद्ध हुआ कि कालिदास के समय में भास के नाटक जन-समाज में बहुत समादृत थे। अब यह देखना चाहिये कि कालिदास से पूर्व भास का किस समय में होना संभव प्रतीत होता है ? श्रीयुत गणपति शास्त्री जी ने उपर्युक्त स्वप्नवासवदत्ता की प्रस्तावना में बहुत से प्रमाणों द्वारा भास को सूत्रकार भगवान् पाणिनि तथा भामह के पूर्ववर्ती सिद्ध किया है। किन्तु उक्त शास्त्री जी का लेख अत्यन्त गवेषणा पूर्वक लिखा हुआ विद्वत्तापूर्ण होने पर भी भास को भगवान् पाणिनि के प्रथम, कल्पना करने में भास के नाटकों का वर्णन ही प्रतिकूलता द्योतक है, देखिए:—

जिस उदयन और वासवदत्ता को नायक और नायिका कल्पना करके भास ने 'स्वप्नवासवदत्ता नाटक' लिखा है, उस उदयन का परिचय कवि ने कई प्रकार से दिया है। 'प्रतिज्ञा यौगन्धरायण' में उदयन पकड़ा गया तब उसके सम्बन्ध में अनुसन्धान करता हुआ राजा प्रद्योत पूछता है:—

कञ्चुकीयः-तत्र भवता अमात्येन गृहीतो वत्सराजः ।
राजा-उदयनः, शतानीकस्यपुत्रः सहस्रानीकस्य नप्ता ?
कौशाम्बीशः ?

इससे विदित होता है, कि भास ने जिस उदयन का वर्णन किया है, वह कुरुवंशीय शतानीक का पुत्र है । भास ने लिखा है, कि उदयन राजा ने मगधराज-दर्शक की भगिनी पद्मावती के साथ भी विवाह किया था । मगध-राज वंशावली देखने से जाना जाता है, कि मगध में शिशुनाग वंश के राजाओं में दर्शक राजा अजातशत्रु का पुत्र ईसा के ४७५ वर्ष पूर्व राज्य सिंहासनारूढ हुआ था* । कविका कथन किया हुआ-उदयन का साला-दर्शक यही होना संभव है । भास का उदयन के समकालीन और उसके आश्रित होना संभव नहीं, क्योंकि ऐसा होता तो स्वप्नवासवदत्ता आदि नाटको में उसके श्वशुर चण्डमहासेन और मगधाधीशों को नाटक के पात्र कल्पना करके किसी की उन्नति और किसी की अवनति नाटक में प्रदर्शित करना कदापि संभव नहीं हो सकता । पुनः भास ने जो परचक्र भय अपने नाटकों में सूचन किया है तादृश भय उदयन वा उसके समकालीन राजाओं को उपस्थित नहीं हुआ था । फलतः भास कवि का उस समय-ईसा के ४७५ वर्ष पूर्व

* देखो विनसेंट स्मिथ साहब की हिस्टरी पे० ३५-४४ और मी० दत्तस् हिस्टरी ओफ इन्डिया मौर्य डिनेस्टी ।

होना संभव नहीं, किन्तु उस समय के पीछे होना, आगे लिखे हुए कारणों के आधार से सिद्ध होता है।

भास ने अपने नाटकों में महान् परचक्र के भय-सूचक भरत-वाक्यों का उल्लेख कई प्रकार से किया है। अर्थात् किसी में परचक्र-भय उपस्थित, किसी में तात्कालिक राजा का उस भय के सन्मुख होना, किसी में उसका भय विनाश, किसी में राज्यलक्ष्मी युक्त विस्तरित पृथ्वी के पालन करने का आशीर्वाद, इत्यादि रूप से सूचन किया है। उक्त नाटकों में अन्य सूक्ष्म सूक्ष्म बातों की अपेक्षा यह बात विशेष लक्ष्य देने योग्य है। देखिए! 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' और 'अविमारक' में परचक्र की शान्ति की प्रार्थना सूचक इस प्रकार वाक्य हैः—

'भवन्त्वरजसो गावः परचक्रं प्रशाम्यतु।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः'॥

'उरुभङ्ग' केः—

'यातोद्य सौप्तिकवधोद्यतबाणपाणिः
गां पातु नो नरपतिः शमतारिपक्षः'।

कर्णभार मेंः—

'सर्वत्रसम्पदः सन्तु नश्यन्तु विपदः सदा।
राजा राजगुणोपेतः भूमिरेकः प्रशास्तु नः'॥

पुनः निम्नलिखित नाटकों में परचक्र की शान्ति होने पर सम्पूर्ण राज्य में प्रसन्नता फैली हो, इस प्रकार के भरत वाक्य हैंः—

'हन्त सर्वे, प्रसन्नाःस्म प्रवृद्धकुलसंग्रहाः।
इमामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशास्तु नः' ॥
(पञ्चरात्र)

'यथा नदीनां प्रभवः समुद्रो
यथाहुतीनां प्रभवो हुताशः।
यथेन्द्रियाणां प्रभवं मनोपि
तथा प्रभुर्नो भगवानुपेन्द्रः' ॥
(मध्यमव्यायोग)

फिर शान्ति के समय में, विस्तरित सीमा दिखा के अपने राजा को एकछत्रात्मक राज्य का आशीर्वाद दिया गया है:—

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलाम्।
महीमेकातपत्राङ्कां राजसिंहः प्रशास्तुनः' ॥
(स्व० वासवदत्ता और बालचरित)

इस प्रकार भास ने परचक्र के विषय में जैसे जैसे अपने आश्रित राजा के राज्य की वस्तु-स्थिति में परिवर्त्तन होता चला गया उसी प्रकार अपने नाटकों के भरत वाक्यों द्वारा उसका सूचन किया जान पडता है।

भास का उल्लिखित परचक्र भय सारे देश को उत्पीडन करने वाले किसी बड़े उत्पात रूप विदेशीय सम्राट् द्वारा भारत पर आक्रमण किये जाने के उद्देश्य से लिखा हुआ मालूम होता है, नकि देश के भीतर के राजाओं के परस्पर विग्रह के उद्देश्य से। और जिस राजा को इस प्रकार के भय

का सामना करना पडा वह भी कोई सामान्य राजा नहीं, किन्तु भास जिस की राजसिंह, राजगुणोपेत, और उपेन्द्र आदि शब्दों से प्रशंसा करता है, वह भास का आश्रयदाता निस्सन्देह कोई चक्रवर्ती सम्राट् होना चाहिये। इतिहास से पता चलता है, कि उदयन के समय से कालिदास के पूर्व काल तक अर्थात् ईसा के पूर्व ४७५ वर्ष से ईसा के पूर्व प्रथम शतक तक ऐसे चार ही मुख्य चक्रवर्ती सम्राट् हुए हैं.—

(१) नन्दवंश का राजा महापद्मनंद।
(२) महाराजा चन्द्रगुप्त।
(३) महाराजा अशोक।
(४) पुष्पमित्र।

अब देखना यही है, कि इन चार महान् राजाओं में किस राजा के साथ भास का सम्बन्ध संभव हो सकता है?

---

(१) सम्राट् महा पद्मनन्द।

यह राजा बडा बलवान् ईसा के ३२० वर्ष पूर्व राज्यसिंहासन पर था। यह नाविक-पुत्र था अतएव नीच कुलोत्पन्न होने से प्रजा उस पर अप्रसन्न थी, और यह अतिव्ययी तथा बडा लुब्धक भी था। चन्द्रगुप्त उस समय अल्प वयस्क और नन्द के साथ शत्रुता होने के कारण देश के बाहर निकाला हुआ था। जिस समय भारत पर सिकन्दर ने आक्रमण किया

उस समय नंद, मगध-देश का राजा था। कहते हैं, कि उस-समय चन्द्रगुप्त ने सिकंदर से कहा था कि यदि आप पूर्व की तरफ आक्रमण करते तो मगध का राज्य आपके हस्तगत हो सकता था क्योंकि वहां के सम्राट् पर प्रजा की बहुत अप्रसन्नता है*। इससे सिद्ध होता है, कि सिकन्दर का आक्रमण मगध के राज्य तक नहीं हुआ अतएव इस—नन्दराजा पर परचक्र का भय उपस्थित नहीं हुआ। फिर यह भी है, कि प्रजा से तिरस्कृत, ऐसे लुब्धक और नीचकुलोत्पन्न राजा की भास जैसे आदर्श कवि द्वारा उपर्युक्त शब्दों में प्रशंसा किया जाना कदापि संभव नहीं हो सकता है।

—:o:—

(२) सम्राट् चन्द्रगुप्त।†

भारत के विजित राज्यों का प्रबन्ध करके लौटने के अनन्तर ईसाके ३२३ वर्ष पूर्व सिकंदर का देहान्त होनेपर फिर उसके आक्रमण का भय निर्मूल हो जाने के कारण प्रजा में विग्रह फैल गया, जिसका फल यह हुआ कि अलेकझांडर—सिकंदर की भारत में स्थापित की हुई ग्रीक-सत्ता लगभग

---

* देखो विनसेन्ट स्मीथ साहब की अर्ली हिस्टरी ओफ इन्डिया पत्र—३७-३६-११५।

† यह मौर्य-वंशीय चन्द्रगुप्त है। गुप्तवंशीय प्रथम चन्द्रगुप्त और द्वितीय चन्द्रगुप्त, इससे भिन्न हैं।

नष्ट हो गई। इस विग्रह का नेता तरुण वयस्क चन्द्रगुप्त ही था। उसने इस प्रसङ्ग को अपने अनुकूल समझ के शैन्य एकत्रित करके पञ्जाब में से ग्रीक प्रजा को सर्वथा निकाल दी और पुन. इसने अपने शत्रु महा पद्मनंद को पदभ्रष्ट करके मार डाला। इस कार्य में चन्द्रगुप्त को कौटिल्य चाणक्य की सहायता से सफलता प्राप्त हुई थी। मगध का राज्य हस्तगत होने पर चन्द्रगुप्त ने ३० सहस्र घोडेसवार ६ सहस्र हाथी ६ लाख पदाति और सहस्रों रथ युक्त शैन्य का स्वामी होकर चारोंओर विजय लाभ करके अपनी राज्य शक्ति और भी बढ़ाई। उस समय उसके राज्य की सीमा उत्तर में हिमालय, दक्षिण में विन्ध्याचल तक, पूर्व में बङ्गाल के समुद्र और पश्चिम में अरब के समुद्र तक हो गई थी। ईसा के पूर्व ३२१ वर्ष से ३०५ वर्ष तक उपद्रव शान्त हो जाने पर उसके राज्य की यह स्थिति थी*। महाकवि भास ने 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'बालचरित' में उपद्रव रहित राज्य स्थिति के वर्णन में अपने राजा की राज्य सीमा भी इसी प्रकार कथन की है —

'इमां सागरपर्यन्तां हिमवद्विन्ध्यकुण्डलां।
महीमेकातपत्राङ्का राजसिंहः प्रशास्तु न.'॥

यूरोपियन ऐतिहासिक जिसको Chandragupta the first historical paramount sovereign of Emperor of

* देखो विनसेंट स्मीथ साहब की हिस्टरी पत्र ११४–११६–१३६ और मक्डोनल्स हिस्टरी ओफ संस्कृत लीटरेचर पत्र ४१०।

India कहते हैं, उसको भास कवि 'राजसिंह' आदि विशेषणों से वर्णन कर तो क्या आश्चर्य है ? भास का सूचन की हुई चन्द्रगुप्त के राज्य की शान्तिमयी स्थिति १५ वर्ष तक स्थिर रही थी, इससे ऐसा अनुमान किया जा सकता है, कि 'स्वप्नवासवदत्ता' और 'बालचरित' यह दोनो नाटक इस शांति के समय में भासने लिखे हों।

इस प्रकार कुछ काल तक शान्ति रहने के पश्चात् अलेकझेंडर का प्रधान सेनापति सल्यूकस ने फिर भारत पर आक्रमण किया और चन्द्रगुप्त के साथ उसका घोर सग्राम हुआ, किन्तु परिणाम में महाराजा चन्द्रगुप्त को वह अपनी परम सुन्दरी सुता एथिना को अर्पण करके उसके साथ सधि करने को ही केवल वाध्य न हुआ किन्तु फिर भारत पर आक्रमण न करने की प्रतिज्ञा करने में भी। यह इतिहास ईसा के ३०३ वर्ष पूर्व का है *। उस समय चन्द्रगुप्त के राज्य की सीमा उत्तर में हिन्दुकुश तक और दक्षिण में वाक्ष्मिया तक विस्तरित होगई थी। अथवा यो कहना योग्य होगा कि यवन सम्राट् हजारहो प्रयत्न करने पर भी अपना राज्य एक छत्र अधिकृत करने में जहा तक समर्थ नही हुए थे, वहा तक भारत के एक महाराजा ने इस समय से लगभग २३०० वर्ष पूर्व अपनी विजय पताका उडाई थी इसी से यह अद्यापि

* देखो विनसेंट स्मीथ साहब की हीस्टरी पत्र ११७।

अनुपलब्ध महाविजयी सार्वभौम राजा की उपाधि के सर्वथा योग्य माना जाता है। एतावता भास ने अपने 'प्रतिज्ञा योगन्धरायण' और 'अविमारक' तथा 'अभिषेक' नाटकों में तीनों स्थलों पर पूर्वोक्त 'भवन्त्वरजसो गावः' । इत्यादि श्लोकों में अपने राजा और उसकी प्रजा पर परचक्र का उपद्रव शान्त होने का जो सूचन किया है, वह इस महाभय के उद्देश्य से किया हो ऐसा भी अनुमान करने का उपर्युक्त दृढकारण मिलता है। निष्कर्ष यह है, कि ऊपर की ऐतिहासिक घटनायें, भास के नाटकों में सूचित की हुई राज्य स्थिति के साथ तथा उसके विस्तार के साथ अधिकांश में मिलने से यह-भास कवि महाराजा चन्द्रगुप्त के समय में हुआ हो ऐसा अनुमान करना निर्मूल नहीं प्रतीत होता।

---

(३) महाराजा अशोक।

चन्द्रगुप्त के अनन्तर सार्वभौम राजा, उसका पौत्र -अशोक हुआ था, जिसका, राज्यसिंहासनारूढ होने का समय ईसा से २७१ वर्ष पूर्व माना जाता है। इसने चन्द्रगुप्त से लब्ध राज्य की बहुत वृद्धि की थी। जबकि चन्द्रगुप्त के समय में मगधराज की सीमा विन्ध्य तक निर्धारित थी, तब अशोक के समय में लगभग सम्पूर्ण दक्षिण का भाग उसके अधिकार में आगया था। एसिया खण्ड में भी उसकी

राज्य सीमा उत्तर पश्चिम में हिन्दू कुश पर्वत तक बढ गई थी। काबुल-बलूचिस्तान और स्वातवेली आदि पर भी उसी का आधिपत्य था। काश्मीर का सारा प्रदेश भी उसी के आधीन था। तात्पर्य यह है, कि चन्द्रगुप्त की अपेक्षा उसके राज्य की सरहद बहुत विस्तरित थी, अतएव भास की सूचित राज्य-सीमा के साथ उसकी एकता सर्वथा नहीं हो सकती।

महाराजा अशोक के राज्य काल में परचक्र का भय भी उपस्थित होने का इतिहास साक्ष्य नहीं देता। उसका राज्य केवल धार्मिक विषय के परिवर्त्तन से परिपूर्ण है। उसने स्वयं बौद्ध-धर्म का स्वीकार किया था और केवल अपने सम्पूर्ण विशाल राज्य ही में नहीं, किन्तु सारे एसिया खण्ड में इस धर्म को फैला दिया था। यद्यपि इस ने अपने बारहवें शिला लेख में अन्य मतावलम्बियों के साथ सहानुभूति प्रकट की है, तथापि कुछ लोग कहते हैं, कि बौद्ध-धर्म, स्वीकार कराने के लिये इसका प्रजा पर अत्यन्त क्रूरता करने का भी इतिहास में उल्लेख मिलता है। जो हो, किन्तु ब्राह्मण-धर्म का और बौद्ध-धर्म का परस्पर में मूल ही से विरोध चला आता है, अतएव भास जैसे परम वैष्णव कवि का उसके आश्रित होना कदापि संभव नहीं हो सकता। भास के नाटकों में भगवद् अवतारों के विषय में आन्तर्य भक्ति श्रद्धा-सूचक वर्णन किये गये हैं, देखिए:—

'शंखक्षीरवपुः पुरा कृतयुगे नाम्नातु नारायण-
स्त्रेतायां त्रिपदार्पितत्रिभुवनो विष्णुः सुवर्णप्रभः।
दूर्वाश्यामनिभः स रावणवधे रामो युगे द्वापरे
नित्यं योऽञ्जनसन्निभः कलियुगे वः पातु दामोदरः'॥

पतत्यसौ पुष्पमयी च वृष्टि-
र्नदन्ति तूर्याणि च देवतानाम्।
'द्रष्टुं हरिं वृष्णिकुले प्रसूत-'
मभ्यागतो नारद एषतूर्णम्॥

(बालचरित प्रथमाङ्क)

'यो गाधिपुत्रमखविघ्नकराभिहन्ता'
युद्धे विराधखरदूषणवीर्यहन्ता।
दर्पोद्यतोदग्रकबन्धकपीन्द्रहन्ता
पायात् स वो निशिचरेन्दुकलाभिहन्ता'।

(अभिषेक नाटक प्रथमाङ्क)

'शत्रुणां तरणेषु वः स भगवान् पातुप्लवः केशवः'।

(ऊरुभङ्ग प्रथमाङ्क)

इत्यादि वर्णनों से भास का परम आस्तिक होना स्पष्ट है। भास ने प्रायः अपने नाटकों में श्री रामायण और श्रीमद्भागवत आदि की कथानुसार श्री राम और श्री कृष्णावतार की लीलाओं का ही वर्णन किया है। यदि किसी प्रकार यह मान भी लिया जाय कि अशोक का अन्यधर्म के साथ प्रकट द्वेष न होने से भास का उनके साथ सम्बन्ध होना एक बार ही

असंभव नहीं, तथापि भास के नाटकों में बौद्धधर्मावलम्बियों के विषय में उपहास सूचक वर्णन भी मिलता है, 'अविमारक' नाटक के द्वितीय अङ्क में चन्द्रिका नाम की चेटी और विदूषक का सम्वाद देखिए:—

चन्द्रिके ! किमेतत्।

चन्द्रिका—आर्य कंचिद् ब्राह्मणमन्वेष।

विदूषकः—ब्राह्मणेन किं कार्यं।

चन्द्रिका—किमन्यत् भोजनार्थं निमंत्रयितुम्।

विदू—भवति अहं कः श्रमणकः ?

चन्द्रिका—त्वं खलु, अवेदिकः।

फिर चौथे अङ्क में देखिये:—

विदूषकः—किं नु खलु जीवती नग्नान्धश्रवणिका।

नलिनिका—आ दृष्टपूर्वो नगरापणालिन्देऽयं ब्राह्मणः।

विदू—आं भवति ! यज्ञोपवीतेन ब्राह्मणः चीवरेण। रक्तपटः यदि वस्त्रं अपनयामि श्रमणको भवामि।

(चतुर्थ अङ्क)

इन शब्दों का प्रयोग नाटक प्रसङ्ग में कुछ आवश्यक न था, भास ने केवल बौद्ध-धर्मानुयायियों के प्रति उपहास सूचन किया है। अतएव जो कवि, जिस राजा के आश्रित हो, उस कवि द्वारा उस राजा के धर्म की निन्दा या उपहास करना कदापि संभव नहीं हो सकता, सुतरां महाराजा अशोक के समय में भी भास का होना संभव नहीं प्रतीत होता है।

* महाराजा पुष्पमित्र

महाराजा अशोक की मृत्यु के पश्चात् मौर्यवंश के राजा निर्बल हो जाने पर परिणाम यह हुआ कि मौर्यवंश के अन्तिम वृहद्रथ राजा को मार कर उसके सेनापति शुङ्गवंशीय पुष्पमित्र ने मगध को अपने अधिकार में कर लिया। इसका राज्य काल ईसा के १८१ वर्ष पूर्व से १४८ वर्ष पूर्व तक इतिहास लेखकों ने स्थिर किया है।

अशोक के वंशज निर्बल होजाने से उस समय इस विशाल राज्य में से बहुत से देश स्वतंत्र हो गये थे। पुष्पमित्र सिंहासनारूढ़ हुआ तब पञ्जाब का प्रदेश उसके अधिकार में न था, केवल मध्य और बङ्गाल प्रदेश उसके राज्यान्तर्गत थे। उसके राज्य की सीमा दक्षिण में नर्मदा तक मानी जाती है, क्योंकि अग्निमित्र के साले वीरसेन को नर्मदातट के किले में सीमाप्रान्त की रक्षा के लिये नियुक्त किया गया था जैसा कि कालिदास ने 'मालविकाग्निमित्र' में लिखा है—मूल लेख प्राकृत में है, उसकी छाया 'काटयवेम' टीका में इस प्रकार है–

नकुलिका —अस्ति देव्या भ्राता वीरसेनो नाम। भर्त्रा नर्मदाकूले अन्तपालनदुर्गे स्थापित (प्र० अ०)

पुष्पमित्र के राज्य समय में मीनेनडर ने सिन्धुदेश और

*प्रचलित ग्रन्थों में पुष्यमित्र और पुष्पमित्र दोनों प्रकार के नाम देखे जाते हैं, उनमें से हमने 'पुष्पमित्र' का प्रयोग किया है।

सौराष्ट्र-काठियावाड़ स्वाधीन करके राजपूताने-चितोड़ के समीप तथा दक्षिण अयोध्या प्रदेश को भी आ घेरा था, और पाटलिपुत्र को भी भयोत्पादन कर दिया था, उस मीनेन्डर को पुष्पमित्र ने पराजित किया था लगभग उसी समय कलिङ्गराज खैरवैल ने भी मगधराज पर आक्रमण किया था, इस विजय प्राप्ति की प्रशस्ति में उसने कटक से १८ माईल दूर उदयगिरि में हाथीगुम्फ की गुफा में (मौर्य सं० १६४ ६५) एक लेख खुदाया था, किन्तु उसकी यह विजय भी अल्प-कालिक हुई थी तदनन्तर शीघ्र ही पुष्पमित्र के पुत्र अग्निमित्र ने विदर्भराज को पराजित करके उसका राज्य विजय कर लिया था *।

इस प्रकार विजय प्राप्त कर लेने पर पुष्पमित्र ने राजसूय-यज्ञ का प्रारम्भ किया था, जिसके विषय में भाष्यकार पतञ्जलि, अपने भाष्य में 'अरुणद्यवनः साकेतम्'। 'अरुणद्यवनः माध्यमिकान्'। 'इह पुष्पमित्रं याजयामः'। इत्यादि सूत्रों के उल्लेख से, यवनों का आक्रमण मानों थोडे ही समय पर हुआ हो, तथा राजसूय-यज्ञ के भी स्वयं याजक हुए हों, इस प्रकार सूचन करते हैं।

पुष्पमित्र के इस इतिहास से मालूम होता है, कि उसके समय में भी परचक्र-भय तो अवश्य उपस्थित हुआ, और

* देखो विनसेंट स्मीथ साहब की हिस्टरी पत्र १८६-१८७

उससे यह विमुक्त भी हुआ, तथा अश्वमेध-यज्ञ करना प्रसिद्ध होने से इसका चक्रवर्ती होना भी निर्विवाद सिद्ध है। तथापि भास ने जैसा भयङ्कर परचक्र भय सूचन किया है, वैसा भय, इसके ऊपर आया हुआ मालूम नहीं होता है और भास ने जैसी गौरवयुक्त महिमा अपने राजा की गान की है, उस पर लक्ष्य देने से तादृश महत्ता भी पुष्पमित्र की अपेक्षा चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध में अधिक समुचित जान पडती है। राज्य की सरहद भी भास के सूचन से पुष्पमित्र की नहीं मिलती। सुतरां, पुष्पमित्र की अपेक्षा चन्द्रगुप्त के समय में भास का होना ही अधिक संभव ज्ञात होता है।

इस प्रकार उदयन से पीछे पुष्पमित्र तक के चार सम्राट् राजाओं के इतिहास की भास के नाटकों के वर्णनों के साथ तुलना करने से महाराजा चन्द्रगुप्त के समय में भास का होना अधिक संभव मालूम होता है। इसके सिवा आगे लिखे हुए अन्य कारणों से भी इस अनुमान की पुष्टि होती है।

भास और चाणक्य।

यह तो निर्विवाद है, कि कौटिल्य अथवा विष्णुगुप्त, महाराजा चन्द्रगुप्त के समय में हुआ है। उसने महाराजा चन्द्रगुप्त को राजनीति में निपुण करने के लिये अर्थशास्त्र-नीति का ग्रन्थ लिखा था, देखिये—

'सर्वं शास्त्राण्युपक्रम्य प्रयोगानुपलभ्य च।
कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः' ॥

(अध्यक्ष प्रचार अ० १०)

इस श्लोक में 'नरेन्द्र शब्द' चाणक्य ने उसी चन्द्रगुप्त के लिये प्रयोग किया है, जिसके लिये भास ने 'भगवान् उपेन्द्रः' कहा है। उक्त ग्रंथ में निम्नलिखित श्लोक चाणक्यने लिखा है–

'नव शरावं सलिलस्यपूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम्।
तत्तस्य माभूत्नरकं च गच्छेद्यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत्' ॥

यही श्लोक इसी रूप में भास के प्रतिज्ञायोगन्धरायण-नाटक के चौथे अङ्क में भी है।

गणपति शास्त्री जी का मत है, कि भास के उक्त नाटक में से चाणक्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस श्लोक को उद्धृत किया है। वस्तुतः भास का उक्त नाटक और चाणक्य का अर्थशास्त्र देखने से शास्त्री जी का यह मत यथार्थ मालूम होता है। यद्यपि ऐसा कहा जा सकता है, कि भासने ही उक्त श्लोक चाणक्य के ग्रंथ से लिया हो, ऐसा क्यों नहीं माना जाय? किन्तु ऐसा मानने में चाणक्य की ग्रंथ-क्रम-योजना में विरोध आता है। चाणक्य ने युद्ध-प्रसङ्ग में मंत्री और पुरोहितों द्वारा योद्धाओं को लड़ने के लिये किस प्रकार उत्तेजित करना चाहिये उस सम्बन्ध में लिखा है—

'संग्रामस्तु निर्दिष्टकालो धर्मिष्ठस्संहत्य दंडंब्रूयात्'।'तुल्य-

चेतनोस्मि, । ' भवद्भिः सह भोग्यमिदं राज्यम्.', मयाभिहितः परोभिहन्तव्यः ' । इति ॥

वेदेषु अपि अनुश्रूयते ' समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवभृतेषु सातेगतिर्या शूराणाम् ' । इति ॥

अपीह श्लोको भवतः—

' यान् यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः
स्वर्गैषिणः पात्रचयश्च यान्ति ।
क्षणेन तानप्यतियान्ति शूरा
प्राणान् सुयुध्येषु परित्यजन्तः ' ॥

'नव शरावं सलिलस्य पूर्णं' इत्यादि ।

इति मंत्रि पुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान् ।

[कौटिल्य अर्थ० अधि १०—अध्याय० ३]

इस ग्रंथ क्रम से स्पष्ट विदित होता है, कि युद्ध में मरने से सद्गति होती है, इस वाक्य पर योद्धाओं को विश्वास दिलाने को चाणक्य ने प्रथम सर्वोपरि प्रमाण भूत, श्रुतिवाक्य उद्धृत किये हैं, तदनन्तर 'अपीह श्लोको भवत.' इतना अपनी तरफ से कह के फिर नीचे दो श्लोक दूसरे की रचना के उधृत किये हैं। फिर उसके नीचे 'इति मंत्रि पुरोहिताभ्या मुत्साहयेद्योधान्' इस प्रकार अपना वाक्य लिखा है। यदि उक्त दोनों श्लोक चाणक्य के होते तो 'अपीह श्लोकौ भवत.'। अर्थात् 'यह अन्य भी दो श्लोक हैं' इस प्रकार लिखने की कुछ आवश्यक न थी। चाणक्य के ग्रंथ में विषय क्रमही ऐसा

प्रकार का है, उसने एक सिद्धान्त के प्रतिपादन में अपने पूर्व के लेखकों के मत इसी रीति से उद्धृत किये हैं, देखिएः—

'मंत्र परिषदं द्वादशामात्यान् कुर्वीतेति' मानवाः।

षोडशेति बार्हस्पत्याः।

'विंशतिम्' इति औशनसाः।

यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः।

फिर यह भी है, कि चाणक्य ही को अपने सिद्धान्त प्रतिपादन करने के लिये दूसरों के प्रमाणों के अवतरण देने की आवश्यकता थी, न कि भास को। भासने तो स्वाभाविक नाटक के प्रसङ्गानुसार-योद्धाओं के प्रति समयानुकूल प्रोत्सा-हन के वाक्य रूप यह श्लोक कहलाया है। एक बात और भी है भास ने कर्णभार नाटक में कर्ण के मुख से शल्यराज को यह श्लोक कहलाया हैः—

'हतोऽपि लभते स्वर्गं जित्वातु लभते यशः।

उभे बहुमते लोके नास्ति निष्फलता रणे'॥

इस श्लोक में श्री मद्भगवद्गीता केः—

'हतो वा प्राप्स्यसिस्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्'।

इस श्लोक का भाव लिया गया है। अब विचार का विषय है, कि श्रीमद्भगवद्गीता जैसे सर्वोच्च ग्रंथ के श्लोक को भी भासने उसी रूप में उधृत न करके अपनी भाषा में उसका भाव रखने का स्वाभिमान किया है, तब उसके द्वारा चाणक्य के ग्रंथ का श्लोक अपने ग्रंथ में कुछ भी सूचन किये

रना उद्धृत करना किस प्रकार संभव हो सकता है? सुतरां
ासके नाटक में से उक्त श्लोक चाणक्य द्वारा लिया जाना
सद्ध होता है।

भास और चाणक्य के ग्रंथों में परस्पर एकता मिलती
', भाषा भी एक ही कालकी प्रतीत होती है। भास के 'प्रति-
ायौगन्धरायण' में वर्णित हाथी के शिकार में आसक्त
दयन राजा के बंधन का वृत्तान्त लेकर चाणक्य ने, राजा को
केस प्रकार छलना, उस विषय में लिखा है:—

'हस्तिकामं वा नागवनपालहस्तिना लक्षण्येन प्रलोभयेयुः'।
त्यादि।

इसी प्रकार चाणक्य के अर्थशास्त्र का नाम भास के ग्रंथों
ं मिलता है:—

'अर्थशास्त्रगुणग्राही ज्येष्ठो गोपालकः सुतः'।

(प्र० यौ० पत्र ३५)

इत्यादि से दोनों ही का अन्योन्य के विचारों को मान
्रदर्शित करना सिद्ध होता है। इसके सिवा मंत्र तंत्रादिकों
के प्रयोग जो भासने 'अविमारक' में दिखाये हैं वे भी चाणक्य
के ग्रंथ में मिलते हैं। अतएव भास का चाणक्य के समका-
लीन होना माना जा सकता है, यही अनुमान उपर्युक्त विचारों
से अधिक संभव प्रतीत होता है।

—:o:—

भास और भगवान् पाणिनि

भास के नाटकों के व्याकरण के कुछ प्रयोग दिखा के जो कि पाणिनि के नियमानुकूल नहीं है, उक्त गणपति शास्त्री जीने, भास का भगवान् पाणिनि के भी प्रथम होना सिद्ध किया है। किन्तु महामहिम पाणिनि प्राचीन हैं। सांप्रतिक इतिहास लेखक श्रीयुत सर रमेशचन्द्र आदि भी इनको ईसवी सन् के पूर्व ८ वीं शताब्दी में स्थापित करते हैं। इसके सिवा महर्षि पाणिनि के प्रथम, भास को स्थापित करने में उपर्युक्त सभी विषयों के साथ बाह्य और आन्तर्य प्रमाणों की एक वाक्यता नहीं हो सकती है। यह बात सत्य है कि भास के कुछ प्रयोग भगवान् पाणिनि के व्याकरण के नियमानुसार नहीं हैं, इसका कारण, पाणिनि के प्रथम भास को स्थापित करने की अपेक्षा, यह मानना ठीक होगा कि भास के समय में संस्कृत भाषा, प्रजा में प्रचलित भाषा थी। महानुभाव पाणिनि का समय प्रोफेसर मैक्समूलर और बोथलिङ्क आदि ईसा के पूर्व चौथी शताब्दी में अनुमान करते हैं, यदि यह अनुमान ठीक समझा जाय और भास का समय ईसा के ३२५ वर्ष पूर्व माना जाय तो संभव है, कि इतने थोड़े समय के अन्त में एक ग्रंथकार के निर्णीत, व्याकरण के नियम विद्वानों को तथा प्रचलित भाषा के बन्धन रूप स्वीकार न हुए हों। उस समय अब के समान ग्रंथका प्रसार

शीघ्रता से न हो सकता था किसी शास्त्र के सिद्धान्त, सर्व-मान्य होने में अधिक समय की अपेक्षा रहती थी। असंभव नहीं है, कि कुछ समय पूर्व के भगवान् पाणिनि के नियमों का भास ने सर्वथा अनुसरण न करके लोक-रूढि-प्रचलित प्रयोग भी उसने अपनी भाषा में प्रचलित रक्खे हों। बात यह है कि ईसा के पूर्व द्वितीय और तृतीय शताब्दी में संस्कृत, लोक-व्यवहारोपयोगी भाषा थी, जैसा कि पाश्चात्य विद्वानों का मत है। भास के नाटकों की भाषा का स्वरूप ही सूचन करता है, कि वह, कालिदास, अश्वघोषादिकों की परिमार्जित भाषा की अपेक्षा लगभग १००—१५० वर्ष जितनी प्राचीन है। अर्थात् वह, साहित्य की अभिवृद्धिका युग प्रारम्भ हुआ, उसके पूर्व की भाषा है। और पाणिनी का तथा कालिदास का समय, इसकी पूर्व और पश्चिम मर्यादा रूप है। ईसा के पूर्व छठी शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक प्रचलित संस्कृत भाषा के अविच्छिन्न प्रवाह में अशोक का बौद्धधर्म का काल, व्यवधान रूप होना संभव है, क्योंकि उस समय संस्कृत भाषा गौण हो कर प्राकृत का विशेष प्रचार होने लगा था। फिर पुष्पमित्र के समय में बौद्धधर्म नष्ट प्राय हुआ तदनन्तर पुनः संस्कृत साहित्य का समृद्ध होना इतिहाससे विदित होता है। भास की लिखी हुई, लोक-प्रचलित भाषा ही हमको, ईसाके पूर्व, तृतीय शतक में इसको स्थापित करने को प्रेरणा करती है।

कलकत्ते के प्रसिद्द 'मोडर्न रिव्यु' के सन् १९१३ अक्टुबर के अङ्क में 'भासका समय' इस शीर्षक के एक लेख में मिस्टर पी. चोधरी एम ए. वेरिस्टर पटला ने भास को ईसा के पूर्व प्रथम शतक के उत्तरार्द्ध में कण्व वंश के तीसरे राजा नारायण का, राजकवि होना बहुत से प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है। उनका वक्तव्य है, कि:—

(१) 'नव शराव' इत्यादि। यह श्लोक भास और चाणक्य दोनों ही ने किसी प्राचीन ग्रंथ से उद्धृत किया है।

(२) चाणक्य का अर्थशास्त्र जितना कहा जाता है उतना प्राचीन नहीं।

(३) भास ने बालचरित नाटक में नाटक के नायक को 'नारायण' शब्द से व्यवहृत करके अपने आश्रयदाता राजा का सूचन किया है, क्योंकि कृष्ण का नाम किसी स्थल पर नहीं लिखा। और इस नाटक में नारायण राजा के समय का राज्य-प्रपञ्च सूचन किया गया है तथा इस नाटककों पात्र के नाम नारायण और उसके पिता वसुदेव आदि के नामों से मिलते हैं।

(४) भास के नाटकों की भाषा पुष्पमित्र के पश्चात् जो साहित्य का जीर्णोद्धार हुआ उस समय की है, तथा लोक स्थिति भी उसी समय की है।

इत्यादि मुख्य युक्तियां उक्त लेख में दी गई हैं। इनमें से-

(१) 'नवं शरावं' इति। इस श्लोक के विषय में ऊपर के लेख में स्पष्टतया सिद्ध किया जा चुका है, कि यह श्लोक भास के नाटक में से चाणक्य ने उद्धृत किया है, अधिक विवेचन की आवश्यक नहीं।

(२) चाणक्य के अर्थशास्त्र का 'सर्व शास्त्राण्यनुक्रम्य' इति।

यह श्लोक ऊपर उद्धृत हुआ उससे और इसी ग्रंथ के अंतिम भाग के—

'दृष्ट्वा विप्रतिपत्तिं बहुधा शास्त्रेषु भाष्यकाराणाम्।
स्वयमेव विष्णुगुप्तश्चकार सूत्रं च भाष्यं च'॥

इस श्लोक से विष्णुगुप्त–कौटिल्य द्वारा अर्थशास्त्र का निर्माण किया जाना स्पष्ट होता है। विष्णुगुप्त–कौटिल्य आदि चाणक्य ही के नाम हैं, इसका प्रमाण कोष में भी मिलता है। इससे अधिक और क्या प्रमाण दिया जा सकता है? और यह तो प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रमाणों से ही सिद्ध है, कि चाणक्य, महाराज चन्द्रगुप्त का समकालीन है। चाणक्य की सूचित राजनीति और भास की दिखाई हुई युद्ध और मंत्र तंत्रादि की पद्धति भी मौर्य-राजाओं के समय में ही प्रचलित थी इस बात का भी इतिहास साक्ष्य देता है। अतः अर्थशास्त्र के कर्तृत्व में और उसके निर्णीत समय में शङ्का का अवकाश ही नहीं हो सकता। मिस्टर विनसेंट स्मीथ साहब का भी यही मत है।

(३) वाल चरित में केवल दोही नाम-नारायण और वसुदेव के सिवा और किसी नाम की कण्व वंश के राज कुल के नाम के साथ एकता नहीं मिलती। वृहद्रथ के नाम की दोनें प्रसङ्गों में एकता नहीं मानी जा सकती, क्यों कि मौर्य वंश के राजा का नाम वृहद्रथ है जब कि 'वाल चरित' में वार्हद्रथ अर्थात् वृहद्रथ के पुत्र-जरासंध का नाम है। भास ने उक्त नाटक में अनेक प्रसङ्ग लिये हैं, उनमें भी केवल कंश का वध, भूमिमित्र के वध के साथ और वसुदेव जी का वन्धन, वृद्ध राजा भागवत के वन्धन के साथ मिलता है, इसके सिवा सम्पूर्ण नाटक में कोई भी प्रसङ्ग कण्व वंश के चरित्र के साथ नहीं मिलता। वस्तुतः भासने तो प्रारंभ से अन्त तक उक्त नाटक में केवल आनन्दकन्द श्री कृष्णचन्द्र की पुराण-प्रसिद्ध वाल-लीला का उसी रूप से वर्णन किया है, दैवात् उन प्रसङ्गों में से एक दो प्रसङ्ग के साथ-घुणाक्षर न्याय से-राजा नारायण के समय के एक दो प्रसङ्ग की एकता मिल जाने से कण्ववंशीय नारायण के उद्देश्य से इस नाटक का लिखा जाना कदापि सिद्ध नहीं हो सकता। इसके सिवा भास ने इस नाटक में केवल नारायण ही नहीं किन्तु कृष्ण नाम का प्रयोग भी किया है देखो अङ्क-१-१२ और अङ्क ४-३)।

(४) यह तो पहिले ही कहा गया है, कि पुष्पमित्र के पश्चात् होने वाले कालिदास आदि की रचना में जो संस्कार

और सुघडता देखी जाती है, सो भास की भाषा में नहीं, उसका नाट्य-कला विधान सादा और सरल है, भाषा, लोक प्रचलित है। व्याकरण के प्रयोगों में कहीं कहीं शिथिलता है। उसके सभी नाटकों का स्वरूप स्वाभाविक-सुन्दरता युक्त है। अतएव स्पष्ट मालूम होता है कि उस समय संस्कृत लोक-प्रचलित भाषा थी। पाणिनी के व्याकरण के प्रयोग सर्व-मान्य न हुए थे। नाट्य-साहित्य, अत्यन्त नियम-बद्ध न हुआ था। यह परिस्थिती, अशोक के समय, बौद्ध-धर्म का प्रसार हुआ उसके प्रथम की, इतिहास द्वारा ज्ञात होती है। सुतरां चन्द्रगुप्त और चाणक्य के सम सामयिक ही भास का होना सम्भव हो सकता है।

—:o:—

भास और कालिदास।

इस बात का उल्लेख ऊपर हो चुका है कि भास, कालिदास के पूर्ववर्ती हैं। भास के नाटकों में नाट्य-कला का प्रारम्भ और कालिदास के नाटकों में उसकी सम्पूर्णता है। कालिदास, जैसे सर्वोत्कृष्ट-कवि के चित्त में जिसके नाटकों ने स्पर्धा उत्पन्न की यही भास का कीर्ति-स्तम्भ है। प्रारंभ ही में जिस साहित्योदधि के कर्णधार कवि ने ऐसे मधुर-रस-पूर्ण सरल किन्तु सुन्दर नाटकों की रचना में सफलता प्राप्त की, उसकी प्रतिमा की जो कुछ प्रशंसा की जाय थोड़ी है।

तथापि भास और कालिदास, दोनों के नाटकों की तुलना करने से संक्षिप्त से यह कहना शायद अयुक्त न होगा कि काव्य-कला के सभी अङ्गों में कालिदास ने भास की अपेक्षा अपनी श्रेष्ठता सिद्ध करके प्रत्यक्ष दिखा दी है। भास वीर-रस की निष्पत्ति में सिद्धहस्त था, जब कि हमारे रसिक-कवि-शिरोमणि कालिदास शृङ्गार-रस में अपनी समता नहीं रखते हैं। इसी तरह करुणा में महाकवि भवभूति अद्वितीय हैं। उनके काव्य में करुणा-रस टपकता है। उत्तर-रामचरित में करुणा-रसके वर्णन में वे सब से बढ़ गये हैं, कहा है—'उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते'। इस कथन में कुछ भी अत्युक्ति नहीं है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इन तीनों कवियों ने उक्त एक एक रस वर्णन में पराकाष्ठा कर दी है। अन्य कवियों की बात छोड़ दीजिये किन्तु इन तीनों में भी एक के अभिमत, प्रधान-रस के वर्णन में प्रायः तदितर उसकी समता को नहीं पहुच सका है, यह कथन कदाचित् अनुचित न होगा। उदाहरण स्थल पर कह सकते हैं कि भवभूति ने शृङ्गार, वीर और करुणा तीनों ही रसों का बहुत अच्छा वर्णन किया है, तथापि करुणा का वर्णन ही उनका अनुपम है। महावीर-चरित-नाटक में जिस-वीर रस के वर्णन में भवभूति को तादृश सफलता लभ्य नहीं हुई, वही-वीर रस, भास ने अपने दूतवाक्य, घटोत्कच और कर्णभार आदि नाटकों में इस

तरह पूरित कर दिया है कि वाचक-वृन्द के आस पास इस रस का वातावरण स्वाभाविक ही उपस्थित हो जाता है। सच तो यह है कि शृङ्गार और करुण रस के मुख्य कवि कालिदास और भवभूति के मध्य में वीर-रस के मुख्य-कवि का स्थान शून्य मालूम हो रहा था, सो अब भास के नाटकों के प्रसिद्ध होने पर विदित हुआ कि उस स्थान की पूर्ति तो भासने इनके पहिले ही कर रक्खी थी। शृङ्गार रस के वर्णन में कालिदास की सर्वोत्कृष्टता दिखाने के लिये उदाहरण रूप में भास के नाटकों के साथ यदि उनके नाटकों की तुलना की जाय तो भास के वीर रस प्रधान नाटकों को छोड़कर, शृङ्गार-रस प्रधान नाटक स्वप्नवासवदत्ता और अविमारक के साथ ही की जा सकती ह। इन दोनों—स्वप्नवासवदत्ता और अवि-मारक का कालिदास के मालविकाग्निमित्र, विक्रमोर्वशीय और शाकुन्तल इन शृङ्गार रस के तीनों नाटकों में भाषा, विचार, प्रसङ्ग और शब्दों की रचना में भी विशेषतया ऐक्य देखा जाता है।

'स्वप्न वासवदत्ता' के प्रथमाङ्क में यौगन्धरायण वासवदत्ता को लेकर तपोवन में आता है, उस प्रसङ्ग की शाकुन्तल में सम्पूर्ण छाया मिलती है। उसमें जैसा तपोवन वर्णन है वैसा ही शान्त, पवित्र और मृग आदि विश्वस्त और निशङ्क जीवों वाला तपोवन शाकुन्तल में अङ्कित है।

स्वप्नवासवदत्ता में यौगन्धरायण ने पद्मावती को वासव-

दत्ता दी है, मालविकाग्निमित्र में राणी धारिणी को मालविका दी गई है। वासवदत्ता वीणा बजाना सीखती है, मालविका भी सङ्गीत सीखती है। वासवदत्ता को राजा चित्र में देखकर उस पर अनुरक्त होता है, मालविका का भी चित्र तथा नृत्य देखकर राजा का उसपर अनुरागोत्पन्न होने का उल्लेख है। इस प्रकार स्वप्न वासवदत्ता के बहुत से प्रसङ्ग कुछ प्रकारान्तर से-और भी सुन्दर स्वरूप में कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में अङ्कित किये हैं। मानो वासवदत्ता के वस्तु कलेवर को परिवर्त्तन करके अधिक रस-प्रद रीति से कालिदास ने मालविकाग्निमित्र में संघटित किया हो, ऐसा भास होता है।

वासवदत्ता के वियोग में उदयन की जैसी विरहदशा वर्णित है, वैसी ही दशा शकुन्तला के वियोग में दुष्यन्त की वर्णन की गई है। स्वप्नवासवदत्ता में महाराणी पद्मावती, शिरो वेदना से पीड़ित होने पर परिजनों द्वारा उसका उपचार, पल्लव-शयन, राजा का वहां आना आदि वर्णन है, उसकी शाकुन्तल में शकुन्तला की कामवेदना, सखियों द्वारा उपचार, राजा का आना, पुष्पशयन आदि प्रसङ्गों में एकता देखी जाती है, किन्तु शाकुन्तल का प्रसङ्ग कुछ अपूर्व रस से भरा हुआ है।

भास के 'अविमारक' नाटक में कुन्तिभोज की पुत्री कुरङ्गी की उद्यान में उन्मत्त हस्ति से राजा ने रक्षा की उस समय नायक और नायिका में परस्पर प्रेम-बन्धन होता है,

उसी प्रकार विक्रमोर्वशीय में उर्वशी को केशी-दानव के त्रास से बचाने के समय तथा शाकुन्तल में शकुन्तला को भ्रमर के उपद्रव से बचाने के समय परस्पर प्रेमोत्पन्न होता है। अतएव इन नाटकों में प्रेमाङ्कुरउत्पन्न होने के प्रसङ्ग में समानता है।

इत्यादि और भी बहुतेरे प्रसङ्गों में बहुधा ऐक्य होने पर भी सच तो यह है कि जिन पात्रों द्वारा स्वप्नवासवदत्ता और अविमारक में भास कवि जिस रस को स्थापन करने में कृतकार्य नहीं हुआ उसी रस को कालिदास ने उन्हीं पात्रों द्वारा अपने नाटकों में मूर्तिमान् उपस्थित कर दिया है।

नाटकों के प्रारम्भ करने की रीति भी भास और कालिदास की प्रायः समान है:—

सूत्रधारः-(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्ये, इतस्तावत्।

नटी-—आर्य, इयमस्मि।

सूत्रधारः—इममेव इदानीं शरत्कालमधिकृत्य गीयतां तावत्।

नटी—आर्य तथा (गायति)।

सूत्रधारः—अस्मिन्हिकाले।

'चरितपुलिनेषु हंसी काशांशुकवासिनी सुसंहृष्टा।
मुदिता नरेन्द्रभवने त्वरिता प्रतिहाररक्षीव' ॥

(वासवदत्ता प्रथमाङ्क)

सूत्रधारः—(नेपथ्याभिमुखमवलोक्य) आर्य, यदि नेपथ्य विधानं अवसितम् इतस्तावदागम्यताम्।

नटी—आर्यपुत्र, इयमस्मि।

+ × × × × ×

सूत्रधारः—+ × × तदिममेव तावदचिर प्रवृत्तमुपभोगक्षमं ग्रीष्म समयमधिकृत्य गीयतां। सम्प्रति हि।

सुभग सलिलावगाहाः पाटलसंसर्गसुरभिवनवाताः।

नटी—तथा इति गायति।

(शाकुन्तल)

और भी देखिए:—

विस्रब्ध.हरिणाश्चरन्त्यचकिता देशागतप्रत्ययाः।

(तपोवन वर्णन स्वप्नवासवदत्ता अङ्क १)

विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहंते मृगाः।

(शाकुन्तल)

विदूषकः—कस्यापि नाख्यास्यामि एषा संदष्टा मे जिव्हा।

(स्वप्नवासवदत्ता)

विदूषकः—एवं मया नियंत्रिता जिह्वा यद्भवतोपि सहसा प्रतिवचनं न ददामि।

(विक्रमोर्वशीय)

राजा—पद्मावती बहुमता मम यद्यपि रूपशीलमाधुर्यैः।
वासवदत्ताबद्धं न तु तावन्मे मनो हरति॥
(स्वप्नवासवदत्ता)

राजा—उर्वशीगतमनसोऽपि मे स एव देव्यां बहुमानः।
(विक्रमो०)

कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना।
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः।
(स्वप्न वासवदत्ता अङ्क १—४)

कस्यात्यन्तं सुखमुपनतं दुःखमेकान्ततो वा।
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण।
(मेघदूत)

इन अवतरणों द्वारा केवल दिग्दर्शन कराया गया है। इस प्रकार इन दोनों कवियों के नाटकों के बहुत से विषयों में भाषा विचार, प्रसङ्ग और प्रायः शब्द योजना में भी एकता मिलती है। किन्तु इसके ऊपर से यह नहीं माना जा सकता है कि कालिदास को अपने में किसी विषय की न्यूनता ज्ञात होने से भास की काव्य सामग्री लेके उन्होंने अपने नाटकों की शोभा बढ़ाई है। ऐसा अनुमान करना सचमुच कालिदास जैसे अपूर्व प्रतिभाशाली विद्वान के साथ अन्याय कहा जा सकता है। इसकी अपेक्षा यह अनुमान योग्य होगा कि भास के साथ स्पर्द्धा करके-उसके शृङ्गार-रस प्रधान नाटकों पर विजय प्राप्त करने के लिये-कालिदास ने पृथक् पृथक् स्थलों में लगभग

वैसे ही प्रसङ्गों का वर्णन करके अपनी श्रेष्ठता प्रत्यक्ष प्रकट करने के लिये ऐसा प्रयत्न किया है। कालिदास का यह प्रयत्न, ठीक उसी प्रकार का अनुमान किया जा सकता है, जिस प्रकार एक चित्रकार किसी प्रसङ्ग का एक सुन्दर चित्र अङ्कित करके लोक-रुचि को अपनी तरफ़ आकर्षित कर रहा हो, उस से अधिक अपनी कला-चातुरी की श्रेष्ठता दिखाने के लिये दूसरा कोई अधिक निपुण चित्रकार, उसी प्रसङ्ग का वैसा ही चित्र अङ्कित करके उससे विजयी होने का प्रयत्न करता है।

इन दोनों महाकवियों के नाटक ध्यान पूर्वक पढ़ने से मालूम होता है, कि साहित्य के सभी गुणों में भास से कालिदास चढ़े हुए हैं। भास सुवर्ण है, तो कालिदास को कुन्दन कहना ही योग्य होगा।

भास के नाटकों में बौद्ध-धर्म का शान्ति-पूर्वक प्रचलित रहना सूचन होता है। और उसका प्रकट-विरोध नहीं, किन्तु प्रसङ्ग-प्राप्त उपहास मात्र सूचन किया गया है, परन्तु कालिदास के नाटकों में बौद्ध धर्म की कहीं छाया भी नहीं मिलती। यद्यपि पण्डित शङ्कर पाण्डुरङ्ग महाशय का अनुमान है कि मालविकाग्निमित्र में 'परिव्राजिका' नाम का पात्र शायद बौद्ध धर्मी है, और उसका राजा के यहां सन्मान पूर्वक रहना वर्णन है, अतएव उस समय बौद्ध धर्म पर जन-समाज की श्रद्धा प्रचलित होना सूचन होता है। किन्तु परिव्राजिका का अर्थ

बौद्ध धर्मावलम्बिनी संन्यासिनी का ही ग्रहण करने में प्रमाण ही क्या है? परिव्राजिका शब्द का सामान्य अर्थ संन्यासिनी मात्र ही क्यों नहीं ग्रहण किया जाय? उक्त नाटक के प्रसङ्ग से स्पष्ट ज्ञात होता है कि यह बौद्ध धर्म की आर्या नहीं, किन्तु वैधव्य लब्ध, संसार से निराशा प्राप्त एक साध्वी संन्यासिनी है। भला बौद्ध धर्म के कट्टर शत्रु अग्निमित्र के अन्तःपुर में बौद्धधर्म की स्त्री का सम्मान पूर्वक प्रवेश किस तरह संभव हो सकता है?

पुनः भास के समय में मन्त्रतन्त्रादिक पर केवल सामान्य लोक समूह की ही नहीं किन्तु शिक्षित-समाज की भी श्रद्धा, उसके नाटकों के वर्णन से सूचित होती है। इसके उदाहरण, अविमारक और प्रतिज्ञायोगन्धरायण में मिलते हैं। किन्तु एतद्विषयिक बातें कालिदास के नाटकों में कहीं नहीं देखी जाती। उक्त कवि के बहुत पीछे भवभूति के 'मालती माधव' में ऐसी बातों का फिर उल्लेख पाया जाता है।

बौद्ध धर्म की उपर्युक्त स्थिति और मंत्रतंत्रादिका प्रचार, इतिहास में महाराजा चन्द्रगुप्त के समय में ही मिलता है, उस समय चाणक्य जैसे राजनीतिज्ञ विद्वान् ने राक्षस-मन्त्री को मारने के लिये अभिचार मंत्र का प्रयोग किया था, ऐसा कहा जाता है।

इसके सिवा, ऊपर दिखाये हुए भास के नाटकों में के आन्तर्य ऐतिहासिक प्रमाणों के साथ एक वाक्यता करने से

जब कि भास का समय, चन्द्रगुप्त के राज्य काल में ईसा के पूर्व तीसरे शतक के अन्त तक संभव ज्ञात होता है, तो कालिदास का समय, भास के लगभग १५० वर्ष पीछे, ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के उतरार्द्ध में अनुमान किया जा सकता है। बहुत से विद्वान, कालिदास को ईसा के पूर्व प्रथम शतक में स्थापन करते हैं, सो ऊपर वाले अनुमान में इस विचार के साथ भी अधिक अन्तर नहीं रह जाता। इस अनुमान की पुष्टि में और भी जो विचार स्फुरण होते हैं, सो आगे स्पष्टतया प्रकट किये जाते हैं।

—:o:—

कालिदास और भामह।

भामहाचार्य का समय, श्रीयुत गणपति शास्त्री जी ने भास के पीछे और कालिदास तथा बृहत्कथाकार गुणाढ्य के प्रथम सिद्ध किया है। किन्तु केवल भास से ही नहीं पर कालिदास और गुणाढ्य से भी पीछे भामहाचार्य का होना, उन्हीं प्रमाणों से अधिक संभव प्रतीत होता है, जिन काव्यालङ्कार के श्लोकों के आधार पर उक्त शास्त्रीजी ने भामह को कालिदास के पूर्ववर्त्ती होना सूचन किया है। देखिये! भामहाचार्य ने अपने काव्यालङ्कार के चौथे परिच्छेद में न्याय-विरोध के विचार प्रदर्शित करते हुए निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं:—

विजिगीषुमुपन्यस्य वत्सेशं वृद्धदर्शनम्।
तस्यैव कृतिनः पश्चादभ्यधाच्चार शून्यताम्॥ ४०॥

अन्तर्योधशताकीर्णं सालङ्कायननेतृकम्।
तथाविधं गजच्छद्म नाज्ञासीत्स स्वभूगतम्॥ ४१॥

यदि चोपेक्षितं तस्य सचिवैः स्वार्थसिद्धये।
अहो नु मंदिमा तेषां भक्तिर्वा नास्ति भर्तरि॥ ४२

शरा दृढधनुर्मुक्ता मन्युमद्भिररातिभिः।
मर्माणि परिहृत्यास्य पतिष्यन्तीति कानुमा॥ ४३॥

हतोनेन मम भ्राता मम पुत्रः पिता मम।
मातुलो भागिनेयश्च रुषा संरब्धचेतसः॥ ४४॥

अस्यन्तो विविधान्याजौ आयुधान्यपराधिनम्।
एकाकिनमरण्यान्यां न हन्युर्यद्वधः कथम्॥ ४५॥

नमोस्तु तेभ्यो विद्वद्भ्यो येभिप्रायं कवेरिमम्।
शास्त्रलोकावपास्यैव नयन्ति नयवेदिनः॥ ४६॥

सचेतसो वनेभस्य चर्मणा निर्मितस्य च।
विशेषं वेद बालोपि कष्टं किन्तु कथं नु तत्॥ ४७॥

इसमें जिस वत्सराज की कथा की योजना पर भामह ने आक्षेप किया है। यह कथा, भास के प्रतिज्ञा यौगन्धरायण और गुणाढ्य की बृहत् कथा, दोनों ग्रन्थों में है। किन्तु गणपति शास्त्रीजी का वक्तव्य है, कि यह आक्षेप भामह ने गुणाढ्य पर न करके भास पर ही किया है। किन्तु भास ने प्रतिज्ञा यौगन्धरायण में कृत्रिम हाथी से वत्सराज बझन हो के बंधन में पड़ा यह प्रसङ्ग ऐसी उत्तम रीति से लिखा है, कि उसमें भामह का सूचन किया हुआ न्याय-विरोध विशेषतया मालूम होता। जो जो आक्षेप [illegible] के श्लोकों में भामह किये हैं उनका निराकरण भास [illegible] स्पष्टता से [illegible] दिया है। भामह ने भी 'नयवेदि[illegible] [illegible]। और [illegible]

तेभ्यः विद्वद्भ्य. '। इस प्रकार दा वार पृथक् पृथक् पदों से ' नयवेदिनः '। पद से भास को और ' विद्वद्भ्य. '। पद से केवल विद्वान सज्ञा से बृहत्कथा कार–गुणाढ्य का सूचन किया हो, ऐसा जाना जाता है। फिर ' कवेरभिप्रायं '। ' शास्त्रलोकावपास्यैव '। इत्यादि से न्याय विरोध तथा लोक कथा लक्ष्यमें न लेकर भास के लेख के विरुद्ध अभिप्राय वाला जो कुछ लेख बृहत्कथा में दृष्टिगत हुआ उसके उद्देश्य से ही भामह ने इस श्लोक में विद्वान शब्द से–कवि को छोड़कर इतर ग्रंथकार पर आक्षेप किया हो, ऐसा भी स्पष्ट विदित होता है। और वह गुणाढ्य ही है। भामह ने उसी प्रकरण में नरवाहनदत्त के सम्बन्ध में लिखा हैः—

नरवाहनदत्तेन वेश्यावासिशिपीडितः।

(परि ०६-६३)

यह उल्लेख तो भास के उद्देश्य से कदापि हो ही नहीं सकता, क्योंकि भास ने नरवाहनदत्त के सम्बन्ध में कुछ लिखा ही नहीं, फिर यह कथन, गुणाढ्य के उद्देश्य के सिवा दूसरे किसके सम्बन्ध में माना जाय? सुतरां भामहाचार्य का गुणाढ्य के पीछे होना निर्वाध सिद्ध होता है।

उसी काव्यालङ्कार में युक्तायुक्त विचार के प्रकरण में भामह ने निम्नलिखित श्लोक लिखे हैं.—

अयुक्तिमद्यथा दूता जलभृन्मारुतादयः।
तथा भ्रमरहारीतचक्रवाकशुकादयः॥ ४२॥

अवाचो ऽव्यक्तवाचश्च दूरदेश विचारिणः।
कथ दौत्यं प्रपद्येरन्निति युक्त्या न युज्यते ॥ ४३ ॥
यदि चोत्कण्ठया तत् तदुन्मत्त इव भासते।
तथा भवतु भूम्नेद सुमेधोभिः प्रयुज्यते ॥ ४४ ॥

(प्रथम परिच्छेद)

इसमें मेघ, पवन, आदि वाक् शक्ति-विहीन दूतों की योजना पर भामह ने आक्षेप किया है। शास्त्रीजी का अनुमान है, कि "भामह ने एतादृश दूतों की कल्पना पर सामान्यतया युक्तायुक्त प्रकरण में विचार प्रदर्शित किया है, न कि कालिदास का मेघदूत देखकर, क्योंकि कालिदास तदनन्तर हुए हैं।"

किन्तु कालिदास ने मेघ की दूत कल्पना में अपने सूक्ष्म विचार से स्वयं—'इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्त ययाचे'। 'कामार्ताहि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेपु'। इत्यादि जिन शब्दों से इस विरोध का परिहार किया है, भामह ने उन्हीं 'यदि चोत्कण्ठया' 'तदुन्मत्त' इत्यादि शब्दों से उपर्युक्त ४४ की संख्या के श्लोक में अपना विचार प्रकट करके इस दोप की उपेक्षा की है। इससे स्पष्टतया जाना जाता है, कि मेघदूत के उक्त श्लोक में कालिदास का किया हुआ परिहार भामह को अवश्य ही उचित प्रतीत होने से महाकवि कालिदास पर उसने अधिक आक्षेप न करके केवल 'सुमेधोभिः प्रयुज्यते'। इस प्रकार कोमल शब्दों में फैसला कर

दिया है। यदि ऐसा न होता तो 'उत्कण्ठा' 'उन्मत्तदशा' आदि जो कारण मेघदूत में यक्ष की एतादृश प्रवृत्ति के लिये दिखाये गये हैं, वहाँ भामह की उक्ति में किस प्रकार आ सकते थे? इसके सिवा कालिदास के बहुत से विचारों की सम्पूर्ण छाया भामह के काव्यालङ्कार में देखी जाती है, यथाः—

मार्जन्त्यधररागं ते पतन्तो बाष्पविन्दवः

(का० परि० ६-५१)

इसमें विक्रमोर्वशीय के निम्नलिखित पद्य का भाव लिया गया हैः—

हृतोष्ठरागैर्नयनोदविन्दुभिः।

(अङ्क ४)

फिरः—

जानुदघ्नी सरिन्नारी नितंबद्वयसं पयः।

(काव्याल० परि० ६-४४)

इसमें कालिदास के रघुवंश के इस पद्य का भाव हैः—

नारीनितम्बद्वयसं बभूव।

और भी देखिए—

अयं मन्दद्युतिर्भास्वानस्तं प्रतियियास्यति।
उदयं पतनायेति श्रीमतो बोधयन्नरान्॥

(का० परि० ३-३३)

इसमें भामह ने कालिदास के नीचे लिखे श्लोक का भा संक्षेप से दिखाया है:—

यात्येकतोऽस्तशिखरं पतिरोषधीनाम्
आविष्कृतोऽरुणपुरःसर एकतोऽर्कः।
तेजोद्वयस्य युगपद्व्यसनोदयाभ्याम्
लोको नियम्यत इवात्मदशान्तरेषु॥

(शाकुन्तल अङ्क ४-२)

इन प्रमाणों के मिलने से भामह का कालिदास के पीछे होने में कुछ सन्देह नहीं रह जाता है। कुछ विद्वान भामह को ईसवी सन् के ८ म या ९ म शतक में स्थापन करते हैं, किन्तु ईसवी सन् के ८-९ म शतक में पाणनीय-व्याकरण के सिद्धान्तों का सार्वत्रिक होके प्रमाण स्वरूप माना जाना इतिहास से ज्ञात होता है, किन्तु भामह के पाणिनी सम्बन्धी उल्लेख से विदित होता है, कि भामह के समय में उनके सिद्धान्त सार्वत्रिक न थे जिससे इसने ऐसा लिखा है, कि 'पाणिनो का मत मानने योग्य है'। यह समय ईसवी सन् के प्रथम शतक तक गिना जा सकता है। भामह के ग्रंथ में बौद्ध धर्म सम्बन्धी कुछ उल्लेख नहीं मिलता है, अतएव बौद्धधर्म का प्रभाव विनष्ट होने के समय में अर्थात् कालिदास के अनन्तर कुछ वर्ष के पश्चात् इनका होना संभव है।

—:o:—

कालिदास और अश्वघोष।

अश्वघोष भी प्राचीन भारतवर्षीय प्रसिद्ध विद्वान् और महाकवियों की गणना में हैं। ये बौद्धाचार्य थे। इनके प्रणीत बहुत से ग्रंथ हैं, जिनमें बुद्धचरित और सौन्दरनंद काव्य बहुत ही आदरणीय हैं। कालिदास के समय निरूपण में इनका ऐतिहासिक वृत्त भी बहुत कुछ सहायक है—कालिदास और अश्वघोष का ऐतिहासिक सम्बन्ध परिस्फुट करने के लिये बुद्धचरित और सौन्दरनन्द बड़े उपयोगी हैं। श्रीयुत केशवराय हर्षदराय ध्रुव महाशय ने 'पराक्रम नो प्रसादी' नामक विक्रमोर्वशीय के गुजराती भाषान्तर की भूमिका में उस समय की छन्द रचना के अपूर्व इतिहास में पूर्वापर के प्रसिद्ध काव्य ग्रंथों के छन्दों का, विस्तारपूर्वक विवेचन करके बुद्धचरित का रघुवंश के पश्चात् निर्माण होना बहुत उत्तम रीति से सिद्ध कर दिया है। अश्वघोष ने काव्य रचना में महाकवि कालिदास का अनुकरण किया है, इसकी कविता की भाषा भी परिमार्जित और प्राय प्रसाद गुण पूर्ण तथा मधुर है। इसके काव्यों में रघुवंश और कुमारसम्भव के वर्णनों के साथ बहुधा एकता देखी जाती है। सरस्वती सन् १९०३ के मई के अङ्क में सौन्दरनन्द में के बहुत से ऐसे उदाहरण दिखाये गये हैं, उनमें से एक दो उदाहरण तद्नुरूप यहां उद्धृत किये जाते हैं—

रघुवंश के दूसरे सर्ग में कालिदास ने लिखा है।

ततो मृगेन्द्रस्य मृगेन्द्रगामी वधाय वध्यस्य शरं शरण्यः।
जाताभिषङ्गो नृपतिर्निषङ्गादुद्धर्तुमैच्छत्प्रसभोद्धृतारिः॥
(सर्ग २, श्लोक ३०)

इस श्लोक में कालिदास ने जिस रमणीय रीति का अवलम्बन किया है उसीका अवलम्बन अश्वघोष ने सौन्दरनन्द काव्य के पांचवें सर्ग के छठे श्लोक में किया है। देखिए:—

ततो विविक्तश्च विविक्तचेताः सन्मार्गविन्मार्गमभिप्रतस्थे।
गत्वाग्रतश्चाग्र्यतमाय तस्मै नन्दोविमुक्ताय ननाम नन्दः॥

\+ × × × × ×

कालिदास ने कुमारसम्भव में पार्वती के विषय में लिखा है:—

'मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः ·
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ'।

नन्द के विषय में अश्वघोष ने भी इसी प्रकार की उक्ति सौन्दरनन्द-के चौथे सर्ग में की है, देखिए:—

'तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भार्य्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयान्नापि ययौ न तस्थौ तरंतरङ्गेष्विव राजहंसः'॥

इसके सिवा अश्वघोष के बुद्धचरित और ललितविस्तर में भी कालिदास के काव्यों के वर्णनों की छाया और बहुत से श्लोकपाद भी उसी रूप में हैं। इससे स्पष्ट मालूम होता है,

कि अश्वघोष ने कालिदास के काव्यों को अच्छी तरह मनन करने के पीछे अपने काव्यों की रचना की है। † परमार्थ बौद्धाचार्य ने अन्तिम बौद्ध-सभा जिस समय हुई वही समय अश्वघोष का लिखा है। इस महा-सभाका महाराज अशोक के पीछे तीसरी शताब्दी में कनिष्क के समय में होना चीनाई यात्री ह्युएनत्सङ्ग सूचन करता है। कनिष्क की मुद्राओं पर ३, से ४१ वर्ष का सप्तर्षि सम्वत् लिखा हुआ मिला है, जैसा कि इन्डियन रिव्यू XII में The date of Kanishka शीर्षक के लेख में उल्लेख है। इस हिसाब से अश्वघोष का समय ईसवी सन् के प्रथम शतक के दूसरे या तीसरे चरण में सिद्ध होना है। सरस्वती की उक्त सख्या में अश्वघोष का समय ईसा के पूर्व ५० वर्ष से ईसवी सन् के ५० वर्ष तक माना गया है।

अश्वघोष का समय जब ईसा के लगभग ५० वर्ष पूर्व माना जाय तो इनके पूर्ववर्ती कालिदास का समय इनसे लगभग १०० वर्ष पूर्व होना ही सभव हो सकता है। क्योंकि उस समय किसी विद्वान् के ग्रन्थ का सर्वत्र प्रचार होने में तथा उसके भावों का अनुकरण करने में बहुत समय की अपेक्षा रहती थी। अब जिस प्रकार किसी पुस्तक की सहस्रों आवृत्तियां मुद्रित होकर बहुत शीघ्र सर्वत्र प्रचलित हो जाती हैं, उस समय ग्रन्थ प्रचार का ऐसा सुगम साधन उपस्थित

† परमार्थ का समय ईसवी सन् ४९९ से ५९९ तक माना जाता है।

न था, फलतः किसी ग्रंथ के सम्यकतया प्रचार होने में लगभग एक सो वर्ष का समय लगना कुछ अधिक नहीं।

—:o:—

कालिदास और दिङ्नागाचार्य।

दिङ्नाग नाम के एक बोद्धाचार्य भी पूर्व काल में एक बड़े भारी विद्वान् हो गये हैं। इनका समय कुछ विद्वानों ने ईस्वी सन् के चोथे शतक के दूसरे या तीसरे चरण में स्थिर किया है, और कुछ ने ई० सन् के पांचवें शतक के अन्त में। जो हो, ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर कालिदास के साथ इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं मालूम होता है। किन्तु कालिदास की एक उक्ति के आधार पर इनके साथ कालिदास का सम्बन्ध कल्पना किया जाता है। वह उक्ति यह है:—

अद्रेः शृङ्गं हरति पवनः किं स्विदित्युन्मुखीभि—
र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूलहस्तावलेपान्॥

(मेघदूत-१४)

इसमें 'दिङ्नाग' और 'सरसनिचुल' इत्यादि पदों को मल्लिनाथ ने श्लिष्ट अर्थात् दो अर्थ वाले मान के एक अर्थ यह भी लिखा है:—

"अत्रेदमप्यर्थान्तरं ध्वनियति। रसिको निचुलो नाम महाकवि कालिदासस्य सहाध्यायः परापादितानां कालिदास

प्रबन्धदूषणानां परिहर्ता यस्मिन्स्थाने, तस्मात् स्थानादुदङ्मुखो निर्दोषत्वादुन्नतमुखः सन् दिङ्नागाचार्यस्य कालिदासस्य प्रति पक्षस्य हस्तावलेपान् हस्तविन्यासपूर्वकाणि दूषणानि परिहरन् अद्रेरद्रिकल्पस्य दिङ्नागाचार्यस्यशृङ्गं प्राधान्यम् हर-तीति हेतुना सिद्धैः सारस्वतसिद्धैः महाकविभिरङ्गनाभिश्च दृष्टोत्साहः सन् समुत्पत उच्चैर्भव इति ...अत्रान्यमात्मनं वा प्रति कवेरुक्तिरिति'।

अर्थात् कवि-कालिदास अपने काव्य की प्रशंसा में अपने प्रबन्ध-मेघदूत से कहते हैं, कि हे मेघदूत! मेरे प्रतिद्वन्द्वी दिङ्नागाचार्य के गौरव को गिरि-शिखर के सदृश पवन उड़ायें ले जा रहा है, इस प्रकार सिद्ध-महाकवि और अङ्गनाओं (स्त्रियों) द्वारा प्रशंसापूर्वक दृष्टिगत होता हुआ तू मेरे सहाध्यायी और मित्र इस निचुल नामक रसिक कवि के स्थान से दोष रहित होने के कारण ऊँचा सिर करके ये धड़क आगे बढ़ और मार्ग में दिङ्नागाचार्य के स्थूल हाथों के लेख का गर्व मिटाता हुआ विजयी होकर प्रयाण कर।

बस, इसी श्लोक में दिङ्नाग का नाम मिलने से और दिङ्नाग आचार्य एक उत्कट विद्वान होने से, तथा मल्लिनाथ की टीका में इस श्लिष्टार्थ का उल्लेख होने से विद्वद्-समाज में कालिदास और दिङ्नाग आचार्य के समकालीन होने की भ्रमात्मक कल्पना की जाती है। इस भ्रम का प्रधान कारण मूल का पाठ नहीं किन्तु मल्लिनाथ की यह टीका है, 'जिसमें

दिङ्नाग-शब्द के दो अर्थ किये गये हैं। क्योंकि मेघदूत की उपलब्ध टीकाओं में सब से प्राचीन टीका वल्लभदेव की है। उसमें कालिदास की इस उक्ति का प्रसङ्ग सिद्ध एक ही अर्थ किया गया है। मल्लिनाथ की अपेक्षा वल्लभदेव बहुत प्राचीन हैं, वल्लभदेव के समय में कालिदास और दिङ्नाग के सम्बन्ध की यदि किसी प्रकार की कल्पना प्रचलित होती तो वल्लभदेव भी मल्लिनाथ की तरह उक्त श्लोक का दूसरा अर्थ अवश्य ही लिखते। इससे जान पड़ता है, कि उनके समय में इस प्रकार की कल्पना की उत्पत्ति न हुई थी। मल्लिनाथ ने उक्त श्लोक के श्लेषार्थ की कल्पना जिस आधार से की है, उसका कारण भी उपलब्ध है, और वह यह है, कि कालिदास नाम के एक अन्य कवि ने 'नानार्थशब्दरत्न' नाम का एक ग्रंथ लिखा है और उसके मित्र निचुल नामक एक विद्वान्‌ने उसकी तरला नाम की टीका की है। अनुमान से विदित होता है, कि उस ग्रंथ की किसी प्रति को देखकर या उसके आधार पर चली हुई किम्वदन्ती को सुनकर मल्लिनाथ ने ऐसा श्लेषार्थ कल्पना किया है। किन्तु मद्रास गवर्न्मेंट द्वारा प्रकाशित हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्र से स्पष्ट होता है, कि ऐसा श्लेषार्थ कल्पना करने में मल्लिनाथ केवल स्वयं ही भ्रमित नहीं हुआ किन्तु उसका यह भ्रमजाल उसके परवर्ती अनेक इतिहास लेखक विद्वानों को भी भ्रान्त करने के लिये अपनी तरफ आकर्षण कर रहा है। अब पूर्वोक्त 'नानार्थ शब्दरत्न' के

प्रारम्भ और अन्त का लेख देखिए! वह इस प्रकार है—
प्रारम्भ—स्वमिश्रकालिदासोक्तशब्दरत्नार्थजृम्भितम्।

तरलाख्या लसद्व्याख्यामाख्याते तन्मतानुगम्॥

और अन्तिम लेख यह है—

'इतिश्रीमन्महाराजशिरोमणिश्रीभोजराजप्रबोधित निचुलश्वियोगिचन्द्रनिर्मितायां महाकविकालिदासकृतनानार्थशब्दरत्नकोशरत्नदीपिकायां तरलाख्याया सर्वं तृतीय निबन्धनम्'।

(मद्रास गा० हस्त० पुस्त० सूचीपत्र सन् १६०६ पत्र ११७५)

इससे स्पष्ट मालूम होता है, कि जिस ग्रंथ के आधार पर मल्लिनाथ ने निचुल शब्द में श्लेषार्थ कल्पना करके दिङ्नाग आचार्य के साथ कालिदास का सम्बन्ध कल्पना किया है, वह निचुल नामक कवि महाराज भोजराज के समय में हुआ है। रघुवंशादि महाकाव्य प्रणेता महाकवि कालिदास से वह भिन्न हैं। एतावता मल्लिनाथ की टीका के आधार पर कालिदास को दिङ्नाग आचार्य के समकालीन कल्पना करना भ्रममूलक है।

—.o.—

कालिदास और विक्रमादित्य।

भारतवर्ष के लब्ध प्राचीन इतिहास में विक्रमादित्य नाम के बहुत राजाओं का उल्लेख है। एक तो उज्जैन के

राजा विक्रमादित्य वे प्रसिद्ध हैं जिनके नाम का सम्वत्सर ईसवी सन् आरम्भ होने के ५७ वर्ष पूर्व का प्रचलित है। उनके सिवा *महाराजा चन्द्रगुप्त प्रथम, †चन्द्रगुप्त द्वितीय, ‡ कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त, ये गुप्तवंशीय राजा तथा और भी §हर्षवर्द्धन, शिलादित्य आदि राजा विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध थे।

विक्रमादित्य के नाम से प्रसिद्ध राजाओं में से किसी एक के साथ महाकवि कालिदास का सम्बन्ध कल्पना किया जाता है। कुछ लोगों का मत है, कि कालिदास, उन महाराजा विक्रम की सभा के नवरत्नों में थे जिनके नामका सम्वत्सर प्रचलित है। इस कल्पना का मूल कारण यह श्लोक है—

'धन्वन्तरि क्षपणकोऽमरसिंहशङ्कु
वेतालभट्टघटकर्परकालिदासः।
ख्याते वराहमिहिरो नृपतेः सभायाम्
रत्नानि वै वररुचिर्नव विक्रमस्य'॥

किन्तु इस श्लोक में कहे हुए नौ विद्वानों का एक काल में होना इतिहास से सिद्ध नहीं होता, इसमें वराहमिहिर का नाम भी है, परन्तु उन्होंने स्वयं अपने पञ्चसिद्धान्तिका ग्रन्थ की समाप्ति में शक् ४२७ अर्थात् ईसवी सन् ५०५ का समय

---

* इनका समय ई० सन् ३२६ तक माना जाता है। † इनका शासनकाल ई० सन् ३७५ से ४१३ तक कहा जाता है। ‡ कुमारगुप्त और स्कन्दगुप्त दोनो का समय सन् ४१३ से ४८० तक लिखा हुआ है। § इन दोनो का समय ई० सन् ५५० से ६०० तक निर्णय किया गया है।

लिखा है। कदाचित् रघुवंश आदि महाकाव्य-प्रणेता महाकवि कालिदास से भिन्न इस नाम के दूसरे कवि का तथा जिनके नाम का सम्वत्सर प्रचलित है, उन महाराजा विक्रमादित्य से अन्य इस नाम के राजा का उक्त श्लोक में उल्लेख हो। अथवा संभव है, कि सु-प्रसिद्ध प्राचीन विद्वान और राजाओं का परस्पर सम्बन्ध कल्पना करने की मनुष्य स्वभाव-सिद्ध मनोवृत्ति ही इसका कारण हो, जैसाकि भोजप्रबन्ध में सभी प्रसिद्ध प्रसिद्ध महाकवियों का महाराजा भोजराज के साथ सम्बन्ध कल्पना करके ललित आख्यायिकायें गुम्फित कर दी गई हैं।

कुछ विद्वानों का वक्तव्य है, कि जिनके नाम का विक्रमीय सम्वत्सर प्रचलित है, उस समय अर्थात् ईसा के ५७ वर्ष पूर्व कोई विक्रम नाम का राजा ही नहीं हुआ, किन्तु इस मत के प्रतिकूल कुछ पुरातत्वविद् विद्वानों ने दृढ़ प्रमाणों से उस समय विक्रम नाम के राजा का होना सिद्ध कर दिया है। कुछ भी हो, यहां पर विचार करना केवल यही अभीष्ट है, कि विक्रम नाम के राजा के साथ रघुवंशादि प्रणेता महाकवि कालिदास का सम्बंध संभव हो सकता है या नहीं?

हमारे प्राचीन राज्याश्रित कवियों में ऐसा कुछ सम्प्रदाय देखा जाता है, कि वे अपने आश्रय दाता के सम्बंध में कहीं प्रत्यक्ष और कहीं गूढ़तया किसी भी प्रकार से अपने

ग्रंथ में अवश्य उल्लेख करते हैं। और वह उल्लेख प्रशंसा-गर्भित होता है। महाकवि भास ने अपने आश्रय दाता राजा का नाम प्रत्यक्ष निर्देश न करके अपने नाटकों के भरतवाक्यों में यही बात गूढ़तया सूचन की है, जैसा कि ऊपर स्पष्ट किया गया है। तदनुसार ही बाण आदि राज्याश्रित-कवियों की पद्धति देखी जाती है। महाकवि कालिदास जैसे कवि का राज्याश्रित न होना तो कदापि सभव ही नहीं क्योंकि उनके नाटक ही इसका साक्ष्य दे रहे हैं, कि वे राज्याश्रित कवि थे। फिर यह भी कब समव है कि कालिदास अपने आश्रयदाता के विषय में एकवार ही मौन अवलम्बन करें। अवश्य ही उनके ग्रंथों में भी किसी भी प्रकार से अपने आश्रयदाता के विषय में तादृश उल्लेख होना ही चाहिये।

कालिदास के ग्रंथों में तादृश उल्लेख किसी भी एक महाराजा विक्रम के सम्बंध में एक तो उक्त कवि के 'विक्रमोर्वशीय' नाटक के नाम द्वारा माना जाता है। उसमें चद्रवंश के महाराजा पुरुरव का चरित्र वर्णन किया जाने पर भी विक्रम के नाम की योजना से तथा उक्त नाटक में कुछ स्थलों पर कवि ने पराक्रम शब्द को न लिख के इसका पर्याय विक्रम शब्द का प्रयोग किया है, उससे कवि द्वारा विक्रमादित्य का सूचन किया जाने की कल्पना की जाती है। इसके सिवा रघुवंश आदि काव्यों में भानु, भास्वान्, गोप्त, गोप्ता, गुप्त, समुद्र, और कुमार आदि शब्दों के प्रयोग द्वारा भी

विक्रमादित्य की उपाधि धारण करने वाले किसी गुप्तवंश के राजा का सूचन मान कर बड़ी खेंचा तानी से इस कल्पना की पुष्टि की जाती है।

किन्तु यह बात अवश्य ही विचार करने योग्य है, कि कालिदास जैसे गुणज्ञ कवि ने जब अपने प्रवास-या-निवास स्थान उज्जैन, विदिशा, मालवा और दशार्ण आदि पर अपना प्रेम, स्थल स्थल पर व्यक्त किया है, तब अपने आश्रयदाता के विषय में उपकार बुद्धि से इस प्रकार संदिग्ध और इतने संक्षेप में सूचन करें यह बात सर्वथा अयुक्तिक जान पड़ती है। अपने ग्रंथों में यदि विक्रम की प्रशस्ति का उनका उद्देश्य होता तो अवश्य ही वे उसे विस्तार पूर्वक उत्तम और स्फुट स्वरूप में स्थापन कर सकते थे। एतावता किसी भी महाराजा विक्रम के साथ कालिदास का सम्बन्ध कल्पना करने में उपर्युक्त सभी युक्तियां नितान्त शिथिल और निर्मूल प्रतीत होती हैं। अब यह द्रष्टव्य है, कि तादृश उल्लेख कालिदास के ग्रंथों में किस राजा के सम्बन्ध में मिलता है? आगे यही बात स्पष्ट की जाती है।

—:o:—

कालिदास और अग्निमित्र।

ऊपर यह कहा गया है, कि शुङ्गवंश के महाराजा पुष्पमित्र ने मगध-देश का राज्य प्राप्त किया था। और इनका समय ईसा के १८१ वर्ष पूर्व से १४८ वर्ष पूर्व तक माना जाता

है। जिस समय यह राजा मगध-देश के सिंहासन पर था, उस समय इसका पुत्र युवराज अग्निमित्र, दशार्ण-मालवा प्रान्त में राज्य प्रतिनिधि-गवर्नर था। और उसकी राजधानी विदिशा थी। कालिदास ने इसी--अग्निमित्र और इसकी प्रियतमा मालविका के नाम से 'मालविकाग्निमित्र' नाटक लिखा है। इस नाटक के बहुत से वर्णनों से तथा अन्य कारणों से अग्निमित्र के साथ कालिदास के सम्बन्ध की बहुत उत्तमरीति से पुष्टि होती है।† यह नाटक महाकवि

---

†कुछ लोग मालविकाग्निमित्र नाटक को रघुवंशादि महाकाव्य निर्माता महाकवि कालिदास द्वारा प्रणीत होने में शङ्का करते है। इस शङ्काके उत्थापक H. H. विलसन् साहब हैं। उन्होंने सबसे प्रथम बोन-Bonn में डाक्टर फ्रेडिरिक टलबर्क Frederick Tullberg साहब की निकाली हुई सन् १८४० की आवृत्ति पर से संशयात्मक होके इस प्रकार की शङ्का उठाई थी, न कि किसी दृढ़ प्रमाण के आधार से, उनके सिवा इस प्रकारकी शङ्का न तो पहिले ही किसीके चित्त में उठी थी और न अब है। किन्तु इस निर्मूल शङ्का को निराकरण करने के लिये पण्डित शङ्कर पाण्डुरङ्ग महाशय ने, जो इस नाटक की आवृत्ति अंग्रेजी के नोटों सहित १ सितम्बर सन् १८६९ में निकाली है उसकी भूमिका में बहुत उत्तम प्रकार से विस्तारपूर्वक आलोचना करके यह बात स्पष्ट सिद्ध कर दी है, कि मालविकाग्निमित्र नाटक उसी महाकवि कालिदास की रचना है, जिसने विक्रमोर्वशीय और शाकुन्तल लिखे हैं। इसके सिवा वाणीविलास-श्रीरङ्गम्-की छपी हुई इस नाटक की आवृत्ति की भूमिका में भी इस विषय का अच्छी तरह विवेचन करके यही बात सिद्ध कर दी गई है। सुतरां इस नाटक के कर्तृत्व के विषय में शङ्का का लेश मात्र भी अवकाश नहीं रहा है। विस्तार भय से उक्त विद्वानों की सार गर्भित युक्तियों को यहां उद्धृत नहीं कर सकते।

कालिदास की प्रथम रचना का माना जाता है। वस्तुतः यह अनुमान यथार्थ मालूम होता है।

अग्निमित्र की इतिहास में कुछ भी प्रसिद्धि नहीं है। इनके पिता पुष्पमित्र के विषय में ऐतिहासिक वृत्त इतना ही मिलता है, कि उसने वृहद्रथ नामक मौर्यवंश के अन्तिम राजा को मारकर पाटलीपुत्र का राज्य स्वाधीन किया था। और ग्रीकों के आक्रमण को हटाके विदर्भ तथा वरवेल को पराजित किये थे। तथा अश्वमेध यज्ञ किया था। इससे अधिक शुङ्गवंश के राजाओंका वृत्तान्त इतिहास में नहीं मिलता।

अतएव यह प्रश्न उपस्थित होता है, कि कालिदास ने अग्निमित्र का विस्तरित चरित्र मालविकाग्निमित्र-नाटक में किस आधार से लिखा? इस विषय में ऐतिहासिक विद्वान् प्रोफेसर विलसन् का मत है, कि जिस समय अग्निमित्र का राज्य-वृत्त लोगों के ध्यान में नवीन था, उसी समय इस नाटक का रचा जाना संभव है। इस कथन को मालविकाग्निमित्र के प्रकाशक पण्डित शङ्कर पांडुरङ्ग महाशय ने भी निस्सन्देह स्वीकार किया है। वस्तुत कालिदास ने अपने प्रत्यक्ष अनुभव ही से अग्निमित्र के समय के इतिहासकार का कार्य सम्पन्न करने की इच्छा से उसके चरित्र को उक्त-नाटक में ग्रथित किया जान पड़ता है।

संभव है, कि जिस समय युवराज-अग्निमित्र का अधिकार मालवा प्रान्त में था, उस समय उसने कालिदास को

आश्रय दे के अपनी सभा में रक्खा हो। इतिहास से ज्ञान पड़ता है, कि शुङ्गवश के राजा नाट्य-कला के बड़े रसिक थे। अग्निमित्र का भी नाट्य-कला का रसज्ञ और मार्मिक होना उक्त नाटक पर से स्पष्ट विदित होता है। कालिदास का भी उज्जैन, विदिशा आदि पर असाधारण प्रेम, इनके काव्यों में प्रसङ्ग प्राप्त-एक नहीं अनेक स्थलों पर-स्पष्टतया सूचन होता है। उसका कारण भी इस सम्बंध द्वारा परिस्फुट होता है।

मालविकाग्निमित्र-नाटक के प्रारम्भ के उल्लेख से स्पष्ट मालूम होता है, कि जिस समय कालिदास, महाकवि की प्रसिद्धि में आने को उत्सुक थे उस समय भास के नाटक बड़ी भारी प्रतिष्ठा प्राप्त हो रहे थे, बात यह थी कि उस समय नाट्य-साहित्य अधिक विस्तरित न होने से लोक रुचि भास, सौमिल्ल आदि के नाटकों की तरफ ही झुकी हुई थी। शायद भास आदि प्राचीन कवियों की तरफ झुकी हुई लोक-वृत्ति को अपनी तरफ फिरा के अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करने का कार्य कालिदास को कुछ कठिन मालूम हुआ होगा, एतावता यह भी संभव है, कि उसी समय उन्होंने प्रथमारम्भ ही में युवराज अग्निमित्र को मालविकाग्नि-मित्र में नायक कल्पना करके इस नाटक का प्रयोग विदिशा में विदर्भराज की विजय प्राप्ति के अवसर पर प्रशस्ति रूप में वसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में अग्निमित्र की सभा में करा के दिखलाया हो।

"नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात्" इस प्रकार के किसी नियम के अनुसार हमारे प्राचीन कवियों द्वारा अपने नाटकों में प्रायः सु-प्रसिद्ध पुराणेतिहास से नायक का निर्वाचन किया जाना देखा जाता है। शायद यह प्रणाली नाटकों के आदर्श-कवि भास द्वारा प्रचलित की गई हो। उसके पीछे के कवियों के नाटकों में भी यही प्रथा देखी जाती है। किन्तु भास जैसे कवि के नाटकों के साथ स्पर्धा करके अपनी प्रतिष्ठा स्थापन करने की इच्छा रखने वाले कालिदास ने अपने प्रथम नाटक ही में पुराणेतिहास-प्रसिद्ध नायक की योजना न करके अग्निमित्र जैसे-इतिहास में कुछ भी महत्व और प्रसिद्धि न पाये हुए, मात्र युवराज को नायक कल्पना किया, यह विषय अवश्य ही विचारणीय है?

इसकी स्पष्टता के लिये उक्त नाटक के प्रारम्भ का उल्लेख बड़ा उपयोगी है, जहां पर कालिदास ने भास के साथ अपनी स्पर्धा का प्रसङ्ग दो नाट्याचार्यों की परस्पर स्पर्द्धा के रूप में बड़ी मार्मिकता से सूचन किया है। उसमें एक आचार्य प्राचीन और एक नवीन कल्पना करके उन दोनों की नाट्य-कला की परीक्षा की स्पर्द्धा के उद्देश्य से कवि ने मालविका के नृत्याभिनय में नायक और नायिका में प्रेमारोपण किया है। यदि इस प्रसङ्ग में दो आचार्यों के स्थान पर एक ही के समक्ष कवि ने मालविका को राजा के सन्मुख उपस्थित की होती, तो भी नायक और नायिका में प्रेमाङ्कुर उत्पन्न होने का

प्रसङ्ग यह दिखा सकता था। किन्तु ऐसा न करने में कवि का अभिप्राय यह मालूम होता है, कि अपने से प्राचीन भास कवि के साथ अपनी स्पर्द्धा का प्रसङ्ग राजा की उत्सुकता और रसवृत्ति जागृत करने के लिये इस स्वरूप में रखा है। इसमें किसी स्थल पर गर्व के और किसी स्थल पर मर्म के जिन जिन वाक्यों की कवि ने योजना की है, उन पर से विदित होता है, कि ऐसा करने में कवि का अवश्य ही गूढ़ आशय है। जिसको उसने स्वयं आगे स्पष्ट कर दिया है। देखिए! नाटक के प्रारम्भ में पारिपार्श्वक द्वारा भास आदि प्राचीन कवियों को महाकवि कालिदास, प्रथम इस प्रकार धन्यवाद दिलाते हैः—

मा तावत्। प्रथितयशसां भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धान् अतिक्रम्य वर्त्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः।

फिर सूत्रधार के मुख से कहलाते हैः—

सूत्रधारः—अयि विवेकविश्रान्तमभिहितम्। पश्य,

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते मूढःपरप्रत्ययनेयबुद्धिः॥

(मालविकाग्निमित्र प्रथम अङ्क)

इस श्लोकमें, स्वयं परीक्षा न करके दूसरों के मत पर आधार रखने वालों को मूढ़ कहके उनपर कवि ने कठोर आक्षेप किया है। यह, नम्रता से नवीन आरम्भ करने वाले कवि के

नहीं, किन्तु राजाश्रय के बल से अपनी प्रतिभा के गोरव के विश्वास वाले कवि के वाक्य, भास को और उस पर अन्ध-श्रद्धा रखने वाले दर्शक-गण के उद्देश्य से हैं। और भी बहुत स्थलों पर ऐसे उद्गार है, उनको भास का उद्देश्य लक्ष्य में रख कर पढ़ने से कालिदास का क्या अभिप्राय है? सो स्पष्ट विदित हो सकता है। उक्त नाटक में दोनों आचार्य वर्त्तमान और एक ही राजा के आश्रित दिखाके व्यङ्ग्य रूप से इस प्रसङ्ग को रख के कवि ने आत्म प्रशंसा के दोप से बचने के लिये अपनी सु निपुणता सूचन की है। कालिदास ने अपने को वर्त्तमान कवि और भास आदि को 'पुराण' शब्द से स्पष्ट ही अपने से पूर्ववर्त्ती कवि कथन कर दिये है।

इससे यही अनुमान होता है, कि कालिदास को प्रथम आश्रय अग्निमित्र द्वारा ही प्राप्त हुआ होगा, और भास के साथ स्पर्द्धा करके अपनी कीर्त्ति बढ़ानें के लिये ही उन्होंने इसको नायक कल्पना किया होगा। यदि ऐसा न माना जाय तो अग्निमित्र के चरित्र में ऐसी क्या विलक्षणता है? जिसके लिये महाकवि कालिदास इसके नामका नाटक लिख कर भास के विषय में झुकी हुई लोक वृत्ति को अपनी तरफ आकर्षित करने की चेष्टा करते।

यह भी अनुमान होता है, कि इस सु-युक्ति द्वारा आशा-नुरूप प्रतिष्ठा स्थापन करने के पश्चात् कालिदास ने विक्रमो-र्वशीय और शाकुन्तल नाटक लिखे थे। उनमें इस नवीन

रीति के स्वीकार करने को कुछ आवश्यक न समझ, उसी प्राचीन-कवि-सम्प्रदायानुसार उन्होंने पुरूरव और दुष्यन्त नाम के पुराण-प्रसिद्ध नायक निर्वाचन किये हैं। किन्तु मालविकाग्निमित्र में पूर्व-प्रचलित पद्धति का अनुसरण न करने में कवि का यही अभीष्ट हो सकता है, कि वर्त्तमान-कालिक युवराज के नामका नाटक प्रथमवार ही राजा और प्रजा में समादृत होकर उस काल में प्रसिद्धि-प्राप्त भास के नाटकों के विषय में लोक-रुचिका ह्रास हो।

प्राचीन कवियों के ग्रंथों में अपने आश्रयदाता के गुण-कीर्तन से उसका गौरव सूचन करने की प्रथा जिस प्रकार अविच्छिन्न रूप से देखी जाती है, उसी प्रकार उनमें, अपने आश्रयदाता की न्यूनता के प्रसङ्ग को छिपाना अथवा ऐसे प्रसङ्ग पर मौन रहना भी देखा जाता है। इस विषय में भी कालिदास के ग्रंथों में अग्निमित्र के सम्बन्ध में बहुत अनुकूलता है।

कालिदास ने कवि-स्वभाव-सिद्ध अपने समय का चित्र अपने काव्य में अङ्कित किया है, यह अनुमान किया जाय तो स्पष्ट विदित होता है, कि उन्होंने रघुवंश के चतुर्थ, पञ्चम, षष्ठ और सप्तम तथा अष्टम सर्ग के कुछ पूर्व भाग में रूपान्तर से अग्निमित्र की राज्य-स्थिति के चार वृत्तों का प्रतिबिम्ब दिखाया है। अर्थात् मगधराज पुष्पमित्र की सार्वत्रिक-विजय, उनका अश्वमेध, अग्निमित्र का विदर्भराज-कन्या-

मालविका के साथ विवाह और अग्निमित्र को राज्याभिषेक करके पुष्पमित्र का निवृत्त होना, इन चार प्रसङ्गों को रघु का दिग्विजय, उनका राजसूय यज्ञ, अज का विदर्भ राज कन्या-इन्दुमति के साथ विवाह और अजको राज्याभिषेक करके रघुका निवृत्त होना, इस स्वरूप से कुछ गौरव के साथ वर्णन किया है। देखिए! इन्दुमति के स्वयम्बर के प्रसङ्ग का वर्णनः—

'ततो नृपाणां श्रुतवृत्तवंशा पुंवत्प्रगल्भा प्रतिहाररक्षी।
प्राक्संनिकर्षं मगधेश्वरस्य नीत्वा कुमारीमवदत्सुनन्दा॥
असौ शरण्यः शरणोन्मुखानामगाधसत्त्वो मगधः प्रतिष्ठ-।
राजाप्रजारञ्जनलब्धवर्णः परन्तपो नाम यथार्थनामा॥
काम नृपाः सन्तु सहस्रशोन्ये राजन्वतीमाहुरनेन भूमिम्।
नक्षत्रताराग्रहसंकुलापि ज्योतिष्मती चन्द्रमसैव रात्रिः॥
क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणामजस्रमाहूतसहस्रनेत्रः ।
शच्याश्चिरं पाण्डुकपोललम्बान्मन्दारशून्यानलकांश्चकार॥
अनेन चेदिच्छसि गृह्यमाणं पाणिं वरेण्येन कुरु प्रवेशे।
प्रासादवातायनसंश्रितानां नेत्रोत्सवं पुष्पपुराङ्गनानाम्॥
एवं तयोक्ते तमवेक्ष्य किञ्चिद्विस्रंसिदूर्वाङ्कमधूकमाला।
ऋजुप्रणामक्रिययैव तन्वी प्रत्यादिदेशैनमभाषमाणा'॥
(रघु० ६—२०।२५)

यहां स्वयम्बर-मण्डप में कालिदास ने सम्पूर्ण आर्यावर्त्त के राजाओं में प्रथम-स्थान मगधराज को दिया है। केवल यही नहीं, गूढोक्ति से कवि ने अग्निमित्र की प्रशंसा की हो

ऐसा भी भान होता है। 'शरण्यः शरणोन्मुखानाम्'। इस पद में विदर्भराज के शरण आने पर उसको राज्य लौटा कर उसका सत्कार किया था, उस प्रसङ्ग का और 'क्रियाप्रबन्धादयमध्वराणाम्'। इस पद से अग्निमित्र के पिता पुष्पमित्र ने यज्ञ किया था, उसका गौरव युक्त प्रशंसित वर्णन सूचन होता है। तथैव 'परतपः'। इस श्लिष्ट पद से भी शत्रु को ताप उत्पन्न करने वाला अग्नि के समान गुण वाला यथार्थनामा कह के अग्निमित्र का सूचन जान पड़ता है। एवं 'राजाप्रजारञ्जनलब्धवर्णः'। यह पद भी, प्रजा में अरोचक बौद्धधर्म को नष्ट करके इन राजाओं ने सनातन-धर्म के पुनः स्थापन से प्रजा को प्रसन्न की थी, उस बात को सूचन करता है। इसी प्रकार 'कामं नृपाः सन्तु'। इत्यादि पदों से भी मगधराजवंश की सर्वोपरि शक्ति, जो ईशा के २५० वर्ष पूर्व से १०० वर्ष पूर्व तक अग्निमित्र के समय तक विद्यमान थी, उसका सूचन किया जाना विदित होता है, इस वर्णन में भारतवर्ष के राजाओं में प्रधानता मात्र मगधराज को दी गई है, जैसी कि अग्निमित्र के समय में राज्य-स्थिति वर्तमान थी, न कि चन्द्रगुप्त और अशोक के समान एकछत्रता, क्योंकि अशोक और चन्द्रगुप्त के समय में मगधराज्य के आधिपत्य में सम्पूर्ण भारतवर्ष था और अग्निमित्र के समय में केवल मध्यभारत, पञ्जाब और काश्मीर आदि रह गये थे। और भी देखिए! इस प्रसङ्ग में इन्दुमति का मगधराज के सन्मुख ही से भाव-शून्य प्रणाम-

पूर्वक आगे जाना कवि ने लिखा है, किन्तु अन्य किसी राजा के समीप से जाती हुई का इस प्रकार विवेक-सूचक भाव प्रदर्शित करने का उल्लेख नहीं किया, यह भी मगधराज की महत्ता दिखाने को पर्याप्त है।

जिस प्रकार इस प्रसङ्ग में मगधराज की महत्ता कवि ने सूचन की है, उसी प्रकार रघु के दिग्विजय-प्रसङ्ग में रघु द्वारा भारतवर्ष के सभी राजाओं का तथा पारसीक, यवन आदि का भी पराजित होना वर्णन किया है, किन्तु उस वर्णन में भी मगधराज का तथा अग्निमित्र के अधिकृत अवन्ति आदि प्रदेशों के विषय में कवि ने युक्ति-पूर्वक मौन धारण किया है। अर्थात् मगध के सिवा उसके समीप के वङ्ग, कलिङ्ग, कामरूप, आसाम और काश्मीर आदि चारों दिशाओं की सीमा के राज्यों पर रघु का विजय-लाभ करना लिखा है, किन्तु सु-प्रसिद्ध मगध के राज्य का कुछ भी निर्देश न करके पूर्व दिशा के राजाओं को जीत कर रघु का समुद्र-तट पर आना नीचे के श्लोक में लिखकर मगध का नाम कवि ने छोड़ दिया है, देखिए:—

> पौरस्त्यानेवमाक्रामंस्तांस्ताञ्जनपदाञ्जयी ।
> प्राप तालीवनश्याममुपकण्ठं महोदधेः ॥
>
> (रघु० ४—३४)

इससे जान पड़ता है, कि अपने आश्रय-दाता मगधराज की न्यूनता दिखाना कवि ने अयोग्य जान के युक्ति-पूर्वक

ऐसा किया है। कहिये! इस अनुमान के सिवा ऐसा करने का अन्य कारण क्या हो सकता है?।

कालिदास ने विक्रमोर्वशीय और शाकुन्तल नाटकों में नायकों का पौराणिकरीति से वर्णन करके उनमें आकाश गमन आदि की दैवी शक्ति वर्णन की है—उनका अर्ध दिव्य पात्र के समान वर्णन किया है। परन्तु अग्निमित्र के विषय में ऐसा नहीं लिखा, बात यह है कि अग्निमित्र, कालिदास के समकालीन होने से उसके नाम से लिखे हुए नाटक में इस प्रकार के अलौकिक वर्णन का अवकाश न मिलने से मनुष्य पात्र के समान ही उसका वर्णन किया है। केवल यही नहीं, किन्तु कविने इसका प्रत्यक्ष राजा के समान वर्णन किया है। मालविकाग्निमित्र के पढ़ने से बहुत से प्रसङ्गों में ऐसा भान होता है, कि मानों वे प्रसङ्ग कवि के स्वयं अनुभवित हों। किसी किसी स्थल पर तो कवि, मानो राजा को प्रत्यक्ष सम्बोधन करके पटान्तर से कहता हो, ऐसा जान पड़ता है। देखिये! प्रारम्भ ही में नान्दी के श्लोक का चौथा चरण इस प्रकार है.—

सन्मार्गालोकनाय व्यपनयतु स नस्तामसीवृत्तिरीशः ।
(माल० प्रथम अङ्क)

इसमें द्विर्थ शब्दों की योजना करके कवि, मानो अन्धकारावृत लोक वृत्ति को हटाकर इस उत्तम नाटक को खोज कर निकालने के लिये तथा उसको देखने के लिये राजा की सहायता की प्रार्थना करता हो, ऐसा स्पष्ट भान

होता है। यहां 'सन्मार्ग' और 'ईश' यह दोनों शब्द द्वियर्थक हैं। इस श्लोक की काट्यवेम टीका में लिखा है:—

'सन्मार्गालोकनाय इत्यनेन अत्र कश्चिद् मार्गाभिनयः प्रतिपाद्यत इति सूच्यते। मार्गो नाम नाट्य विशेषः'।

इस नान्दी में स्पष्टार्थ में आशीर्वाद है। और गूढार्थ से 'यह राजा तुम्हारी अन्धकारावृत-दृष्टि को दूर करके उच्च प्रकार के अभिनय, नृत्य और सङ्गीत युक्त नाटक को देखने के लिये तुमको प्रेरण करे' इस प्रकार प्रार्थना की गई है।

अग्निमित्र और कालिदास का सम्बन्ध लक्ष्य में रखकर कालिदास के ग्रंथों को पढ़ते समय उनमें और भी बहुत सी सूक्ष्म बातें इनके सम्बन्ध की पुष्टि करने वाली मिलती हैं। कालिदास ने विक्रम शब्द का प्रयोग केवल दो तीन स्थलों पर ही किया है, उसी से विक्रम के साथ उनका सम्बन्ध कल्पना किया जाता है। किन्तु अग्निमित्र को सूचन करने वाले और इसकी प्रशंसा-द्योतक द्विर्थ वाक्य तो इनके काव्यों में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। रघुवंश के इन्दुमति-स्वयम्बर का प्रसङ्ग ऊपर उद्धृत हो चुका है, फिर भी देखिए! अग्निमित्र अवन्ति में युवराज के अधिकार से राज्य करता था इस लिये उसी प्रसङ्ग में अवन्ति-राज का वर्णन करते हुए कविने "आरोप्य चक्रभ्रममुष्णतेजाः"। कहा है, इस पद से भी वैसा ही सूचन होता है। पुनः रघुवंश में रघु के राज्याभिषेक-प्रसङ्ग में भी कहा है:—

'स राज्यं गुरुणा दत्तं प्रतिपद्याधिकं वभौ ।
दिनान्ते निहितं तेजः सवित्रेव हुताशनः ' ॥ (४-१)

फिर आगेः—

'अग्निवर्णमभिषिच्य राघवः स्वे पदे तनयमग्नितेजसम्'।
(१६-१)

रघुवश के प्रारम्भ में भी—

'हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकापि वा'। (१-१०)

विक्रमोर्वशीय में भी युवराज की प्रशसा में कहा हैः—

सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं च तेजसा ।

फिरः—

श्यामायते न युस्मासु यः काञ्चनमिवाग्निपु ।

(माल० अङ्क २-६)

इत्यादि वर्णनों में अग्निमित्र के नाम के पर्याय वाचक शब्दों से उसकी प्रशंसा किया जाना सूचन होता है । मालविकाग्निमित्र में और भी स्पष्टता से इसके उदाहरण मिलते हैं । देखिए ! पञ्चम अङ्क में कवि वैतालिकों के मुख से राजा की स्तुति कराता है—

'परभृतकलव्याहारेषु त्वमात्तरतिर्मधुम्
नयसि विदिशातीरोद्यानेष्वनङ्ग इवाङ्गवान् ।
विजयकरिणामालानां कैरुपोढबलस्य ते
वरद वरदारोधोवृक्षैः सहावनतो रिपुः ' ॥

इसमें वर्णन की हुई अग्निमित्र की प्रशंसा, कवि के प्रत्यक्ष

देखे हुए प्रसङ्ग का भान कराती है। इसी नाटक के अन्तिम भरत वाक्य को देखिए—

'आशास्यमीतिविगमप्रभृतिप्रजानां
सपद्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे'।

इसमें कविने अग्निमित्र 'को मुंहसे कहलाया है कि 'मैं रक्षक हूं जब तक ऐसा न सोचो कि ईतियों का विनाश न हो'। इस श्लोक की टीका में काट्यवेम लिखते हैं:—

'गोप्तु रग्निमित्रस्य कथन तत्कालराजोपलक्षणम्'।

अर्थात् 'गोप्तरि' शब्द से अग्निमित्र का तत्कालिक राजा होना सूचन होता है।

अशोक के पीछे ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी में पुष्पमित्र और अग्निमित्र ने बौद्ध-धर्म को विनष्ट प्रायः कर दिया था, कहते हैं कि इन्होंने बहुत से बौद्ध विहार भस्म करवा डाले थे। और बौद्ध गया के मन्दिर में की बुद्ध मूर्ति को हटाकर उसके स्थान पर शिव लिङ्ग की स्थापना की थी, इससे पुष्पमित्र का शिव-भक्त होना सिद्ध होता है। कालिदास के ग्रंथों में भी सर्वत्र श्री शिवजी की स्तुति है। उन्होंने कुमार-सम्भव नामका एक काव्य ही श्रीशिव चरित्र मय गुम्फित किया है। सुतरां बौद्ध-धर्म के कट्टर-शत्रु और शिव-भक्त पुष्पमित्र के समय में ही कालिदास का होना इस कारण से भी सम्भव जान पड़ता है।

कालिदास का पुष्पमित्र और अग्निमित्र के समकालीन

होने में यदि यह शङ्का की जाय, कि तत्कालिक भाष्यकार पतञ्जलि ने कंस-वध और वालि-वध नाटकों के नाम का उल्लेख किया है, उसी प्रकार कालिदास के ग्रंथों का उन्होंने सूचन क्यों न किया ? इसका उत्तर यही है, कि पुष्पमित्र के राजसूय-यज्ञ के समय में संभव है, कि भाष्यकार पतञ्जलि वयोवृद्ध हों, और कालिदास विदिशा में अग्निमित्र के समीप रहते हों, अतएव उनके अवसान समय तक कालिदास महाकवि की प्रसिद्धि में न आये हों, इस दशा में इनके ग्रंथों का भाष्यकार द्वारा किस तरह उल्लेख हो सकता है ? अथवा संभव है, कि भाष्य का निर्माण हो चुकने पर *कालिदास का या उनके ग्रंथों का भाष्यकार को परिचय* मिला हो। अतः यह शङ्का उपर्युक्त विचार में कुछ प्रतिकूलता उपस्थित नहीं कर सकती है।

ऊपर प्रदर्शित किये हुए विषयों पर विचार करने से महाकवि कालिदास को अग्निमित्र के राज्य-काल में अर्थात् ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी के तीसरे चरण में स्थापन करने का अनुमान अधिक संभव जान पड़ता है। प्रोफ़ेसर मोक्समूलर का भी यही मत है, कि विक्रमोर्वशीय और शाकुन्तल-नाटक, ग्रीकों – आक्रमण के समय के आस पास लिखे हुए मालूम होते हैं* ।

यदि यह अनुमान ठीक माना जाय तो जिन सौमिल्य आदि

* देखो ! मोक्समूलर्स हिस्ट्री ओफ़ ए, लीटरेचर पेज ३३।

कवियो के नाम का कालिदास ने उल्लेख किया है, उनका भास के पीछे और कालिदास के प्रथम अर्थात् लगभग १५० वर्ष के बोच में होना समव हो सकता है।

सभव है, कि ऊपर का प्रतिपादित विषय भ्रमात्मक हो। क्योंकि विचारों की परम्परा से मनुष्य का प्रतिकूल मार्ग में चला जाना स्वाभाविक है, जैसा कि प्राय देखा जाता है। एतदर्थ उपर्युक्त विचार—

' भवद्गिरामवशरप्रदानाय वचासि न. ।
पूर्वरङ्गप्रसङ्गाय नाटकीयस्य वस्तुन." ॥
(महाकवि माघ)

इस श्लोक के आशय के अनुसार विद्वद् समाज के आगे केवल विवेचन के लिये विनीत भाव से उपस्थित किये गये है।

कालिदास का जन्मस्थान।

कवि शिरोभूषण कालिदास के जन्म स्थान के विषय में भी कहीं स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । किन्तु कुमारसभव, रघुवश और मेघदूत आदि में हिमालय प्रदेश के वर्णन का जहा जहां प्रसङ्ग प्राप्त हुआ है, या कवि ने स्वेच्छा पूर्वक रक्खा है, उस पर से अवश्य ही यह कल्पना की जा सकती है कि इस पवित्र और रमणीय देव भूमि के विश्वमोहक सौन्दर्य ने कवि की अनुपम प्रतिभा पर अपना अत्यन्ताधिक आधिपत्य स्थापन किया है, अर्थात् इस प्रदेश के

सृष्टिसौन्दर्य के प्राकृतिक वर्णन में कवि की आन्तर्य प्रेमोर्मियों का इस प्रकार प्राबल्य है कि उसके पढ़ने से सहजही लक्ष्य में आता है कि वे वर्णन उस भूमि के स्वल्प परिचित-अल्पकालिक प्रवासी के नहीं, किन्तु भारतवर्ष की इस स्वर्गीय-वसुंधरा के लीलाङ्क में पोषण पाये हुए कवि के अपनी मातृभूमि की महत्ता-सूचक स्वाभाविक हृदयान्तर्क प्रेमोद्गार हैं। एतावता महाकवि कालिदास की जन्मभूमि काश्मीर प्रदेश के सिवा अन्य कल्पना नहीं की जा सकती। यही कल्पना सम्प्रति विद्वद् समाज में की जाती है। काश्मीर प्रान्त, प्राचीन समय में कविता-विलास का केन्द्र भी था, इस से भी इस कल्पना की पुष्टि होती है।

किन्तु मेघदूत में विदिशा से सीधा उत्तर का मार्ग-छुटा कर, उज्जयिनी के तुल्य देखने योग्य तथा सम्पत्ति-शाली अन्य देश और पुरों के होने पर भी रघुवंश के प्रणेता कवि ने मेघ को श्री रघुनाथ जी की अयोध्या को न भेजकर तथा श्री शिवजीका अनन्य भक्त होकर भी उसने विश्वेश्वर-पुरी वाराणसी का स्मरण न करके उसको पश्चिम में उज्जयिनी ही को भेजा है। उज्जयिनी विषयिक उसका प्रेम अवन्ति देश पर उमड़ कर समीप के दशार्ण-देश पर भी उमड़ा हुआ देखा जाता है, फिर उज्जयिनी के अपूर्व वर्णन में श्री महाकाल, शिप्रा आदि का वर्णन तो होना ही चाहिये था परन्तु गन्धवती-घाट को भी वह नहीं

भूला है। पूर्व मेघ का चतुर्थ-भाग केवल दशार्ण, अवन्ति और उज्जयिनी के वर्णन से पूर्ण है। इस पर से तथैव मालविकाग्निमित्र-नाटक में विदिशाधिपति अग्निमित्र का चरित्र ग्रथित कीया जाने से, तथा और भी प्रसङ्गों में मालवप्रदेश पर इनका अत्यन्त-प्रेम स्पष्ट प्रतीत होता है।

इससे सिद्ध होता है, कि कालिदास प्रथमावस्था के पीछे अपनी जन्मभूमि काश्मीर प्रदेश में शायद अधिक न रहे हों। तदनन्तर इनको राज्य मान्य, महाकवि की प्रसिद्धि प्राप्त हो जाने पर सभव है, कि इनका निवास स्वदेश में न होकर अधिकतया मालव प्रान्त में ही रहा हो। यद्यपि इस कल्पना के विषय में मनकी साक्षी के सिवा प्रमाणान्तर कुछ भी नहीं है, तथापि कुमारसम्भव, मालविकाग्निमित्र और विशेषतया मेघदूत को मनन पूर्वक देखने से अवश्य ही इस कल्पना में किसी प्रकार का सत्यांश भास हुये विना नहीं रहता।

धन्यवाद।

उपसंहार में प्रथम उन विद्वानों की सेवा में धन्यवाद समर्पण है, जो कालिदास के समय निरूपण रूप अगाधसमुद्र पर बड़े परिश्रम पूर्वक अपने ग्रन्थ और निबन्धों रूपी सेतु की रचना कर रहे हैं, जिसके विचित्र काल्पनिक-सृष्टि-सौन्दर्य द्वारा अपूर्व आनन्दानुभव करने का सौभाग्य प्राप्त हो रहा है। फिर मेघदूत के प्राचीन टीकाकारों को धन्यवाद है, जिनकी

कृपा से इस काव्य के गूढ-आशयों को, कुछ स्पष्ट करने का साहस किया गया है। तदनन्तर हिन्दी-साहित्य सम्मेलन के विद्वान्, उन सहृदय सज्जनों की सेवा में धन्यवाद अर्पण किया जाता है, जिन्होंने इस अल्पज्ञ और अपरिचित व्यक्ति के लिखे हुए '**अलङ्कार प्रकाश**' को अपनी साहित्य-परीक्षा के पाठ्य ग्रंथों में निर्वाचन करके इन पंक्तियों के लेखक को उत्साहित और अनुग्रहीत किया है।

बस, अब पतितोद्धारक भगवान् श्री राधागोविन्ददेव की अहेतुक वात्सल्य के स्मरणपूर्वक यह भूमिका समाप्त की जाती है।

"एष चेत् परितोषाय विदुषां कृतिनो वयम्"।

चैत्र शुक्ला ५ } विनीत निवेदक-
१९७२ विक्रमीयाब्दाः } कन्हैयालाल पोद्दार

हिन्दी-मेघदूत-विमर्श।

समश्लोकी पद्य और गद्यानुवाद सहित।

पूर्व मेघ।

मङ्गलाचरण।

कवित्त।

श्रीगज आनन कुम्भ शासन विराज जिन्हें
    हुए हैं समर्थ विघ्न-पुञ्ज के नशाने को।
बानी महारानी जिन्हें ध्याय वर पाना हुई
    हुए गुरु ज्ञानी अन्धकार के हटाने को॥
गङ्गा भव-व्याल-विष मङ्गा हुई ध्याय जिन्हें
    हैं जो सदा सद चित्र तमोटनि के मिटाने को
उन्हीं पाद पङ्कज वही राधागोविन्दजी के
    ध्यान दृढ़ भक्ति भव फन्द के छुड़ान को॥ १॥

मूल—कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारप्रमत्तः[१]
शापेनास्तंगमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु ॥१॥

श्लोक १—ग्रंथ के प्रारम्भ में मङ्गलाचरण करने की कविसम्प्रदाय है। वह मङ्गलाचरण प्रायः तीन प्रकार का होता है। किसी ग्रंथ में तो मङ्गलाचरण में देवता को नमस्कार की जाती है। किसी में आशीर्वाद दिया जाता है, और किसी में वर्णनीय वस्तु का सूचन किया जाता है। महाकवि कालिदास इस ग्रंथ के आदि में वर्णनीय वस्तु के सूचन रूप अर्थात् वस्तु निर्देशात्मक मङ्गलाचरण करते हुए इस श्लोक में यक्ष की तात्कालिक स्थिति प्रदर्शित करते हैं —

गद्यानुवाद—उत्तर दिशा में शैलाधिराज हिमालय के ऊपर यक्षों के अधीश श्रीमान् कुबेर की राजधानी अलका पुरी है। वहां महाराजा कुबेर ने एक यक्ष को किसी कार्य पर नियत कर रक्खा था, पर वह यक्ष, अपनी पत्नी में बड़ा अनुरक्त था, यहां तक कि जिस कार्य पर वह नियत था वह भी ठीक न कर सकता था। एक दिन इसी अपराध के कारण कुबेर ने क्रुद्ध होकर उसे अलका छोड़ कर एक वर्ष तक अपनी प्रियतमा पत्नी से अलग रहने का असह्य शाप दे दिया, उससे उसका सारा बड़प्पन खोया गया, वह

---

[१] पाठान्तर—स्वाधिकारात्प्रमत्तः जैन, न०।

The Hermitage on the Ramgiri Hill

रामगिर्याश्रम.

हिन्दी मेघदूत विमर्श, पूर्व मेघ, श्लोक–१–२

पद्यानुवाद—सेवा में हो स्खलित, पति से शाप पा वर्ष भोगी,
होके कोई, विगत-महिमा यक्ष, कान्ता-वियोगी—
रामाद्री के ललित; रहने आ, लगा आश्रमों में
सीता-स्नानोदक शुचि जहां सान्द्र थे भू-रुहोंसे ॥१॥

बेचारा विवश होकर अलका को छोड़कर उस कठिन समय को किसी पुण्य-स्थल में काटने के लिये दक्षिण के रामगिरि नामक पर्वत के आश्रमों में आकर रहने लगा—उन आश्रमों में जहां भगवती जनक नन्दिनी के स्नान किए हुए पवित्र जल से सरोवर भरे हुए थे और अत्यन्त सघन छाया वाले मनोहर वृक्ष लगे हुए थे।

शाप—भरत, सनातन, रामनाथ, हरगोविन्द और कल्याणमल की टीका में इस यक्ष के शाप का वृत्तान्त इस प्रकार लिखा है, कि कुबेर ने अपने इस भृत्य को उद्यान का रक्षक नियत कर रक्खा था इसने अपनी पत्नी के विलासों में अत्यन्त आसक्त हो के कुछ काल तक उद्यान रक्षा न की, फल यह हुआ कि ऐरावत हाथी ने उस उद्यान को विध्वंस कर डाला, इसी अपराध पर कुबेर ने यह शाप दिया था। सारोद्धारिणी और सुमतिविजय आदि जैन सम्प्रदाय के टीकाकारों ने लिखा है, कि इस-यक्ष को प्रतिदिन प्रात काल में मान सरोवर में से श्री शङ्कर की पूजा के लिये कमल लाकर देने की कुबेर की आज्ञा थी, पर प्रभात के समय अपनी प्रियतमा का सङ्ग छोड़ना असह्य मालूम होने से वह महाराजाधिराज कुबेर को रात्रि के लाये हुए ही बासी कमल देने लगा, दैवात् एक दिन कमलकोश में बैठे हुए किसी भौंरे ने कुबेर की अँगुली को डस लिया, इससे कुपित होकर उन्होंने इसको यह शाप दिया।

यक्ष—एक देवयोनि विशेष होते हैं, कहा है :—

" विद्याधराप्सरो यक्षरक्षोगन्धर्वकिन्नराः।
पिशाचो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽमी देवयोनयः " ॥
(अमरकोश)

यक्ष शब्द का अर्थ 'यक्षन्ते पूज्यन्ते इति यक्षा' है, अर्थात् जिनकी पूजा की जाय। किसीने ऐसा अर्थ किया है, कि 'इ कामदेवस्तस्येवाक्षिणी अस्येति यक्ष' अर्थात् कामदेव के समान जिनके नेत्र हों।

रामगिरि—भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने वनवास के समय में जिस पर कुछ निवास किया था, वही उनके नाम से प्रसिद्ध 'रामगिरि' पर्वत। वल्लभदेव और मल्लिनाथ आदि इस पर्वत को चित्रकूट मानते हैं, जो कि बुंदेलखण्ड में है, जिसपर भगवान् श्री रामचन्द्रजी ने अयोध्या से आ के प्रथम निवास किया था। परन्तु चित्रकूट को 'रामगिरि' कल्पना करने में, आगे-इस-मेघदूत के वर्णन किये हुए मार्गक्रम में विरोध आता है। क्योंकि यक्ष इस स्थान से मेघ को उत्तर को जाने का मार्ग बतलाता हुआ कैलास पर भेजता है, अतएव मेघ के मार्ग में के सभी स्थलों से 'रामगिरि' दक्षिण में होना चाहिए। किन्तु चित्रकूट तो बहुत ही उत्तर में आया हुआ है। एतावता नागपुर के समीप अब जो 'रामटेक' या 'रामटेकरी' नाम से प्रसिद्ध पर्वत है, उसको 'रामगिरि' अनुमान किया जाता है। मि॰ विलसन् साहिब ने लिखा है, कि उस—'रामटेकरी' पर्वत पर श्री राम, लक्ष्मण, सीताजी के मन्दिर भी हैं, और विशेष प्रसङ्ग पर वहां बहुत से यात्री एकत्र होते हैं। सारोद्धारिणी' टीका में भी यह 'रामगिरि' दण्डकारण्य के अन्तर्गत-दक्षिण ही में लिखा है। अतएव उस (रामटेकरी) को ही 'रामगिरि' मानना उचित प्रतीत होता है।

पण्डित गणपति जानकीराम दुबे ने सरस्वती पत्रिका जनवरी सन् १९ [illegible] में [illegible] र नक्शा दिया है, उसमें नागपुर के समीप के

'रामटेकरी' को 'रामगिरि' मानने के विरुद्ध कुछ युक्तियां दिखाई हैं। किन्तु उसी नक्शे में पञ्चवटी जो नासिक के पास प्रसिद्ध है, उन्होंने कुछ प्रमाण के बिना ही मद्रास प्रान्त में दिखा दी है, यही नहीं और भी बहुत से स्थान उसमें इसी प्रकार उलट पलट दिखाये गये हैं, एतावता उनका विचार सप्रमाण न होने से उनकी युक्तियों के विरुद्ध अधिक लिखना अनावश्यक है।

यद्यपि 'रामगढ़' या रामगिरि नाम से और भी नीचे लिखे कई स्थान इस समय प्रसिद्ध हैं —

(१) रामगढ या रामगिरि—रियासत वस्तर के समीप।

(२) रामटेकरी–रतनपुर के समीप।

(३) रामटेकरी–सरगुजा राज्य में।

(४) रामगढ–अमरकण्टक के पश्चिमोत्तर कोण में।

(५) रामगिरि–गोदावरी के दक्षिण में।

किन्तु इनमें से इस मेघदूत के वर्णन वाला 'रामगिरि' कोई भी नहीं हो सकता, क्योंकि इस-मेघदूत-में बताये हुए मेघ के मार्ग में रामगिरि से चलकर क्रमश उत्तर दिशा में मालक्षेत्र, आम्रकूट, नर्मदा, दशार्ण देश, वेत्रवती नदी के तट पर विदिशा भेलसा और उसके पश्चिम उज्जैन है। यदि इन उक्त स्थलों में से किसी को भी रामगिरि माना जाय तो इस मार्ग-क्रम में विरोध आता है। क्योंकि (१) वस्तर वाला रामगढ़ भारतवर्ष के मानचित्र नक्शे-में ८२° अक्षांश के पूर्व है, और विदिशा ७८° अक्षांश के पश्चिम, तब इस रामगिरि, से चलकर विदिशा किस प्रकार आ सकती है?। (२) रतनपुर के समीप वाले रामटेकरी और विदिशा के देशान्तर में कुछ ही कलाओं का मात्र अन्तर है, ये दोनों स्थान एक दूसरे के पूर्व पश्चिम हैं, न कि उत्तर दक्षिण, इससे यह भी 'रामगिरि' नहीं हो सकता (३) सरगुजा वाला रामगढ़ तो और भी पूर्व होने से रामगिरि हो ही कैसे सकता है?। (४) अमरकण्टक के वायव्य कोण वाला रामगढ़ यदि 'रामगिरि'

माना जाय तो उस (अमरकण्टक) से दक्षिण में होना चाहिए, न कि पश्चिमोत्तर, क्योंकि मेघ के मार्ग में प्रथम रामगिरि है और तदनन्तर आम्रकूट (आम्रकूट को अमरकण्टक कल्पना करना भी भ्रमात्मक है, सो आगे १७ के श्लोक में दिखाया जायगा) अब रहा (५) गोदावरी के दक्षिण वाला रामगिरि, सो वह तो हो ही नहीं सकता, जब कि श्री जानकीजी के साथ भगवान् श्री रामचन्द्रजी गोदावरी के दक्षिण भाग में रहे ही नहीं, अतएव उपर्युक्त स्थलों में ' रामगिरि ' कल्पना करना निर्मूल है।

आश्रमेषु—इस पद से कवि ने वियोगी-यक्ष की स्थिति, वहां एक ही आश्रम में नहीं, किन्तु अनेक आश्रमों में कथन करके उसकी उन्माद अवस्था की अनवस्थित चित्तवृत्ति, व्यञ्जित की है, कहा है —

' अनवस्थितचित्तस्य न जने न वने रतिः '।

जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु—इत्यादि विशेषणों से रामगिरि के आश्रमों की अत्यन्त पवित्रता और रमणीयता सूचन की गई है। श्री सीताजी के संसर्ग से यह स्थल तीर्थ रूप होके अद्यापि पवित्र माना जाता है। ' उत्तर रामचरित ' नाटक में महाकवि भवभूति ने कहा है —

' उत्पत्तिपरिपूताया किमस्याः पावनान्तरे ।
तीर्थोदकं च वन्हिश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः ' ॥ (अङ्क १-१३)

अर्थात् स्वभाव ही से लोक पावनी श्री जानकीजी की द्रव्यान्तर से शुद्धि की क्या आवश्यकता है ? तीर्थोदक [श्री गङ्गा आदि का जल] और अग्नि दूसरे द्वारा शुद्धि करने योग्य नहीं, क्योंकि वे स्वयं पावन अर्थात् दूसरों को पवित्र करने वाले हैं, इसी प्रकार श्री सीताजी भी केवल निर्दोषा ही नहीं, किंतु दूसरों को भी पावन करने वाली हैं। भाव यह है, कि तीर्थोदक और अग्नि उन [सीताजी] को पावन करने को किस प्रकार समर्थ हो सकते हैं? प्रत्युत भगवती सीता के संसर्ग से वे पावन होते हैं, जैसा कि कहा है —

" अपि मां पावयेत् साध्वी स्नात्वेतीच्छति जान्हवी "।

अलङ्कार–यहा ' रामगिरि ' की पवित्रता वर्णन में त्रैलोक्यनाथ श्री रामचन्द्रजी और जगन्माता श्री जानकीजी की अङ्गभाव है, अत द्वितीय ' उदात्त ' है।

शिक्षा–देखिए ! ग्रथारम्भ के प्रथम श्लोक ही म कवीन्द्र कालिदास ने एक देवयोनि विशेष महात्मा यक्ष का, अपनी स्त्री में अत्यन्त आसक्त हो जाने से स्वामि-कार्य में असावधानता करना, उससे, स्वामी का कोप भाजन होकर शाप पाकर महिमा से भ्रष्ट हो जाना, फिर अपना निवास स्थान छोडकर बहुत दूर जाकर अपनी प्रियतमा के विरह की दु सह वेदना भोगना, इत्यादि अनर्थों से दुखी होना कथन करके अत्यन्त विषयासक्ति का महान् अनिष्ट-कारक परिणाम दिखा कर अपने काव्य-गह्वर में छिपा हुआ कैसा सार-गर्भित उपदेश सूचन किया है।

छन्द–इस काव्य म सर्वत्र 'मंदाक्रान्ता' छन्द है। इसका लक्षण यह है —

" मन्दाक्रान्ता जलधिषडगैर्म्भौनतौताद्गुरू चेत् "।

(वृत्तरत्नाकर)

अर्थात् इस छन्द म मगण, भगण, नगण दो तगण फिर अन्त में दो गुरु, इस प्रकार सत्रह अक्षर प्रत्येक पाद म होते हैं। और चार फिर छै फिर सात अक्षरो पर विराम होता है। इसीसे महाकवि कालिदास ने इस-सन्देश काव्य में इस छन्द का प्रसङ्गोपयुक्त प्रयोग किया है, क्योकि विरहीजन को करुणा भरे सन्देश के अवसर पर क्रमश कुछ रुक, रुक के कभी धीरे और कभी उच्चस्वर से कथन करना सुकर होता है। इसके सिवा साहित्य शास्त्र में वर्षा और प्रवास के वर्णन में 'मन्दाक्रान्ता' छन्द का प्रयोग शोभाप्रद माना है महाकवि क्षेमेन्द्र ने कहा है —

पद्यानुवाद-उसका हेमी-वलय खिसला हाथ में से वहां पे
पाके कान्ता-विरह दुःख यों मास थोड़े बिताके-
आषाढ़ी के दिवस, उसने मेघ को सानु पास-
देखा, जैसे गज कर रहा वप्र-लीला-विलास ॥२॥

उसके पहुचे पर से सोने का कडा भी खिसक कर गिर गया-हाथ सूना हो गया इस तरह कुछ महीने अर्थात् आठ महीने बिता कर, उसने आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन तिरछे दाँतों के प्रहार से वप्रक्रीडा करते हुए हाथी के समान--देखने योग्य

मूल—तस्मिन्नद्रौ कतिचिदबलाविप्रयुक्तः स कामी
नीत्वा मासान्कनकवलयभ्रंशरिक्तप्रकोष्टः।
आषाढस्य [1]प्रशमदिवसे मेघमाश्लिष्टसानु
वप्रक्रीडापरिणतगजप्रेक्षणीयं ददर्श ॥ २ ॥

"प्रावृट्प्रवाससमये मन्दाक्रान्ता विराजते"।
(सुवृत्ततिलक)

मेघदूत भी प्रावृट् वर्षा और प्रवास वर्णनमय काव्य है। महाकवि कालिदास की रचना के इस मन्दाक्रान्ता छन्द की अधिक मनोहरता प्रसिद्ध है, क्षेमेन्द्र ही ने कहा है—

"सुवशा कालिदासस्य मन्दाक्रान्ता विराजते।
सदश्वदमकस्येव काम्बोजतुरगाङ्गना"॥

अर्थात् उत्तम चाबुक-सवार के वशीभूत, मन्द आक्रान्त अरबी घोड़ी के समान कालिदास के वश में होकर मन्दाक्रान्ता विशेष शोभित होती है।

ग्रंथ निर्विघ्न-समाप्ति के लिये ग्रन्थारम्भ में कवि ने यहां 'मगण' का प्रयोग किया है। 'मगण' को छन्दशास्त्र में सुफल दायक माना है।

श्लोक—२

अब, कथा संघटन के लिये मूल भूत अर्थ को इस श्लोक में कवि प्रस्ताव करता है—

उस [रामगिरि] पर्वत पर रहता हुआ वह कामी यक्ष अपनी प्रियतमा के वियोग से बड़ा ही दुर्बल होगया, इतना दुर्बल कि

---

[1] यह पाठ वल्लभदेव ने लिखा है, मल्लिनाथादिकों की प्रायः अन्य सभी टीकाओं में 'प्रथम दिवसे' पाठ है।

पद्यानुवाद–उसका हैमी-वलय खिसला हाथ में से वहां पे
पाके कान्ता विरह दुःख यों मास थोड़े बिताके–
आषाढ़ी के दिवस, उसने मेघ को सानु पास–
देखा, जैसे गज कर रहा वप्र-लीला विलास ॥२॥

उसके पहुंचे पर से सोने का कड़ा भी खिसक कर गिर गया–हाथ सूना हो गया इस तरह कुछ महीने अर्थात् आठ महीने बिता कर, उसने आषाढ़ी पूर्णिमा के दिन तिरछे दाँतों के प्रहार से वप्रक्रीडा करते हुए हाथी के समान––देखने योग्य पर्वत के शिखर पर लगे हुए मेघ को देखा–पर्वत के शिखर पर चिपटा हुआ बद्दल उसे ऐसा मनोहर मालूम हुआ, जिस तरह अपने तिरछे दाँतों की टक्कर से किले के परकोटे को ढहाने का खेल करता हुआ हाथी, सुहावना मालूम होता है।

मास थोड़े–इस पद से आठ महीने से तात्पर्य है, क्योंकि आगे उत्तर मेघ के ४६ के श्लोक में "शेषान्मासान् गमय चतुरो" कहा है।

हैमीवलय–वियोग में और आभूषणों को त्याग देने पर भी मङ्गल-कामना के लिये बायें पहुँचे में पहिना हुआ सोने का कङ्कण अथवा कड़ा। सारोद्धारिणी टीका में लिखा है, कि इससे यक्ष का विलासीपन सूचन किया गया है, क्योंकि कामीजनों को अलङ्कार प्रिय होते हैं, कहा भी है 'नाकामी मण्डन प्रियः'। अथवा कुछ लोगों का यह भी मत है, कि सोने का एक कङ्कण धारण करना वियोग का चिह्न है, जैसा कि 'शाकुन्तल' में राजा दुष्यन्त का सब आभूषण त्यागकर केवल बायें हाथ में एक कङ्कण रखना कहा है; देखिए —

"प्रत्यादिष्टविशेषमण्डनविधिर्वामप्रकोष्ठार्पितम्
बिभ्रत्काञ्चनमेकमेव वलयं श्वासोपरक्ताधरः" ॥

वप्रक्रीडा—हाथी और बैल आदि बलोन्मत्त जीव अपने दांतों से या सींगों से खेतों टीलों को या किसी दीवार को उखाड़ने की चेष्टा किया करते हैं, उसीको 'वप्रक्रीडा' कहते हैं। यहां कवि की कल्पना इस प्रकार है, कि पर्वत शृङ्ग से चिपटा हुआ काले रङ्ग का बादल, यक्ष को ऐसा दिखाई पड़ा, जैसे वप्रक्रीडा करता हुआ हाथी हो। वस्तुत यह दृश्य वर्षाकाल में बड़ा ही मनोहर मालूम होता है। महाकवि कालिदास के चित्त को इस दृश्य ने अधिक आकर्षित किया जान पड़ता है। इसी दृश्य का वर्णन आगे ५५ के श्लोक में भी किया है। फिर रघुवंश में तो चित्रकूट के इस प्रकार के मेघाच्छन्नपर्वत शिखर के दृश्य के वर्णन में इन्होंने अपना मनोभाव श्री रघुनाथजी की उक्ति द्वारा स्पष्ट ही सूचन कर दिया है, देखिए —

"धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः" ॥

भावार्थ—लङ्का से लौटते हुए भगवान् श्री रामचन्द्रजी पुष्पक विमान पर बैठे, चित्रकूट के ऊपर से जाते हुए भगवती जनकनन्दिनी से कहा करते हैं, कि हे ऊंचे नीचे अङ्गोंवाली! यह चित्रकूट मुझे गर्वीले बैल के समान मालूम होता है। बैल अपने गुहा सदृश मुख से अत्यन्त नाद करता है। यह भी अपने गुहा रूपी मुख से झरनों का घोर नाद कर रहा है। बैल के सींगों के अग्रभाग पर वप्रक्रीडा का पङ्क अर्थात् मिट्टी के टीलों पर टक्कर मारने से कीचड़ लग जाता है। इसके भी शिखर रूपी सींगों पर मेघों के चिपट जाने से काला काला कीचड़सा लगा हुआ भास होता है। यह दृश्य मेरी दृष्टि को बलात् आकर्षण करता है।

इस वर्णन में विमान में बैठे श्री रघुनाथजी को मेघाच्छन्न पर्वत शिखर के ऊपर के भाग का दृश्य दिखाई पड़ने से यहां वप्रक्रीडा में सींग पर कीचड़ लगे हुए बैल की सादृश्य है। किन्तु ऊपर-मेघदूत-वाले वर्णन में यह दृश्य यक्ष के दृष्टि पथ से कुछ ऊंचा है, इसलिये वप्रक्रीडा करते हुए हाथी की समता दी गई है। सच तो यह है, कि महाकवि कालिदास में दृष्टि-

शोक के समय क्रिश्चियन लोग हाथ पर काले रंग की पट्टी लगाये रहते हैं, संभव है, कि कदाचित् तदनुसार ऐसी कुछ प्रथा प्राचीनकाल में हमारे भारतवर्ष में भी प्रचलित हो।

आषाढ़ी के दिन—आषाढ महीने की पौर्णमासी के दिन। मूल में 'आषाढस्य प्रशमदिवसे' पाठ है। मल्लिनाथ के पूर्ववर्ती वल्लभदेव आदि टीकाकारों ने यही पाठ माना है, क्योंकि आगे उत्तर-मेघ के ४६ के श्लोक में इस समय से चार महिने पीछे देवोत्थान पर यक्ष के शाप की अवधि की पूर्णता कही है। देवोत्थान का समय कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को भी माना गया है—

"आषाढे शुक्लपक्षान्ते भगवान् मधुसूदनः।
भोगिभोगे निजां मायां योगनिद्रां समाप्नुयात्" ॥

(जयसिंह कल्पद्रुम)

मल्लिनाथ ने 'आषाढस्य प्रथमदिवसे' पाठ मानकर सौर्यमास की गणना से 'आषाढशुक्ला प्रतिपदा के दिन' ऐसा अर्थ किया है किन्तु यदि देवोत्थान, कार्तिक शु० ११ को माना जाय तो भी इस पाठ में आगे के उत्तर-मेघ के श्लो० ४६ से विरोध आता है क्योंकि आषाढ शु० प्रतिपदा से कार्तिक शुक्ला एकादशी तक ४ महिने १० दिन हो जाते हैं। यद्यपि मल्लिनाथ ने वल्लभदेव के माने हुए 'आषाढस्य प्रशमदिवसे' पाठ में भी सौर्यमास की गणना से इस वाक्य का श्रावण शुक्ला प्रतिपदा का अर्थ करके देवोत्थान तक तीन महिने दस दिन का अर्थ निकाल कर आगे के उक्त ४६ के श्लोक से विरोध आना सिद्ध किया है। किन्तु सौर्य मास की गणना न करके वल्लभदेव के पाठ की चान्द्रमास की गणना करने से कार्तिक शु० १४ तक ठीक चार महिने होते हैं, कुछ भी विरोध नहीं रहता। शायद शकार और थकार के लिपिभ्रम से बहुत से टीकाकारों ने 'प्रथमदिवसे' पाठ समझा हो, किन्तु 'प्रशमदिवसे' पाठ ही प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है।

वप्रक्रीडा—हाथी और बैल आदि मदोन्मत्त जीव अपने दांतों से या सींगों से रेती के टीलों को या किसी दीवार को उखाड़ने की चेष्टा किया करते हैं, उसीको 'वप्रक्रीडा' कहते हैं। यहां कवि की कल्पना इस प्रकार है, कि पर्वत-शृङ्ग से चिपटा हुआ काले रङ्ग का बद्दल, यक्ष को ऐसा दिखाई पड़ा, जैसे वप्रक्रीडा करता हुआ हाथी हो। वस्तुतः यह दृश्य वर्षाकाल में बड़ा ही मनोहर मालूम होता है। महाकवि कालिदास के चित्त को इस दृश्य ने अधिक आकर्षित किया जान पड़ता है। इसी दृश्य का वर्णन आगे ५५ वे श्लोक में भी किया है। फिर रघुवंश में तो चित्रकूट के इस प्रकार के-मेघाच्छन्नपर्वत शिखर के दृश्य के वर्णन में उन्होंने अपना मनोभाव भी रघुनाथजी की उक्ति द्वारा स्पष्ट ही सूचन कर दिया है, देखिए —

"धारास्वनोद्गारिदरीमुखोऽसौ शृङ्गाग्रलग्नाम्बुदवप्रपङ्कः।
बध्नाति मे बन्धुरगात्रि चक्षुर्दृप्तः ककुद्मानिव चित्रकूटः"॥

भावार्थ—लङ्का से लौटते हुए भगवान् श्री रामचन्द्रजी पुष्पक विमान पर बैठे, चित्रकूट के ऊपर से जाते हुए भगवती जनकनन्दिनी से आज्ञा करते हैं, कि हे ऊंचे नीचे अङ्गवाली! यह चित्रकूट मुझे गर्वीले बैल के समान मालूम होता है। बैल अपने गुहा सदृश मुख से अत्यन्त नाद करता है। यह भी अपने गुहा रूपी मुख से झरनों का घोर नाद कर रहा है। बैल के सींगों के अग्रभाग पर वप्रक्रीडा का पङ्क अर्थात् मिट्टी के टीलों पर टक्कर मारने से कीचड़ लग जाता है। इसके भी शिखर रूपी सींगों पर मेघों के चिपट जाने से काला काला कीचड़सा लगा हुआ भास होता है। यह दृश्य मेरी दृष्टि को बलात् आकर्षण करता है।

इस वर्णन में विमान में बैठे श्री रघुनाथजी को मेघाच्छन्न पर्वत शिखर के ऊपर के भाग का दृश्य दिखाई पड़ने से यहां वप्रक्रीडा में सींग पर कीचड़ लगे हुए बैल की सादृश्य है। किन्तु ऊपर-मेघदूत-वाले वर्णन में यह दृश्य यक्ष के दृष्टि पथ से कुछ ऊंचा है, इसलिये वप्रक्रीड़ा करते हुए हाथी की समता दी गई है। सच तो यह है, कि महाकवि कालिदास में दृष्टि-

मूल—तस्यस्थित्वा कथमपि पुरः कौतुकाधानहेतो[1]
रन्तर्वाष्पश्चिरमनुचरो राजराजस्य दध्यौ।
मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्तिचेतः
कण्ठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे ॥ ३ ॥

सौंदर्य के अनुभव और वर्णन करने की अलौकिक शक्ति थी, प्रत्येक स्थल पर उनके प्राकृतिक वर्णन में सूक्ष्मदर्शिता का परिचय मिलता है। इनकी उपमा, उत्प्रेक्षा आदि कल्पनाओं में केवल वर्णनीय विषय का समुचित सादृश्य ही नहीं, किन्तु वाच्यार्थ में एक अपूर्व चमत्कार आ जाने से सहृदय विद्वानों की चित्तवृत्ति आनन्दसुधा-स्रोत में निमग्न हो जाती है।

अलङ्कार—यहां उपमा है।

श्लोक—३,

इस श्लोक में मेघ-दर्शन से कामोद्दीपित यक्ष की उस समय की अवस्था का वर्णन है —

उस उत्कण्ठा बढ़ानेवाले-कामोद्दीपक मेघ के सामने, राजराज (कुबेर) का अनुचर-वह यक्ष-किसी भी प्रकार—बड़ी कठिनता से, विरह-दुःख के आंसुओं को रोके हुए खड़ा रहकर बहुत देर तक शोचता रहा—मेघ को देखकर अपनी प्रिया की याद आजाने से वह बड़ी ही सोचनीय-दशा को प्राप्त हो गया, उसका सारा धैर्य छूट गया, भला क्यों न छूट जाय जब कि मेघ की घटा को देखकर प्रियजन के समीप में सुखी होते हैं, वे भी धैर्य छोड़ देते हैं-संयोगियों के भी चित्त की दशा कुछ की कुछ हो जाती है, फिर भला कण्ठ से आलिङ्गन

---

[1] केतकाधानहेतो, व० म० स० रा० ह० क०।

पद्यानुवाद—इसके आगे वह धनदका भृत्य सोत्कण्ठ होके—
जैसे तैसे स्थित, अति रहा सोचता, अश्रु रोके।
छोड़ें प्रेमी-जन निकट भी; मेघ को देख धीर
होवें कैसे विकल न भला हा! वियोगी अधीर ?॥३॥

करनेवाले प्रियजन से जो दूर हैं-प्रियजन की जुदाई पाये हुए विरही हैं, उनकी तो बात ही क्या ?—वे अधीर हो जाँय तो आश्चर्य ही क्या ?

मेघालोके इत्यादि-मेघकाल शृङ्गार का उद्दीपक होने से वियोगियों को अत्यन्त सन्ताप कारक होता है। रघुवंश में भी भगवान् श्री रामचन्द्रजी अपनी वर्षाकालिक वियोगावस्था का श्री जानकीजी को स्मरण कराते हुए वर्णन करते हैं—

एतद्गिरेर्माल्यवतः पुरस्तादाविर्भवत्यम्बरलेखिशृङ्गम्
नवं पयो यत्र घनैर्मया च त्वद्विप्रयोगाश्रु समं विसृष्टम्॥
गन्धश्च धाराहतपल्वलानां कादम्बमर्धोद्गतकेसरं च
स्निग्धाश्च केकाः शिखिनां बभूवुर्यस्मिन्नसह्यानि विना त्वया मे॥

(१३। २५-२७)

अर्थात् हे प्रिये! देख! माल्यवान् पर्वत का गगनस्पर्शी शिखर सामने दिखाई देता है। यह वह शिखर है, जिस पर बादलों ने नवीन जल, और मैंने वियोग-व्यथा से व्यथित मैंने आँसू एकही साथ बरसाये थे। अर्थात् वर्षाकाल के समय तेरे वियोग की पीड़ा मुझे अत्यन्ताधिक दुःखदायिनी हो गई थी। वर्षा होने से छोटे छोटे सरोवरों में सुगन्ध आ रही थी; कदम्ब के वृक्षों पर अधखिले पुष्प शोभा पा रहे थे, और मयूरवृन्दों का मनो-

म०–प्रत्यासन्ने नभसि [1]दयिताजीविताल्म्बनार्थी
जीमूतेन स्वकुशलमयीं हारयिष्यन्प्रवृत्तिम् ।
स प्रत्यग्रैः कुटजकुसुमैः कल्पितार्घाय तस्मै
प्रीतः प्रीतिप्रमुखवचनं स्वागतं व्याजहार ॥ ४ ॥

हारी शब्द हो रहा था। किन्तु सयोग में सुख देनेवाली ये सभी सामग्रियाँ तेर वियोग में मुझे अत्यन्त त्रसदा हो गई थीं।

शिक्षा–यहा 'कुबेर का अनुचर' इस वाक्य मे पराधीन वृत्ति की निंदा व्यञ्जित की गई है।

अलङ्कार–यहा पूर्वार्द्ध में यक्ष की स्थिति रूप जो 'विशेष' अर्थ कथन है, उसका उत्तरार्द्ध में 'सामान्य' अर्थ के कथन से समर्थन रूप 'अर्थान्तर न्यास' है। और उसका अग, उत्तरार्द्ध म कहा हुआ 'काव्यार्थापत्ति' है, अत अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर है।

श्लोक—४,

अब यक्ष ने मेघ के आगे खडा होकर क्या किया ? सो कहते हैं–

श्रावण के महीने को समीप आया जानकर उस यक्ष ने अपने जी में विचार किया कि वर्षाकाल में प्रायः सभी वियोगी पुरुष प्रवास से अपने घर लौट आते ह–अतएव वर्षाऋतु में स्वाभाविक ही वियोगिनी-स्त्रियां अपने पति से मिलने की आशा रखती हैं, किन्तु मे शाप के कारण इस ऋतु में भी अपनी प्रिया से न मिल सकूंगा, कदाचित् वह बेचारी इस दुःसह्य समय में अत्यन्त विरह सन्तापित होकर मर न जाय,

---

[1] लम्बनार्थी, म० स० रा०, लम्बनार्थं, इ० क०।

पद्यानुवाद—देखी वर्षा निकट उसने, भेजना मेघ-दूत—
द्वारा, चाहा, कुशल-अबला-जीवनाधार-भूत ।
हाथों में ले नव-कुटज के पुष्प का अर्घ दे, सो—
बोला उसको स्मित-वदन हो प्रेम-सत्कार से यों ॥४॥

दुःख प्राप्त होने पर उसकी शान्ति का उपाय करने की अपेक्षा उसकी उत्पत्ति को रोकना ही श्रेष्ठ कहा है, अतएव वर्षा के प्रारम्भ ही में उसके प्राणों को आधार देने के लिये अपने कुशल सम्वाद उसके समीप पहुंचाना चाहिये । पर उन्हें अलका तक पहुंचाने वाला भी तो ऐसा हो, जिसकी वहाँ तक गम्य हो । इसी विचार में उसने सिर उठा के देखा तो अपने सामने पर्वतशृङ्ग पर लगा हुआ वही मेघ दीख पड़ा, मेघ की सर्वत्र गति समझ कर उसने मेघ ही के द्वारा अपना सन्देश भेजना स्थिर किया और कुटज के फूलों को तोडकर, उन्हीं का अर्घ देकर फिर वह मेघ को प्रीति-पूर्वक बड़ी प्रसन्नता से स्वागत के वाक्य कहने लगा ।

अर्घ्य-पुष्प भी अर्घ्य-वस्तु माना गया है, कहा है—

" रक्तबिल्वाक्षतैः पुष्पैर्दधिदूर्वाकुशैस्तिलैः ।
सामान्यः सर्वदेवानामर्घोयं परिकीर्तितः " ।

(देवीपुराण)

नभसि—नभस का अर्थ है सावन का महिना । परन्तु यह यहां वर्षा-काल का उपलक्षण मात्र कहा गया है । क्योंकि वियोगियों को केवल श्रावण ही नहीं पर सारा वर्षाकाल ही दुःसह है। मेघ का अन्धकार, उसकी गर्जना, बिजली, मयूर, पपीहा के शब्द, और प्रफुल्लित सृष्टि-सौन्दर्य आदि,

मूल—धूमज्योतिः सलिलमरुतां सन्निपातः क्व मेघः
सन्देशार्थाः क्व पटुकरणैः प्राणिभिः प्रापणीयाः।
इत्यौत्सुक्यादपरिगणयन् गुह्यकस्तं ययाचे
कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ॥ ५ ॥

सम्पूर्ण वर्षाकाल की सामग्रियाँ हैं, न कि केवल श्रावण ही की, यही वियोगियों के लिये अत्यन्त असह्य है, देखिए :—

"शिखिनि कूजति गर्जति तोयदे
स्फुरति जातिलता कुसुमाकरे।
अहह ! पांथ ! न जीवति ते प्रिया
नभसि मासि न यासि गृहं यदि ॥"

(सारोद्धारिणी टीका)

ऋतुसंहार में भी कहा है :—

"बलाहकाश्चाशनिशब्दमर्दलाः सुरेन्द्रचापं दधतस्तडिद्गुणम्।
सुतीक्ष्णधारापतनोग्रसायकैस्तुदन्ति चेतःप्रसभं प्रवासिनाम्॥"

अर्थात् अपनी गर्जनारूप मर्दलों (लड़ाई के बाजों) से युक्त, बिजली रूपी प्रत्यञ्चा वाले इन्द्र धनुष को धारण किये, तीक्ष्ण जलधारा रूपी बाणों से ये मेघ प्रवासियों की स्त्रियों के अन्तःकरणों को बल-पूर्वक पीड़ित करते हैं।

श्लोक–५,

महाकवि कालिदास यक्ष द्वारा मेघ को उसकी स्त्री के समीप सन्देश ले जाने को कहलाना चाहते हैं। परन्तु मेघ जड़ वस्तु है, वह किस प्रकार

पद्यानुवाद—अग्नी-धूमानिल-जल-मिला है कहां मेघ मूढ़ ?
ले जाने का सु-चतुर कहां कार्य सन्देश-गूढ़ ?
उत्कण्ठा से न गिन उसने याचना मेघ को, की
कामान्धों को सुधि न रहती चेतनाचेतनों की॥ ५॥

सन्देश लेजा सकता है ? इस शङ्का का वे इस श्लोक में अपनी प्रतिभा-चातुर्य्य से समाधान करते हैं—

देखिये तो अग्नि, धुआ, अनिल (वायु) और जल के संयोग से अर्थात् इन सब के मिलने से बना हुआ मेघ कहां ? और चतुर इन्द्रियों वाले प्राणियों द्वारा होने योग्य गुप्त-सन्देश ले जाने का कार्य कहां ? अर्थात् सन्देश को सुनकर नियत स्थान पर जाकर कहना यह सचेतन के करने योग्य कार्य है। पर यक्ष को इस बात का ध्यान तक नहीं रहा क्योंकि वह अपनी प्रिया के प्राण बचाने के लिये तन्मनस्क हो रहा था अतएव ऐसा कुछ विचार न करके, उस जड़ मेघ ही से प्रार्थना करने लगा—वास्तव में बात यह है कि, कामीजनों को काम के वश हो जाने पर अपनी तदाकार वृत्तियों से सजीव और निर्जीव या जड़ और चेतन में भेद समझने की शक्ति ही नहीं रहती।

कहा भी है—

"नैव पश्यति जात्यन्धः कामान्धो नैव पश्यति।
न पश्यति मदोन्मत्तस्त्वर्थी दोषान्न पश्यति॥"

कामार्ताहि, इत्यादि—कामोन्मत्त जनों की इस प्रकार की दशा का वर्णन अन्यत्र भी बहुधा मिलता है—

मूल—जातं वंशे भुवनविदिते [1]पुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याञ्चा[2] मोघा वरमधिगुणे नाधमे लब्धकामा ॥६॥

"हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिस्तस्यास्त्वयाहृता"।

(विक्रमोर्वशीय)

और भी :—

"रक्ताशोक कृशोदरी क्वनुगता त्यक्त्वानुरक्तं जनं
नो दृष्टेति मुधैव चालयसि किं वाताभिभूतं शिरः।
उत्कण्ठाघटमानषट्पदघटासंघट्टदुष्टच्छद—
स्तत्पादाहतिमन्तरेण भवतः पुष्पोद्गमोऽयं कुतः"॥

(वसुनाग)

काव्यों के सिवा पुराणादिकों में भी ऐसा वर्णन है। श्रीमद्भागवत में भगवान् श्री कृष्णचन्द्र के अन्तर्धान होने पर भी गोपीजनों की भी एतादृश अवस्था वर्णन की गई है :—

"कच्चित्तुलसि कल्याणि गोविन्दचरणप्रिये।
सहत्वालिकुलैर्बिभ्रद् दृष्टस्तेऽतिप्रियोऽच्युतः"॥

(स्कंध १०–३० । १३)

धूमज्योति, इत्यादि—यहां मेघ को धुआं, अग्नि, वायु और जल के मिलने से बना हुआ कहा गया है, जो कि इसके उत्पादक हैं। इसी पर एक कवि की उक्ति देखिये :—

---

१ पुष्कलावर्तकानाम्, जै०। २ वंध्या, व०।

पद्यानुवाद—जन्मा, ऊंचे विदित-कुलें में पुष्करावर्तकों के
स्वेच्छा-रूपी अमर-पति का जान मंत्री तुझे मैं।
हूं प्रार्थी स्त्री-विरहित, अतः याचना जो बड़ों से
खाली भी है वर, न सफला किन्तु छोटे-जनों से ॥६॥

"धूमानिलपवनविषैः पयोधरः सत्यमेवघटितोऽयम्।
अन्धयति दहति चलयति निहन्ति कथमन्यथा विरहे" ॥

अर्थात् यह मेघ सचमुच धुआं, अग्नि, वायु और विष से बना हुआ ही है। यदि ऐसा न होता तो यह प्रियजन के वियोग में वियोगियों को अन्धा कैसे बना सकता? जला कैसे सकता? उन्मत्त बना के घूर्णित कैसे कर सकता? और मार कैसे सकता? अर्थात् अपने उत्पादकों के गुण इसमें प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं।

शिक्षा—इस पद्य में कवि ने काम-विवश जनों की विचार-शून्यता का स्वरूप दिखा के लोक-शिक्षा सूचन की है।

अलङ्कार—पूर्वार्द्ध में विषमालङ्कार का प्रथम भेद है, सो चौथे चरण में कहे हुए अर्थान्तरन्यास का अङ्ग होने से यहां अङ्गाङ्गी भाव सङ्कर है।

श्लोक—६

दाता के सामने अपनी दीनता दिखाना जितना आवश्यक है, उतना ही उसको प्रसन्न करने के लिए उसकी प्रशंसा करना भी याचक का मुख्य कर्त्तव्य है। अतएव यह रीति परम्परा से प्रचलित है। इसी प्रथा के अनुसार इस श्लोक में यक्ष, मेघ की प्रशंसा और अपनी दीनता प्रकट करता है—

यक्ष, मेघ से कहने लगा कि:—

मूल—सन्तप्तानां त्वमसि शरणं तत्पयोद प्रियायाः
सन्देशं मे हर धनपतिक्रोधविश्लेषितस्य।
गन्तव्या ते वसतिरलका नाम यक्षेश्वराणाम्
बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या ॥७॥

मैं तुझे भले प्रकार जानता हूं, कि तू पुष्करावर्तक मेघों के सुप्रसिद्ध-कुल में जन्मा हुआ है, इन्द्र का मंत्री और कामरूपी-इच्छानुसार स्वरूप धारण करने वाला है, और मेरी इस समय बड़ी शोचनीय दशा है, मैं दैव-वश अपनी प्रियतमा से बड़ी दूर आ पड़ा हूं अतएव तुझ से प्रार्थना करता हूं—तेरे जैसे प्रभावशाली महापुरुष से की हुई याचना यदि सफल न होगी, तो भी अच्छी है-कुछ लज्जा का कारण न होगा, क्योंकि बड़ों से की हुई प्रार्थना यदि सफल न भी हो तो श्रेष्ठ है, किन्तु नीचजनों से वह सफल भी हो जाय तो कुछ नहीं।

अलङ्कार—यहां अर्थान्तर न्यास है। इस-अर्थान्तर न्यास द्वारा कवि ने अनुपम लोक-शिक्षाप्रद यह उत्तम उपदेश सूचन किया है, कि महाजनों ही से प्रार्थना करना चाहिये यदि वह निष्फल हो जाय तो भी लज्जाजनक नहीं, किन्तु नीचजन से की हुई प्रार्थना सफल हो जाय तो भी निन्दनीय है।

इस वर्णन का भाव उद्धव-सन्देश और हंस-दूत में इस प्रकार है :—

"इत्याश्वासादभिमतविधौ कामये त्वां नियोक्तुं
न्यस्तः साधीयसि सफलतामर्थभारो हि धत्ते"॥

(उद्धव-सन्देश, ४)

पद्यानुवाद—मैं प्यारी से विरहित-दुखी स्वामि के कोप से हूँ,
सन्तप्तों को शरणद अतः एक सन्देश, ले तू—
जा यक्षों की नगरि अलका, है वहां जो अटारी—
सो उद्यान-स्थित-गिरिशके चन्द्र से शुभ्र भारी ॥७॥

"अतोहं दुःखार्त्ता शरणमबला त्वां गतवती।
न भिक्षा सत्पक्षे व्रजति हि कदाचिद्विफलताम्" ॥
(हंसदूत ६)

श्लोक—७,

अब अलका की अपूर्व शोभा के वर्णन से यक्ष, मेघ को वहां जाने की अभिलाषा उत्पन्न कराता हुआ अपनी प्रार्थना का विषय प्रकट करता है—

हे जलद! तू सन्तप्त-जनों को शरण देने वाला है-वियोग से सन्तप्तों की, वर्षा काल में एकत्र करके और ग्रीष्म से सन्तप्तों की, पानी बरसा के तू ताप दूर करने वाला है, अतएव अपने स्वामी कुबेर के कोप (शाप) से जुदाई पाये हुए का मेरा एक सन्देश लेकर मेरी प्रियतमा के पास पहुंचा दे—तेरी इस कृपा से हम दोनों का भी सन्ताप दूर हो जायगा, इस काम के लिये तुझे यक्षों के रहने की नगरी अलका को जाना होगा-उस अलका को जिसके हर्म्य (बड़े ऊंचे सतखने महल) हैं, वे नगर के बाहिर के उपवन में विराजमान श्री शिवजी के मस्तक के चन्द्रमा की चाँदनी से नित्य ही श्वेत-प्रभा युक्त रहते हैं-यह बात स्वर्ग मेंभी नहीं; अतएव वहां जाने से तुझे स्वर्ग से भी अधिक रमणीय केवल अलका ही के नहीं, किन्तु

साक्षात् भगवान पार्वती-नाथ के अलभ्य दर्शनों का भी लाभ प्राप्त होगा।

बाह्योद्यानस्थित—इत्यादि यहा श्री शिवजी के मस्तक के चन्द्रमा की चाँदनी से अलका के भवनों की सदैव शुभ्र-कान्ती कथन की है। इसी भाव को लेकर श्री हर्ष ने इसके विपरीत कुण्डिनपुर के श्वेत-मणिमयी भवनो के प्रकाश से वहा सर्वदा पूर्णिमा की चाँदनी का दृश्य दिखाया है, देखिये –

"सितदीप्रमणिप्रकल्पिते यदगारे हसदङ्करोदसि।
निखिलान्निशि पूर्णिमातिथिनुपतस्थेऽतिथिरेकिकातिथि"॥
(नैषध,२–७६)

अलका—यक्षों के राजा कुबेर की राजधानी है, यह कैलास की मेखला में बसी हुई है।

बाह्य-उद्यान—अलका का बहिरुद्यान (उपवन) गन्धमादन है, देखिये :—

"गन्धमादनकैलासौ पूर्वपश्चायतावुभौ।
पूर्वेण मन्दरो नाम दक्षिणे गन्धमादनः॥
वनं चैत्ररथं पूर्वं दक्षिणं गन्धमादनम्"
(श्रीविष्णुपुराण)

गन्धमादन श्री शिवजी का विहार स्थल है, देखिये :—

"इत्यभौममनुभूय शङ्करः पार्थिवं च वनितासुखःसुखं
लोहितायति कदाचिदातपे गन्धमादनवनं व्यगाहत"॥
(कुमारसंभव ८)

गन्धमादन—यह दृष्टि-सौन्दर्य और उपभोग के अनेक साधनों से अत्यन्त रमणीय है। विक्रमोर्वशीय-नाटक में राजा पुरुरव का भी उर्वसी के साथ गन्धमादन पर विहार के लिये जाने का वर्णन है। केवल विहार के लिये ही नहीं, इसको तपस्थल भी पुराणों में कहा गया है। श्री मद्भागवत में राजा मुचुकन्द के आख्यान में लिखा है:—

"तपः श्रद्धायुतो धीरो निःसङ्गो मुक्तसंशयः।
समाधाय मनः कृष्णे प्रययौ गन्धमादनम्" ॥
(स्कं० १०-५२-३)

अलङ्कार—यहां अलका की रम्यता वर्णन में श्री शिवजी की समीपता, अङ्ग रूप से वर्णन है, अत उदात्त है। अथवा अलका के स्वत सिद्ध शुभ्र भवनों की श्री शिवजी के मस्तक के चन्द्रमा के प्रकाश से अधिक शुभ्रता वर्णन की जाने से 'अनुगुण' है। अथवा सन्तप्त यक्ष का संतप्तों की रक्षा करने वाले मेघ के साथ योग्य सम्बन्ध कथन से सम अलङ्कार भी है।

श्लोक—८,

इस श्लोक में यक्ष, फिर अपनी दीनावस्था का प्रकारान्तर से कथन करता हुआ, 'मेरे निमित्त तेरा गमन दूसरों को भी उपकारक होगा' यह कहता है—

तुझ आकाश में जाते हुए को प्रवासी-जनों की विरहिणी-स्त्रियां पति वियोग के कारण बिथुरी हुई अलकों को मुह पर से हटाती हुई अपने चित्त में विश्वास लाके-धैर्य धारण करके, बड़े भारी चाव से देखेंगी-उनको यह विश्वास हो

मूल—त्वामारूढं पवनपदवीमुद्ग्रहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसत्यः[१]।
कःसन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेतजायां
नस्यादन्योऽप्यहमिव[२]जनो यः पराधीनवृत्तिः॥८॥

जायगा कि वर्षा काल आ गया, अब हमारे पति भी विदेश से अवश्य लौट आवेंगे। भला क्यों न हो, तेरे आने पर-इन्द्र धनुष, बिजली और गर्जना युक्त मनो-रमणीय वर्षा का समय आया जानकर, ऐसा कौन है? जो विरह व्यथित अपनी प्रियतमा के समीप न आये, हां यदि मेरे जैसा कोई पुरुष पराधीन हो तो दूसरी बात है—मेरे ऐसे हतभागी जन ही वर्षा में अपनी प्रिया को इकली छोड़ते हैं।

अहमिव जनो यः पराधीनवृत्ति :—कवि ने इसमें पराधीन-वृत्ति की निंदा सूचन करके लोक शिक्षा गर्भित की है।

अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास है। पूर्वार्द्ध के अर्थ का उत्तरार्द्ध में समर्थन किया गया है।

केश मुंह से हटा के :—इस पद से प्रोषित-पतिकाओं का (जिन स्त्रियों के पति विदेश गये हों) धर्म सूचन किया गया है, क्योंकि ऐसी स्त्रियों को धर्मशास्त्र में केश-संस्कारादि वर्जित हैं —

---

१ आश्वसन्त्य, व० जै० प्रा०। २ त्वयमिव, जै०।

पद्यानुवाद—† जाते हुए नभ पर तुझे, केश मूँ से हटा के-
देखेंगी वे पथिक-रमणी चित्त विश्वास लाके।
तेरे आये पर विरहनी कौन प्राणप्रिया को-
रक्खे न्यारी? मम सम न हो हा! पराधीनता जो॥८॥

"क्रीडां शरीरसंस्कारं समाजोत्सवदर्शनम्।
हास्यं परगृहे यानं त्यजेत् प्रोषितभर्तृका"॥

(सारोद्धारिणी टीका)

श्लोक—९,

इस श्लोक में यात्रा की सफलता सूचक शकुनों को दिखा के यक्ष, मेघ को जाने के लिये फिर उत्सुक करता है —

देख! तू जिस-उत्तर दिशा को जाने वाला है, उसी अभिमत (इच्छानुकूल) दिशा को पवन तुझे धीरे धीरे लेजा रहा है-तेरे गमन में सहायक हो रहा है। फिर तेरे बांये तरफ यह सहर्ष पपीहा (चातक पक्षी) मधुर शब्द कर रहा है, अर्थात् ये दोनों ही बड़े शुभ-शकुन हो रहे हैं, और यहां से प्रस्थान करते ही, गर्भ-धारण करने का सदा का समय आया जान

---

† पाठान्तर—जावेगा तू पवन पथ तो।

मूल—मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथात्वां
वामश्चायं नदति मधुरं [१]चातकस्ते सगन्धः।
[२]गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते [३]नयनसुभगाः खे भवन्तं बलाकाः ॥९॥

कर, आकाश-मण्डल में उड़ती हुई बगुलियों की पाँतें, रागोन्मत्त होके स्वयं तेरे समीप आवेंगी, वे, मरकत-मणि के समान तेरे नील वर्ण के समीप में बडे बडे मोतियों की माला के सदृश शोभित होकर, नेत्रों को बडे आनन्दकारक होंगी। यह भी तेरे सौभाग्य का सूचक होगा, क्योंकि रागोन्मत्ता कामिनी स्वयं आके सेवन करें उससे बढ कर कामीजन का और क्या सौभाग्य हो सकता है ?

पवनश्चानुकूलो—पवन का अनुकूल होना एक शुभ-शकुन है। रघुवंश में भी महाराजा दिलीप के वसिष्ठाश्रम को जाते समय कहा है —

"पवनस्यानुकूलत्वात् प्रार्थनासिद्धि शंसिन." ॥
[सर्ग १-४२]

---

१ चातकस्तोयगृघ्नु, व० क०;। चातकस्ते सगर्वं, सारो० |भ० रा० स० इ० विल०।

२ गर्भाधानस्थिरपरिचया, व०;। गर्भाधानक्षमपरिचयं, विल० भ० स० इ०।

३ यह पाठ विद्युल्लता का है। और नयन सुभगं, नं० व० सारो० विल० स० इ० भ० स० ईश्व० प्रा० इत्यादि।

पद्यानुवाद–धीरे धीरे अभिमत तुझे वायु भी है चलाता
बाँये तेरे ध्वनि-मधुर को है पपीहा सुनाता।
गर्भाधानोत्सव-समय, वे जान आया सदाका
सेवेंगी आ नभ घन! तुम्हें बद्ध-माला बलाका ॥९॥

चातकस्ते सगन्धः—चातक का वाम भाग आना भी यात्रा के समय श्रेष्ठ-शकुन है —

"बर्हिणश्चातकाश्चापा ये च पुंसञ्ज्ञिता खगाः।
मृगा वा वामगा दृष्टाः सैन्यसम्पत्फलप्रदाः" ॥

(भरतमल्ल की टीका)

मयूर की भाँति मेघ के साथ चातक का भी अत्यन्त प्रेम होता है, यही नहीं, किन्तु चातक का तो जीवनाधार केवल मेघ ही है, किसी कवि ने कहा है —

"यद्यपि चातकपक्षी द्रपयति जलधरमकालवेलायाम्।
तदपि न कुप्यति जलदो गतिरिह नान्या यतस्तस्य" ॥

बद्धमाला बलाका–इसमें श्री मद्वाल्मीकि रामायण के —

मूल—तां चावश्यं दिवसगणनातत्परामेकपत्नी-
मव्यापन्नामविहतगतिर्द्रक्ष्यसि भ्रातृजायाम्।
आशाबन्धः कुसुमसदृशं प्रायशो ह्यङ्गनानां
सद्यःपाति प्रणयि हृदयं विप्रयोगे रुणद्धि ॥१०॥

"मेघाभिकामा परिसंपतन्ती संमोदिता भाति बलाकपंक्तिः।
वाताभिधूता वरपौण्डरीकी लम्बेव माला रचिताम्बरस्य" ॥

इस पद्य का भाव गर्भित है।

बलाका —बगुलिया मेघ पर बहुत आसक्त रहती है, क्योंकि वर्षा काल ही इनके गर्भ धारण करने का समय है, कहा है—

"*गर्भं बलाका दधतेऽभ्रयोगान्नाकेनिबद्धा वलयः समन्तात्*"।
(कर्णोदय)

अलङ्कार—यहां मेघ के गमन रूप कार्य की सिद्धि के लिये यक्ष की प्रार्थना रूप साधक के होते हुए, पवन की अनुकूलता, चातकों का मधुर शब्द और बलाका द्वारा सेवन ये तीनों भी साधकान्तर कथन किये गये हैं, अतः समुच्चय है।

श्लोक—१०,

इस श्लोक में निरर्थक-गमन के प्रयास की मेघ की शङ्का को यक्ष दूर करता है।

इन शुभ-सूचक शकुनोंसे निस्सन्देह मालूम होता है कि, तू मार्ग में कहीं भी न रुक के-निर्विघ्न जाकर-उस पतिव्रता—एक ही पति का सेवन करने वाली, अपनी भौजाई को अवश्य देखेगा, वह बेचारी मेरे विरह की एक वर्ष की अवधि के

पद्यानुवाद—तेरी भार्या दिन गिन रही एक भर्ता-व्रती को—
देखेगा तू रुक न पथ में जा वहां जीवती को।
होता स्नेही-हृदय जिनका पुष्प सा शीघ्र-पाती
प्रायः आशा, प्रिय-विरह में स्त्री-जनोंको जिलाती ॥१०॥

अति कठिनता से व्यतीत होनेवाले दिनों को, यह पहिला दिन बीता, यह दूसरा दिन बीता, इस प्रकार एक एक दिन गिन के व्यतीत करती हुई, एक मात्र मेरे मिलने की आशा ही से जी रही होगी। क्योंकि स्त्रियों का, पुष्प के समान—कोमल, प्रेम भरा हुआ हृदय शीघ्र पाती होता है—कुछ आघात से ही वह मुरझा कर गिर जाता है, उनको अपने प्रियतम के असह्य वियोग में आशारूपी बधन ही जीवन धारण कराता है—अतएव मेरे शाप की अवधि बीत जाने पर मेरे मिलने की आशा से वह अवश्य ही जीती हुई तुझे मिलेगी।

आशाबन्धः कुसुम सदृश—इस कथन से स्त्रियों की प्रेमी और सुकुमार वृत्ति का कवि ने बहुत मार्मिकता से निरूपण किया है। भवभूति ने भी लिखा है —

"आशातन्तुर्न च कथयतात्यन्तमुच्छेदनीयः।
प्राणत्राणं कथमपि करोत्यायताक्ष्याः स एकः"॥

(मालती माधव नाटक ९-२६)

उद्धव-सन्देश में भी देखिए —

"आशापाशैः सखि नयनचैः कुर्वती प्राणबन्धम्"। (८३)

यहा दिवस गणना में इसी आशा का प्राधान्य है। वस्तुत प्रेमातिरिक्त विषयों में भी सन्तप्तहृदयीजनों को मात्र आशा ही स्वर्गीय शीतल-स्रोत है।

मेरी भाभी—मेघ, वर्षा से सब को आनन्द देता है, इससे मेघ को 'लोकबन्धु' कहते हैं, देखिए —

"लोकबन्धुषु मेघेषु विद्युतश्चलसौहृदः"।

(श्रीमद्भागवत स्क० १०)

इसी से मेघ को बन्धु भाई, मान कर यहा 'भ्रातृ जाया' अर्थात् भौजाई, शब्द से यक्ष ने अपनी स्त्री के विषय में मेघ को पूज्यभाव मानने का सूचन किया है। क्योंकि बडे भाई की स्त्री में पूज्यभाव मानना चाहिए। देखिए ! श्री लक्ष्मणजी ने भगवती मैथिली के विषय में भगवान् श्री रामचन्द्रजी से क्या निवेदन किया है —

"नाभिजानामि केयूरे नाभिजानामि कुण्डले।
नूपुरे त्वभिजानामि नित्यं पादाभिवन्दनात्"॥

(वा०रा)

इस सम्बन्ध से और मित्र भाव से यक्ष, मेघ को इस कार्य में योजन करता है। इस प्रकार निःशङ्क प्रवृत्ति होना ही स्नेह का सत्य स्वरूप है; कहा है :—

" दर्शितानि फलत्राणि गृहेभुक्तमशङ्कितम् ।
कथितानि रहस्यानि सौहृदं किमतः परम् " ॥

(विद्युल्लता टीका)

महामहोपाध्याय पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने ११वीं संख्या के श्लोक को इस दशवीं संख्या में और इस दशवीं संख्या के श्लोक को ११ वीं संख्या में तथा विलसन् साहिब ने इस श्लोक को आठ वी संख्या में प्रसङ्गानुकूल माना है। किन्तु यह श्लोक इसी दशवीं संख्या में होना उचित प्रतीत होता है, क्योंकि ९वीं संख्या के श्लोक में यक्ष ने मेघ को गमन समय में शुभ सूचक शकुनों का होना कथन करके, अनन्तर इस दशवीं संख्या के श्लोक में उन शकुनों से प्राप्त होने वाले फल को सूचन किया है, कि जिस कार्य के लिये भेजा हुआ तू जायगा, उसकी सफलता में कुछ सन्देह नहीं है, तू यह शङ्का न कर कि " तेरी स्त्री यदि पातिव्रत्य से स्खलित हो गई हो या जीती ही न मिले तो मेरा जाना व्यर्थ होगा " क्योंकि पूर्वोक्त शकुनों के होने से निश्चय है, कि वह तुझे पातिव्रत्य में स्थित और जीती हुई मिलेगी। ११ की सख्या के श्लोक में तो हंसों का मार्ग में साथी होना कथन है, सो शकुन गणना में न होने से उसी स्थान पर होना चाहिये।

श्लोक—११,

इस श्लोक में यक्ष, यात्रा में वार्तालाप के लिये मेघ को अनायास साथी भी मिलने का सूचन करता है —

हे मेघ! तेरी गर्जना कानों को बड़ी प्यारी लगती है। वह केवल श्रवण सुखद ही नहीं है किन्तु उसके सुनते ही पृथ्वी भी फूल उठती है—उस पर छाते के समान सफेद फूल

मूल–कर्तुं यच्च प्रभवति [१]महीमुच्छिलीन्ध्रामवन्ध्यां
तच्छ्रुत्वा ते श्रवणसुभगं गर्जितं मानसोत्काः।
आकैलासाद्बिसकिशलयच्छेदपाथेयवन्तः
सम्पत्स्यन्ते नभसि भवतो राजहंसाःसहायाः॥११॥

निकल आते है, और वह फलवती हो जाती है। उसी गर्जना को सुनकर राजहंसों के झुंड के झुंड मान सरोवर को जाने के लिये उत्कण्ठित होकर कमल की नालों के तन्तुओं के टुकडे रास्ते में खाने के लिये कलेऊ (भोजन की सामग्री) लिये हुए कैलास पर्वत तक आकाश मार्ग में उड़ते हुए तेरे साथ चले जायगे—इतने लम्बे मार्ग में विनोद के लिये राजहंसों का बहुत अच्छा साथ भी तुझे मिल जायगा।

उच्छिलीन्ध्रां—छत्राकार पुष्प विशेष—जिनको प्रायः सर्प की छत्री भी कहते हैं-जिस भूमि में उत्पन्न होते हैं वह भूमि अधिक उपजाऊ होती है। कहा है –

" कालाभ्रयोगादुदिता शिलीन्ध्रा सम्पन्नसस्यां कथयन्ति धात्रीम् "। (निमित्त निदान)

मानसोत्कण्ठ—वर्षा ऋतु में मेघ की गर्जना सुन के हंस बरसात के गदले जल की शङ्का मान कर अन्यत्र से अपने प्यारे मान सरोवर पर चले जाते हैं, देखिए –

" मेघश्यामा दिशो दृष्ट्वा मानसोत्सुकचेतसां।
कूजितं राजहंसानां नेदं नूपुरशिञ्जितं "॥
(विक्रमो० ४–१४)

पद्यानुवाद—पृथ्वी को जो फलन्द करती है, बना छत्रधारी
ऐसी तेरी ध्वनि सुन हुए मानसोत्कण्ठ भारी
कैलासाद्री तक, मृदुलियें चञ्चु में कञ्ज-नाल
जावेंगे रे घन ! गगन में साथ तेरे मराल ॥११॥

" हसपङ्क्तिरपि नाथ सम्प्रति प्रस्थिता वियति मानस प्रति " ।
(घटकर्पर ६)

मानस सरोवर—यह हिमालय में है। भगवान् श्री रामचन्द्र जी को जगत्पावनी श्री गङ्गा का इतिहास कहते हुए महर्षि विश्वामित्र ने इसकी श्री ब्रह्मा जी के मन से उत्पत्ति कथन की है—

" कैलासपर्वते राम मनसा निर्मितं सर ।
ब्रह्मणा नरशार्दूल तेनेद मानस सर " ॥
(वा० रा० बा० २४ =।=)

इसी से इसका नाम मानस है। पद्म पुराणादि में वर्णन है, कि जब आकाश में से समुद्र का प्रवाह नीचे आया, तब वह सुमेरु पर गिरा और उसके चार विभाग हो के चार सरोवर हुए (१) अरुणोद, (२) शीतोद, (३) महाभद्र, और (४) मानस—जिसमें से श्री गङ्गा का प्रवाह निकला है।

कैलास—हिमालय के उत्तर में अत्यन्त ऊंची पर्वत की शाखा है यही

मूल–आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजंमुञ्चतोबाष्पमुष्णम्॥१२॥

श्री शङ्कर का निवास स्थान कैलास है। कुबेर की राजधानी अलका इसी के ऊपर है। इस को रजताद्रि भी कहते हैं। यह अत्यन्त रमणीय प्रदेश है। यहां अनेक जाति के सब ऋतुओं के पुष्प और फल वाले वृक्षों की मकरन्द सर्वदा चारों तरफ फैली रहती है। उसकी तलहटी में शोभित सरोवर के आसपास सघन छाया वाले वृक्षों की श्रेणियां लगी हैं। मयूरादि पक्षी निरन्तर मधुर-शब्द सुनाया करते हैं। समीप के जङ्गलों में ऋषिगण और यक्ष, किन्नर आदि निवास करते हैं, जाकि सब प्रकार की उपाधियों से मुक्त रहकर देवताओं के गुण-स्तवन करते रहते हैं। इसका वर्णन हमारे पुराणेतिहासों में बड़ा विचित्र किया गया है। मि० क्राफट और मि० विलसन आदि यूरोपीय विद्वानों ने भी इस का वर्णन बड़ा अच्छा किया है।

शिक्षा–वर्षा से सरोवरों में गदलापन आजाने से मेघ केथ सा हंसों का विरोध है। पर यक्ष के सन्देश लेजाने रूप परोपकार में प्रवृत्त मेघ के साथ विरोध छोड़ कर हंसों का यहां इसके साथी होना कथन करके कवि ने

पद्यानुवाद–है ऊंचा ये सुहृद, मिल तू शैल से ले निदेश
पूज्यान्घ्री से विचरण किया था यहां राघवेश।
तेरे से ये जब जब मिले स्नेह इस्का जनाता
तत्ती तत्ती चिर-विरह की बाष्प धारा बहाता ॥१२॥

यह सदुपदेश सूचन किया है, कि संसार में स्वार्थीजन के ही साथ विरोध माना जाता है, किन्तु जो परोपकार में प्रवृत्त हैं उनके साथ उनके विरोधी भी विरोध छोड़कर प्रत्युत सहायक हो जाते हैं।

राज हंस–एक जाति के हंस होते हैं। इनकी चोंच और पञ्जे सुरख होते हैं और सब अंग का वर्ण सफेद होता है। यह जब मान सरोवर को जाते हैं तो रस्ते में अपने खाने के लिये मृणाल के टूकों को लीयें जाते हैं विक्रमोर्वशीय में भी कहा है–

"पश्चात्सरः प्रतिगमिष्यसि मानसंत्व पाथेयमुत्सृज विस ग्रहणाय भूयः"। (अङ्क ४-१५)

श्लोक—१२,

इस श्लोक में रामगिरि के साथ मेघ का सख्य-भाव कल्पना करके गमन के समय उसकी आज्ञा लेने को यक्ष मेघ से कहता है—

अब तू अपने इस ऊंचे (बड़े) मित्र रामगिरि से मिल कर इसकी आज्ञा ले फि मैं जाता हू । यह बड़ा पवित्र और महाभाग है, इसके ऊपर भगवान् श्री रघुनाथ जी ने अपने चरणारविन्दों से विचरण किया था, अतएव इस पर उनके जगत्पूज्य चरणों के चिह्न अङ्कित हैं। और इसका, समय समय पर तेरे से मिलने पर बहुत दिनों के वियोग जनित तत्ती बाष्प (आंसू) गिराते हुए का, तेरे साथ स्नेह प्रकट होता है—जब जब वर्षा में नयी बूंदों का इसके स्पर्श होता है, तभी तभी यह तत्ती भाफ छोड़कर अपना प्रेम प्रकट करता है, अतएव यह तेरा सच्चा मित्र है ऐसे सज्जन और स्निग्ध प्रेमी से विना मिले और विना पूछे जाना उचित न होगा।

यहा वर्षा की बूंदों के स्पर्श से जो पर्वत में से तत्ती भाफ निकलती है उसमें तत्ते आंसुओं का श्लेष द्वारा रूपक किया गया है। प्रसिद्ध है, कि तत्ते आंसू प्रेम के और ठंड शोक के होते हैं। जड़ में चैतन्य के आरोप से जन स्वभाव का हृदयगम चित्र दे के रसवृत्ति का स्पर्श करने की शक्ति महाकवि कालिदास की वाणी में अनेक स्थलों पर दृष्टिगत होती है। विशेषतया मेघदूत में ऐसे मनोहर प्रसंग बहुत मिलते हैं।

तुङ्ग—ऊंचा—ये शब्द द्व्यर्थक है, पर्वत के पक्ष में उसका ऊंचापन का अर्थ है, मित्र-पक्ष में उच्च [उन्नत] भाव युक्त अर्थ है, उन्नत का अर्थ दिवाकर ने किया है—

" बुद्धिर्नीचपथे नात्मवृत्तिं वर्तयितुं रहः।
यस्य जातु न जायेत सोऽयमुन्नतसंज्ञितः " ॥

अर्थात् जिसकी चित्तवृत्ति नीच-पथ में कदाचित् भी न जाय। इस शब्द से मेघ के साथ रामगिरि का समान सख्य भाव दिखाया है, क्योंकि मित्रता अपने समान के साथ करना चाहिये, कहा है:—

" समानचित्तवृत्तित्वं मित्रत्वमिति दर्शितम् " ॥

यह पर्वत वही रामगिरि है जिसका वर्णन प्रथम श्लोक में है, जहां से मेघ का मार्ग प्रारम्भ होता है।

अलङ्कार—यहां पूर्वार्द्ध में रामगिरि की पवित्रता वर्णन में श्री रामपादों को अंग रूप कथन से 'उदात्त' है। और उत्तरार्द्ध में श्लेष और रूपक का अगाङ्गी भाव सङ्कर है।

श्लोक—१३,

यक्ष द्वारा मेघ को दो ही बातें वक्तव्य हैं। एक, रामगिरि से अलका तक का मार्ग, और दूसरा अपनी प्रिया को कहने के लिये सन्देश, इन दोनों में से क्रम प्राप्त, प्रथम अब, मार्ग सुनने को यक्ष कहता है—

हे मेघ! कानों से पीने योग्य—अमृत के समान, मेरा सन्देश तू पीछे सुनना—उसे मैं पीछे कहूंगा वह ऐसा सरस होगा, कि तुझे अत्यन्त प्रिय लगेगा सुनते सुनते तू तृप्त न होगा पर उसके प्रथम मुझ से अपनी यात्रा के अनुकूल मार्ग

मूल-[१] मार्गं तावच्छृणु कथयतस्त्वत्प्रयाणानुरूपं[२]
सन्देशं मे तदनु जलद श्रोष्यसि श्रोत्रपेयम्[३] ।
खिन्नः खिन्नः शिखरिषु पदं न्यस्य गन्तासि यत्र
क्षीणः क्षीणः परिलघु पयः स्रोतसां[४]चोपभुज्य॥१३॥

मार्ग, जहा जब जब तुझे रस्ते चलने की थकावट मालूम होगी, तभी तभी विश्राम लने को ऊचे ऊचे शिखरों वाले पर्वत मिलेंगे, वहां ठहरता हुआ और बारबार वृष्टि करने से तू जब जब क्षीण (दुर्बल) होगा, तभी तभी स्रोतों का (बडी नदियों के प्रवाहों का) मधुर और हलका जल मिलेगा, उसे पीता हुआ चला जायगा-जिससे न तुझे क्षुधा, पिपासा का कष्ट ही सहना पडेगा और न मार्ग के खेद जनित थकावट ही मालूम होगी । ,

लघु जल-पथ्थर, और वृक्ष आदि से रुक, रुक के बहते हुए महानदियों के प्रवाह का जल बडा हलका और पथ्य होता है, कहा है-

"उपलास्फालनाक्षेपविच्छेदैः खेदितोदकाः ।
हिमवन्मलयोद्भूताः पथ्या नद्यो भवन्त्यमूः ॥ (वाग्भट)

यहा से पूर्व मेघ के अन्त तक-रामगिरि से अलका तक, के बीच के मार्ग में आये हुए प्रसिद्ध प्रसिद्ध स्थलों का कवि ने अनुक्रम पूर्वक बहुत विचित्रता से वर्णन किया है । इस वर्णन से कवि को भारतवर्ष के भू-गोल का कैसा परिपक्व ज्ञान था, सो विदित होता है । महाकवि कालिदास के

---

१ मार्गं मत्त , जे० । २ प्रयाणानुकूल, व० । ३ श्रव्यबन्धम्,जे० ।
४ चोपयुज्य, जै० सारो० व० विल० प्रा० ।

पद्यानुवाद—मेरे द्वारा प्रथम सुन तू मार्ग-गन्तव्य तेरा
उसके पीछे रुचिर सुनना मेघ ! सन्देश मेरा ।
जायेगा तू, गिरि शिखर पे श्रान्त विश्राम पाता
स्रोतों का पी लघु-जल जहां क्षीणता भी मिटाता ॥१३॥

समय में-जिसको लगभग २००० वर्ष व्यतीत हो चुके हैं, अब के जैसे रेल्वे और टेलीग्राफ आदि सुगम-साधन उपस्थित न थे अतएव उस समय विशाल भारतवर्ष के प्रत्येक स्थान का निरीक्षण और उसका यथावत् वर्णन करने में बडे भारी अनुभव की आवश्यकता थी ।

खिन्न· खिन्न· इत्यादि—इसमें महर्षि वाल्मीकि के –

" महत्सु शृङ्गेषु महीधराणां विश्रम्य विश्रम्य पुनः प्रयान्ति " ।

इस पद्य के भाव का अनुसरण किया गया है । ·

श्लोक—१४,

अब यक्ष, मार्ग का वर्णन प्रारम्भ करता है –

इस रस भरे हुए बेंतों के वृक्षवाले-रामगिरि स्थान से, तू मार्ग में दिग्गजों की बडी बडी सूंडों के घमंड को दूर करता हुआ उत्तर दिशा को अलका की तरफ मुख करके आकाशमें ऊंचा होकर जाना तुझे जाते हुए को सिद्धों की नवयौवनवती रमणियां ऊपर को मुंह करके बड़े आश्चर्य और भय से चकित होकर देखेंगी—उन्हें आश्चर्य यह होगा कि आकाश में क्या पर्वत शिखर को पवन उड़ाये लेजा रहा है ? और भय इस बात का

मूल—अद्रेःशृङ्गं [1]हरति पवनः किंस्विदित्युन्मुखीभि-
[2]र्दृष्टोत्साहश्चकितचकितं मुग्धसिद्धाङ्गनाभिः ।
स्थानादस्मात्सरसनिचुलादुत्पतोदङ्मुखः खं
दिङ्नागानां पथि परिहरन्स्थूल[3]हस्तावलेपान् ॥१४॥

होगा कि, कहीं यह हमारे ऊपर न आ गिरे, अतएव प्रयाण के प्रारम्भ ही में भोली सिद्धाङ्गनाओं की विस्मय और औत्सक्य आदि भावों से भरी हुई दृष्टि का तू अतिथी होगा।

सिद्ध—देवयोनि विशेष होते हैं। ये वायु के मार्ग में रहने वाले और अष्ट सिद्धि युक्त होते हैं। इनको विद्याधर भी कहते हैं।

निचुल—पानी में उत्पन्न होने वाले एक जाति के बेंतों के वृक्ष होते हैं।

दिङ्नाग—आठों दिशाओं की रक्षा के लिये ऐरावत, पुण्डरीक, वामन, कुमुद, अञ्जन, पुष्पदन्त, सार्वभौम, और सुप्रतीक नाम के आठ हाथी हैं। इनमें से प्रत्येक दिशा में एक, एक, रहता है। इनको दिग्गज कहते हैं। पुराणा में कथा है, कि इन दिग्गजा के फूत्कार शब्द से वायु उत्पन्न होता है, वह मेघों को विदीर्ण करता है। इसलिये दिग्गजों के साथ मेघों की शत्रुता है। इसी से यहा मेघ को दिग्गजों का गर्व दूर करने को कहा गया है। अथवा दिग्गज अपने को अतिशय महत्काय समझते हैं, किन्तु

---

१ वहति, हर० त्रिल। २ दृष्टोच्छ्राय, विल० भ० स० रा० इ० क०।
३ हस्तावलेहान्, व०।

पद्यानुवाद-"लीये जाता गिरि-शिखर को वायु है क्या उड़ाये ? "
यों देखेंगी स-चकित तुझे मुग्ध - सिद्धाङ्गनायें
जा तू प्यारे ! इस निचुल के स्थान से उत्तराशा
दिङ्नागों का कर-मद-बढ़ा मार्ग में तू मिटाता॥१४॥

जब वे मेघ को अपने से भी विशाल देखेंगे तो उनको अपने भ्रम का ज्ञान होने पर उनका गर्व परिहार होना सूचना किया गया है। अथवा मेघ को पर्वत का शिखर समझ के उसके साथ क्रीडा करने को या वे मेघ को अपने से बडा मदोन्मत्त हाथी समझ के लडने को सूडों का प्रहार करें तो उनका गर्व हटाने के लिये मेघ को यक्ष ने कहा है।

इस श्लोक में निचुल, और 'दिङ्नाग' इन दोनों शब्दों को श्लिष्ट [दो अर्थ वाले] मानकर मल्लिनाथ ने निचुल नामक एक कवि को कालिदास का मित्र और दिङ्नागाचार्य को कालिदास का प्रतिस्पर्द्धी कल्पना करके एक दूसरा अर्थ भी किया है। परन्तु इस कल्पना में मल्लिनाथ का भ्रम है। जैसा कि भूमिका में 'कालिदास और दिङ्नाग' शीर्षक के लेख में स्पष्ट किया गया है।

अलङ्कार-यहां अभेदोक्तिसन्देहालङ्कार है। मुग्ध-सिद्धाङ्गनाओं द्वारा, मेघ में गिरि-शिखर का सन्देह किया गया है।

मूल—[1]रत्नच्छायाव्यतिकर इव प्रेक्ष्यमेतत्पुरस्ता-
द्वल्मीकाग्रात्प्रभवति धनुः खण्डमाखण्डलस्य।
येन श्यामं वपुरतितरां कान्तिमापत्स्यते[2] ते
बर्हेणेव स्फुरितरुचिना गोपवेषस्य विष्णोः॥१५॥

श्लोक-१५,

इस श्लोक में मेघ-मण्डल में इन्द्र धनुष के प्राकृतिक-दृश्य की शोभा का वर्णन है। मेघ को मार्ग-सूचन करते करते यकायक अपने सन्मुख पर्वत-शिखर पर इन्द्र-धनुष का दृश्य यक्ष के दृष्टिगत होने पर उसका दर्शन, यात्रा के समय शुभ जानकर, वह मेघ को 'उत्साहित' करने को उसका वर्णन करता है—

देख! सामने यह नयनाभिराम इन्द्र के धनुष का खण्ड अनेक रत्नों की मिली हुई पृथक् पृथक् रङ्गों की प्रभा के समान, वल्मीक के अग्र से निकल रहा है, जिससे तेरा श्याम वर्ण का शरीर मयूर-पिच्छ का मुकुट धारण किये हुए गोप-वेष में भगवान् श्रीकृष्ण के समान—शोभा को प्राप्त हो जायगा—इन्द्र के धनुष से तू ऐसा सुन्दर मालूम होने लगेगा जैसे सिरपर मोर पिच्छ का मुकुट धारण किये श्रीकृष्णचन्द्र शोभित हों।

अलङ्कार—यहां इन्द्र-धनुष को बर्होत्तंस-मुकुटधारी-गोपवेषी-श्रीकृष्ण-चन्द्र की उपमा दी गई है। इसी भाव को लेकर मधुर-कोमल-कान्त पदावली

---

१ रत्नच्छाय, जै०। २ मालप्स्यते, विल्ल० स० रा० द० क०।

पद्यानुवाद—आगे ऐन्द्री धनु कढ रहा रम्य वल्मीक से यो –
नानारङ्गीकिरण नभ में रत्न के हों मिले ज्यों ।
तेरा नीला-वपुप जिससे होयगा कान्ति धारी
जैसे बर्हाश्रित-मुकुट से गोप वेषी-मुरारी ॥ १५ ॥

के रचयिता कविवर जयदवजी न गोप-वेषी श्रीकृष्णचन्द्र का इन्द्र धनुष का उपमा दी है, देखिए –

'चन्द्रकचारुमयूरशिखण्डकमण्डलवलयितकेशम् ।
प्रचुरपुरन्दरधनुरनुरञ्जितमेदुरमुदितसुवेषम् " ॥
(गीतगोविन्द)

इस वर्णन का अनुकरण शिशुपाल-वध म भी है –

"अनुचयौ विविधोपलकुण्डलद्युतिवितानकसवलितांशुकम्।
धृतधनुर्वलयस्य पयोमुच शवलिमा बलिमानमुषो वपु " ॥
(सर्ग ६ २७)

अर्थात् इन्द्र धनुष क मण्डल स मघ की शोभा राजा बलिका अभिमान दूर करन वाल भगवान् विष्णुक श्याम वर्ण अङ्ग की कान्ति क समान दिखाई दती है–उस कान्ति क समान, जिसमें अनक रगों की मणिया क कुण्डलों की प्रभा-राशि मिला हुई थी।

ऐन्द्री धनुष–प्रयाण के समय इन्द्र धनुष का दर्शन मङ्गल-सूचक है, देखिए –

"चापमैन्द्रमनुलोममखण्ड प्राज्वल बहलमायतमिष्टम् "।
(महाभारत)

वल्मीय–इन्द्र-धनुप का वल्मीक से प्रकट होना भी ज्योतिष शास्त्र में माना गया है, देखिए –

" जलमध्येऽनावृष्टिर्भुविसस्यवधस्तरूत्थिते व्याधिः।
वल्मीके शस्त्रभयं निशि सचिववधाय धनुरैंद्रम् "

(संहितायां)

पर वल्मीक शब्द के अर्थ म मेघदूत के सभी टीकाकारो का मतभेद है। मल्लिनाथ ने इस शब्द का सर्प की बाँबी अर्थ किया है। किन्तु बाँबी से इन्द्र-धनुप के उत्पन्न होने में उसने कुछ प्रमाण नहीं लिखा। भरत ने लिखा है, कि पाताल में वासुकी-सर्प के फणों के रत्नों की कान्ति, बाँबी के मार्ग से निकलकर आकाश में प्रतिबिम्बित होती है, वही इन्द्र-धनुप है। पर यह कल्पना भी युक्ति युक्त नहीं, क्योंकि उसने भी किसी ग्रंथ का प्रमाण उद्धृत नहीं किया है।

सनातन ने " वामलूरे गिरे शृङ्गे वल्मीकपदमिष्यते " यह शब्दार्णव के इस का प्रमाण देके 'वल्मीक' शब्द का पर्वत और 'अग्र' शब्द का शिखर अर्थ किया है। तथा रामनाथ ने —

" वल्मीक. सातपो मेघो वल्मीकः सूर्य इत्यपि "।

यह, कोशान्तर का प्रमाण देके 'वल्मीकाग्रात्' इस पदका 'विनिमय (रूपान्तर) को प्राप्त होने वाली सूर्य की किरणों से' ऐसा अर्थ किया है।

नमें पिछले दोनो [सनातन और रामनाथ] का अर्थ ठीक जान पडता है, क्योंकि इस कथन म ज्योतिषशास्त्र का प्रमाण भी मिलता है, कहा है –

" सूर्यस्य विविधा वर्णा पवनेन विघट्टिता कराः साभ्रे।
वियति धनुःसंस्थाना ये दृश्यन्ते तदिन्द्रधनुः "॥

(वराहमिहिर)

वस्तुतया वर्षाकाल में कभी कभी छोटे छोटे जल कणों पर सूर्य के घाम के पडने से आकाश म बहुत से रगों का धनुषाकार दृश्य दिखाई देने लगता है। अत इन्द्र धनुष का यही प्रत्यक्ष कारण है। सूर्य के घाम म फव्वारे छुटाने से यह इन्द्र धनुष का दृश्य इच्छा हो तभी देखा जा सकता है।

श्लोक—१६,

यक्ष, फिर मेघ को मार्ग वर्णन करता है—

यह तो तू जानता ही है कि कृषि (खेती) का फल तेरे ही आधीन हैं, अतएव मार्ग में ग्रामिणी-स्त्रियां भ्रुकुटि-विलास की चतुरताओंसे रहित अपनी भोली-दृष्टि से तुझे बड़े प्रेम पूर्वक देखेंगी—तुझे वे अपना उपकारी जान के निर्विकार-दृष्टि से तेरा सत्कार करेंगी, उन भोली देहाती स्त्रियों के स्वाभाविक नेत्र-विलास का अनुभव भी मार्ग में तू करता हुआ

मूल—त्वय्यायत्तं कृषिफलमिति [1]भ्रूविलासानभिज्ञैः
प्रीतिस्निग्धैर्जनपदवधूलोचनैः पीयमानः ।
सद्यः सीरोत्कषणसुरभिक्षेत्रमारुह्य मालं
किञ्चित्पश्चाद्व्रज [2]लघुगति[3]र्भूय एवोत्तरेण ॥१६॥

जाना। इस प्रकार माल देश निवासिनी स्त्रियों से सत्कृत होता हुआ वहांके नवीन जुते हुए, मधुर-सुगन्ध-युक्त खेतों पर वर्षा करके फिर तू कुछ पीछे मुड़कर शीघ्र गति से उत्तर दिशाही को चल देना—अलका ही का मार्ग ले लेना।।

मालदेश—इसका मल्लिनाथ ने 'मालमुन्नतभूतलम्' इस उत्पलमाला कोश के प्रमाण से पर्वतों के ऊपर के खेत, अर्थ किया है। सारोद्धारिणी आदि में मालदेश, वा क्षेत्र समूह वा वनभूमि, यह अर्थ लिखा है। किसी टीकाकारने 'मालव' देश भी अर्थ किया है। डाक्टर विलसन् साहब, मालदा नाम का शहर-जो रत्नपुर से उत्तर है उसी को 'माल' अनुमान करते हैं और कप्तान ब्लट तथा कुलब्रुक साहब की ईसवी सन् १८०६ की यात्रा की पुस्तक में तथा टलेमि साहब के भूमान चित्र में विन्ध्यादि के समीप की भूमि में मालित नामक स्थान का उल्लेख, यह बतलाते हैं। किन्तु श्रीयुत

---

१ भ्रूविकारानभिज्ञैः, जै० न० वित्न० म० स० रा० ह० क०। २ प्रशलय गतिं, व०। ३ किञ्चिदेव, वित्र० म० स० रा० सारो०।

पद्यानुवाद–है तेरे ही वश कृषि, अतः ग्रामिनी कामिनी भी
देखेंगी स-प्रणय जिनमें है न भ्रू-चातुरी ही।
जोते हूए सुरभित-नये माल के खेत जाके
आगे जाना फिर झट उसी उत्तर-प्रान्त आके॥१६॥

रजनीकान्त गुप्त ने अपने कालिदास-संबंधीय भू-गौलिकतत्व विषयिक प्रस्ताव में 'माल' शब्द से छत्तीसगढ़ान्तर्गत ऊंचे और कृषि-योग्य क्षेत्र को माल-देश माना है, नकि विलसन् साहब के अनुमान किये हूए उपर्युक्त 'मालदा' को। पुराणेतिहासों में भी 'माल' शब्द जाति वाचक देखा जाता है, देखिए–

"युद्धमानान् बलात् संख्ये विजग्ये पांडवर्षभः।
ततो मत्स्यान् महातेजा मालदांश्च महाबलान्"॥

(महाभारत)

यहा 'मत्स्य' और 'माल' शब्द से देशवासियो का अर्थ ग्रहण किया गया है। एतावता इस शब्द को देश-वाचक मानना ही ठीक जाना जाता है। कुछ लोग नागपुर से लगभग ५० माईल जो रेवतमहल वा यवतमाल है उसको 'माल' अनुमान करते हैं।

अलङ्कार–यहा परिवृत्ति अलङ्कार की ध्वनि है। ग्राम्यनारियो से सत्कार पाये हुए मेघ को वहा के खेतों पर जाने को अर्थात् वृष्टि करने को कहने का विनिमय—अदल बदल, ध्वनित होता है।

मूल—त्वामासारप्रशमितवनोपप्लवं साधु मूर्ध्ना
वक्ष्यत्यध्वश्रमपरिगतं सानुमानाम्रकूटः।
न क्षुद्रोऽपि प्रथमसुकृतापेक्षया संश्रयाय
प्राप्ते मित्रे भवति विमुखः किं पुनर्यस्तथोच्चैः॥१७

श्लोक—१७,

बहुत मार्ग चलते के पाछ अब मेघ को मार्ग में आम्रकूट पर्वत पर विश्राम लेने को यक्ष कहता है —

वहां से कुछ आगे तुझे आम्रकूट पर्वत मिलेगा। वह तुझे वृष्टिद्वारा दावाग्नि को शान्त करने वाला अपना उपकारी और मार्ग का थका हुआ जानकर अपने शिखर रूपी मस्तक पर धारण करेगा। उसको ऐसा करना उचित ही है क्योंकि छोटे व्यक्ति भी अपने घर पर आये हुए अतिथि रूप स्वोपकारी जनका [जिसने पहिले अपने ऊपर उपकार किया हो ऐसे जनका] आतिथ्य सत्कार करने में विमुख नहीं होते, फिर आम्रकूट जैसे बड़ों को—उच्च शिखर (ऊंचा शिर रखने) वालों को तो बात ही क्या ? वह भला ऐसे कर्त्तव्य में क्यों चूकेगा।

आम्रकूट—विन्ध्याचल से ऐशान्य कोण म एक पर्वत है। जहा से उत्तर को जाते मार्ग में श्री नर्मदा मिलती हैं। श्रीयुत नदार्गीकरने लिखा है, कि " जिसको अब अमरकण्टक कहते हैं वही आम्रकूट है, आम्रकूट शब्द का अपभ्रंश अमरकण्टक है "। परन्तु भारत-वर्ष के मानचित्र में अमरकंटक ८२° अक्षांश के भी पूर्व है, और विदिशा [भेलसा] जिसका इस आम्रकूट से उत्तर को जाते आगे आना यहा वर्णन है वह ७८° अक्षांश के पश्चिम, फिर, यदि अमरकण्टक को आम्रकूट माना जाय तो उसके आग उत्तर को जानेपर दशार्ण-देश की राजधानी विदिशा [भेलसा] किस प्रकार आसकती

पद्यानुवाद—दावाग्नी का शमनक तुझे मार्ग का श्रान्त जान
धारेगा स प्रणय शिर पे आम्रकूटादि, सानु।
छोटे भी पा अतिथि घर पे स्वोपकारी-जनोंकी-
सेवा में हों विमुख न, भला बात क्या है बड़ों की ॥१७

है ? अतः अमरकण्टक को आम्रकूट मानना भ्रमात्मक है। इसका शब्दार्थ ना यह है, कि जिस-पर्वत का शिखर आम के वृक्षों से आच्छादित हो।

मूर्ध्ना–मस्तक पर धारण करने के कथन से यहां अत्यन्त सत्कार सूचन है।

शिक्षा–इसमें कवि ने केवल अतिथि सत्कार और कृतज्ञता का सदाचार दिखाकर ही नहीं किन्तु कृतघ्नता की निंदा भी गर्भित करके एक बहुत ही उत्तम उपदेश सूचन किया है, कहा है —

"ब्रह्मघ्ने च सुरापेच चौरे भग्नव्रते तथा।
निष्कृतिर्विहिता लोके कृतघ्ने नास्ति निष्कृतिः॥"
(व्यासदेव)

अर्थात् ब्रह्म हत्या आदि पापों के प्रायश्चित है, किन्तु कृतघ्नी के लिये कोई प्रायश्चित ही नहीं, जिससे करके वह कृतघ्नता के पाप से छूट सके। महाशय मि० विलसन् साहब ने इस उक्ति पर आल्हादित हो कर लिखा है, कि "भारतवासियों के आन्तर्य विचारों को न जानकर कुछ यूरोपियन लोगों का ख्याल है कि भारतवर्ष में कृतज्ञता की गन्ध मात्र भी मनुष्यों में नहीं मिलती है, किन्तु यदि वे इस पद्य के वर्णन का अनुभव करें तो उनको अपनी भ्रमात्मक इस निर्मूल मान्यता का भ्रम ज्ञात हो सकता है" देखिए! सत्य समालोचक इसी को कहते हैं।

अलङ्कार–यहां अर्थान्तरन्यास है। इस में श्रीमद्रामायण के —

मूल—छन्नोपान्तः परिणतफलद्योतिभिः काननाम्रै-
स्त्वय्यारूढे शिखरमचलः स्निग्धवेणीसवर्णे
नूनं यास्यत्यमरमिथुनप्रेक्षणीयामवस्थां
मध्ये श्यामः स्तनइव भुवः शेषविस्तारपाण्डुः ॥१८

"कृते च परिकर्त्तव्यमेषधर्मः सनातनः।
अतिथिः किल पूजार्हः प्राकृतोपि विजानता।
धर्मः जिज्ञासमानेन किंपुनर्यादृशो भवान्" ॥
इस वर्णन का भाव गर्भित किया गया है।

श्लोक—१८,

इस श्लोक मे आम्रकूट के शिखर स्थित मेघ के अनुपम दृश्य की शोभा का वर्णन है—

उस पर्वत पर वन के आमों के वृक्षों की अत्यन्त अधिकता है, इसीसे उसको आम्रकूट कहते हैं। इस समय वह पके हुए आमों के फलों से चारो तरफ छा रहा होगा; अतएव उसका प्रान्त भाग सुवर्ण के समान पीला हो रहा होगा उसके ऐसे आम्राच्छादित पीतवर्ण के शिखर पर जब तू तेल लगी हुई चिकने केशों की वेणी [चोटी] के समान गहरे श्याम रंग वाला बैठ जायगा, उस समय उस पर्वत का वह दृश्य, आकाश गामी देव देवाङ्गनाओं के देखने योग्य बड़ा ही हृदयहारी हो जायगा, उनको ऐसा मालुम होगा, मानों बीच में से श्याम और शेष काञ्चनीय पीतवर्ण का पृथ्वी का मनोरमणीय पीन पयोधर है।

यहां देवगण के दर्शनीय कह के पद ने मेघ को उत्साहित किया है।
अलङ्कार—उपमा और उत्प्रेक्षा की संसृष्टी है।

पद्यानुवाद-वन्याम्रों के तरु फल-पके छा रहे प्रान्त भाग
बैठेगा तू शिखर गिरिके स्निग्ध-वेणी-समान।
देखेंगे सो ललित-छवि वो, देव-देवाङ्गना यों-
मानो गोरे-भुवि-उरज के बीच में श्यामता हो ॥१८॥

इस पद्य म वर्णित दृश्य की शोभा हम, भूमिपर से नहीं देख सकते, किन्तु यह दृश्य केवल आकाश-गामी जनो ही के दृष्टिगत हो सकता है। इसी से यहा आकाश-गामी देवगणों से देखने योग्य कहा है। वर्षा के प्रारम्भ समय के सृष्टि-सौन्दर्य का यह एक बहुतही अपूर्व वर्णन है। हरे घास, वृक्ष और लताओं से छाई हुई, जल के रुपहरी प्रवाहों वाली वनभूमि, पके हुए आमों से चो तरफ पाण्डु वर्ण वाला आम्रकूट पर्वत, उसके ऊपर काले रङ्ग के मेघ की स्थिति, पृथ्वी को कामिनी स्वरूप, पर्वत को उसके स्तन रूप, इत्यादि सामग्रिया की कल्पना करके कवि ने विन्ध्याटवी क सौन्दर्य का मनोरञ्जन चित्र आखों के सामने प्रत्यक्ष दिखा दिया है। इसी प्रकार अलका तकके मार्ग क प्राकृतिक दृश्यों को कविने बहुत ही सरलता से अङ्कित किये हैं। महाकवि कालिदास की कल्पना शक्ति ऐसी अद्भुत है, कि सृष्टि सौन्दर्य का चित्र, वे अपने शब्दों द्वारा अङ्कित करके नेत्रा के सामने प्रत्यक्ष प्रदर्शित कर देते हैं, सम्पूर्ण विन्ध्याटवी का वर्णन इसका एक उत्तम उदाहरण है। उत्तम चित्रकार द्वारा अङ्कित सृष्टि-सौन्दर्य के चित्र, जिस प्रकार दृष्टि-मर्यादा को दूरातिदूर खचकर ले जाते हैं, उसी प्रकार इनके शब्द-मयी चित्र भी इस उत्तमता से अङ्कित हैं, कि उनके साथ हमारी दृष्टि अनेक वस्तुओं को देखती और उनका आनन्दानुभव करती हुई दूर तक चली जाती है।

मूल—[1]स्थित्वा तस्मिन् वनचरवधूभुक्तकुञ्जे मुहूर्तं
[2]तोयोत्सर्गद्रुततरगतिस्तत्परं वर्त्मतीर्णः ।
रेवां द्रक्ष्यस्युपलविषमे विन्ध्यपादे विशीर्णां
भक्तिच्छेदैरिव विरचितां भूतिमङ्गे गजस्य॥१६॥.

———

श्लोक—१६,

इस श्लोक में आम्रकूट से चल के आगे आनेवाली श्री नर्मदा का वर्णन है—

उस—आम्रकूट की कुञ्जें भी बड़ी सुन्दर हैं, उनमें वन-चारणी रमणीयां यथेष्ट विहार किया करती हैं। तू वहां घड़ी भर अवश्य ठहर कर मार्ग की थाक उतार लेना। और पानी की वर्षा करके उसकी ग्रीष्म-ताप भी शान्त करना। वर्षारूपी प्रेमाश्रु छोड़ने से उसपर केवल तेरा स्नेह ही प्रकट न होगा, किन्तु तू हलका भी हो जायगा, जिससे तेरी शीघ्र-गति हो जायगी-तू अधिक वेग से चल सकेगा। आगे कुछ मार्ग चलके तुझे बड़े ही विषम-ऊंचे नीचे पथरीले विन्ध्याचल के प्रान्त भाग में फैली हुई टेढ़ी धाराओं से बहने वाली श्री नर्मदा मिलेगी। वह तुझ आकाशगामी को दूरसे-विशाल-काय हाथी के काले काले शरीर पर सफेद खड़िया की रेखाओं से बनी हुई चित्रकारी के समान—बहुत ही मनोहर दीख पड़ेगी।

अलङ्कार—यहां विन्ध्याचल की हाथी की और श्री नर्मदा की भूति-रेखा की समता दी जाने से पूर्णोपमा है।

---

१ तस्मिन् स्थित्वा, जै०। २ तोयोत्सर्गाद्द्रुत, सारो० विम० म० स० रा० क०। तोयोत्सर्गोद्धुततर, हर०।

पद्यानुवाद-भोगी हुई वनचर-वधू-कुञ्ज जिसकी, वहां तू-
होके थोड़ा स्थित, बरस के शीघ्रगामी हुआ तू।
आगे फैली, उपल बिखरे विन्ध्य के पाद रेवा
देखेगा, जा, द्विरद-तनमें ज्यों लगी भूति रेखा॥१९॥

रेवा—यह नर्मदा का नाम है। इसका माहात्म्य भी श्रीभागीरथी के समान ही कहा है, देखिए—

"गङ्गास्नानेन यत्पुण्य तद्रेवा दर्शनेन च।
यथा गङ्गा तथा रेवा तथा देवी सरस्वती॥
सम पुण्यफल प्रोक्त स्नानाद्दर्शनचिन्तनै"॥

(महिमसिंह गणि टीका)

इसका श्री शिवजी के देह से उत्पन्न होना लिखा है—

'नर्मदा सरिता श्रेष्ठा रुद्रदेहाद्विनि सृता।
तारयेत् सर्व भूतानि स्थावराणि चराणि च'॥

यह अमरकण्टक से निकल कर लगभग ८०० माईलका मार्ग काटती हुई पश्चिम में खंभात के आखात में मिलती है। इसका प्रवाह ऊंचे पर्वत से रुकता है, जिससे यह निकलने का मार्ग तलाश करती करती विषम गति से बहती है। कहीं कहीं इसका विंध्याचल से निकलना भी प्रसिद्ध है, इसका कारण यह कहा जाता है, कि चारों तरफ से पर्वत माला से घिरी विन्ध्याचल की किसी निम्नभूमि के विस्तृत कुण्डाकार स्थल में, इसका प्रवाह गिर-कर इधर जाने से एक झरने का रूप होकर बहुतसी छोटी छोटी नदियों को प्रकट करके वहां से निकला है।

मूल-तस्यास्तिक्तैर्वनगजमदैर्वासितं वान्तवृष्टि-
[१]र्जम्बूकुञ्जप्रतिहतरयं तोयमादाय गच्छेः ।
अन्तः सारं घन तुलयितुं नानिलश्शक्ष्यति त्वां
रिक्तस्सर्वो भवति हि लघुः पूर्णता गौरवाय॥२०॥

विन्ध्य-हिन्दोस्थान के मध्य भाग में पूर्व पश्चिम आया हुआ पर्वत है। यह बहुत विस्तृत है। उत्तर में इसका कुछ भाग श्री गङ्गा तक पहुच गया है। और दक्षिण म श्री गोदावरी तक फैला हुआ है यह उत्तर हिन्दोस्थान और दक्षिण हिन्दोस्थान का विभाग करने वाला मर्यादा रूप माना जाता है।

श्लोक—२०,

इस श्लोक म श्री नर्मदा के प्रवाह की रमणीयता और इनके जलका गुण वर्णन है—

हे घन ! वर्षा की वमन [उलटी] करके—आम्रकूट पर पानी बरसा के, उस नर्मदा का जल पीके आगे जाना। क्योंकि यह जल हाथियो के मद मिलने से सर्वदा सुगन्धित रहता है और जामन के सघन वृक्षों से रुक, रुकके मन्दगति से बहता है, अतएव बहुत हलका है, ऐसा सुगन्धित और हलका जल तुझे वमन करने के पीछे पीना गुणकारी होगा और उस के पीलनपर तेरे में भारीपन भी आ जायगा, फल यह होगा

---

१ जम्बूखण्ड, व।

पद्यानुवाद-जाना, वर्षा-वमन कर, तू, तिक्त वो नीर-शुद्ध-
पीके उसका, गज-मद-मिला जम्बु-कुञ्जावरुद्ध।
अन्तर्भारी घन, घन! नहीं तू उड़ेगा हवा से
रीते होते लघु, जगत में भार है पूर्णता में॥ २० ॥

कि पवन तेरा पराभव न कर सकेगा-वह तुझे मन चाहे जहां न उड़ाले जा सकेगा, क्योंकि संसार में जो रीते [खाली] हैं, वे सभी हलके [अपमान के योग्य] होते हैं। और जिनमें पूर्णता है अर्थात् भरे हुये हैं, वे भारी [मान के योग्य] होते हैं।

गज मद मिला-हिमाचल, विन्ध्याचल, और मलयाचल, ये तीनों हाथियों के उत्पन्न होने के मुख्यस्थान हैं, कहा है-

'हिमवद्विन्ध्यमलया गजानां प्रभवा नगाः'।

इसी से विन्ध्य में बहने वाली नर्मदा का जल हाथियों के मद से मिला हुआ यहां कहा गया है। क्योंकि मद टपकते हुए हाथी जब नदी में जल-केलि करते हैं तब उनका मद मिल जाने से जल सुगन्धित हो जाता है। यहां 'अन्तःसार' के आगे 'घन' सम्बोधन औचित्य सूचन करता है।

वमन-इस शब्द के प्रयोग से और जल के 'तिक्त' तथा 'जम्बुकुञ्जावरुद्ध' इन विशेषणों से कवि ने यह की उक्ति में एक विलक्षण भाव रक्खा है। यह सूचन किया है, कि जैसे किसी को वमन हो जाने पर उसके लिये तिक्त [सुगन्धित] और हलका पानी पथ्य है, उसी प्रकार तुझ मेघ को भी वर्षा रूपी वमन करने के पीछे नर्मदा का तादृश गुण युक्त हितकर जल पीके आगे जाना उचित होगा। वाग्भट ने कहा है —

"कषायाश्चाहिमास्तस्य विशुद्धौ श्लेष्मणो हिताः।
किमु तिक्तकषाया वा ये निसर्गात्कफापहाः"॥

मूल-नीपं दृष्ट्वा हरितकपिशं केसरैरर्धरूढै-
राविर्भूतप्रथममुकुलाः कन्दलीश्चानुकच्छम्।
[1]दग्धारण्येष्वधिकसुरभिं गन्धमाघ्राय चोर्व्याः
सारङ्गास्ते जललवमुचः सूचयिष्यन्ति मार्गम्॥२१॥

"कृतशुद्धेः क्रमात्पातपेयादेः पथ्यभोजिनः।
वातादिभिर्न बाधा स्यादिद्रियैरिव योगिनः॥"

अलङ्कार-यहां अर्थान्तर न्यास है।

शिक्षा-इस में एक बड़ा सार गर्भित उपदेश सूचन किया है, कि संसार में निस्सार में तुच्छता और पूर्णता में गौरव है। किसी कवि ने कहा है-

"गुणयुक्तोऽप्यधो याति कूपे रिक्तो घटो यथा।
गुणहीनोऽपि सम्पूर्णो जनैः शिरसि धार्यते"॥

अर्थात् रीता गुण युक्त भी नीचा गिरता है, और सम्पूर्ण (भरा हुआ) गुण-विहीन भी शिर पर धारण किया जाता है, जैसे घड़ा।

श्लोक-२१,

इस श्लोक में ग्रीष्म-सन्तापित वनस्थली में मेघागमन से आई हुई प्राकृतिक मनोहरता का वर्णन है-

हे नीरद! पीले और नीले वर्ण के कुछ कुछ खिले हुए नीप [कदम्ब] के फूलों को तथा नदी-तट के समीप कछारों में कदली की नवीन कलियों को देखकर और जले हुए वनों

---

[1] जग्ध, नं०।

पद्यानुवाद-नीले पीले लख अधखिले नीप को मोद पाते
फूलों में की मुकुलित नयी कन्दली को चबाते।
लेते सींची-वन-भुवि-बढ़ी-गन्ध सारङ्ग-माते-
भावेंगे हे जलद! सुन तू मार्ग तेरा बताते ॥२१॥

में वर्षा से भीजी हुई अतएव अधिक सुगन्ध वाली पृथ्वी का गन्ध लेके, आनन्दोन्मत्त सारङ्ग तुझ छोटी छोटी बूंदें बरसाते हुये के मार्ग को सूचन करेंगे–तू बरसता हुआ जिस जिस मार्ग से जायगा, वहीं वहीं पृथ्वी पर बड़ी रमणीयता हो जायगी। फल यह होगा कि सारङ्गों [मयूर, हिरन, भौंरे और चातकों] के समूह ऐसी प्रमोद-जनक सामग्री पाकर आनन्दित होके तुझे मार्ग बताते हुये तेरे आगे आगे चले जायेंगे, मार्ग पूछने की तुझे ज़रूरत न पड़ेगी। अथवा जहां जहां कदम्ब के फूल आदि के प्रेमी सारङ्ग समूह दृष्टिगत होंगे, वहां वहां तेरे द्वारा वृष्टि का होना अनुमान किया जायगा कि मेघ इस मार्ग से गया है।

सारङ्ग– इस शब्द से सारो० महि० लक्ष्मीनिवास और सुमतिविजय ने भ्रमर, हरिण, चातक और हाथी इन चारों का अर्थ ग्रहण किया है, क्योंकि कदम्ब-पुष्पों की सुगन्ध के लोभी भ्रमर, नवीन कदली की कलियों को खाने वाले मृग, पृथ्वी के गन्ध के अनुसार हाथी और मेघ के प्रेमी चातक ये सभी मेघ के साथी हैं। कोश में इस शब्द का अर्थ इन चारों का सूचक है—'सारङ्गश्चातके भृङ्गे कुरङ्गे च मतङ्गजे' (विश्वकोश) मल्लिनाथ ने इसका हाथी और मृग या हरिण अर्थ ग्रहण किया है, और पूर्ण सरस्वती ने चातक, भृङ्ग और हरिण तीनों का। वल्लभदेव ने केवल 'मयूर' ही अर्थ लिखा है।

मूल-अम्भोविन्दु[1]ग्रहणचतुरांश्चातकान् वीक्षमाणाः
श्रेणीभूताः परिगणनया निर्दिशन्तो वलाकाः।
त्वामासाद्यस्तनितसमये मानयिष्यन्ति सिद्धाः।
सोत्कम्पानि प्रियसहचरीसम्भ्रमालिङ्गितानि ॥२२॥

अलङ्कार-यहा सारङ्ग शब्द में अभङ्ग पद श्लेष है।

श्लोक-२२,

इस श्लोक में वर्षा कालीन आकाश [अन्तरिक्ष] की प्राकृतिक शोभा का वर्णन है, पिछले श्लोक में वर्षाकालीन धवल वनस्थली की रमणीयता का वर्णन किया गया था —

तेरे गमन से केवल भूमि पर ही नहीं, आकाश में भी बडी रमणीयता छा जायगी। चातक पक्षी तेरी पानी की बूंदों को अधर-ऊपर की ऊपर मुँह में लेंगे। बगुलियां पाँत बाँध बाँधकर उडने लगेंगी। उन चातकों का ऐसा चातुर्य देखते हुए और उन बक पाँतों को अपनी सहचरियों को [सिद्धाङ्गनाओं को] गिन,गिन के दिखलाते हुए सिद्ध जन [आकाश गामी देवगण] तेरा बडा उपकार मानगे, बात यह है कि तेरी गर्जना के समय डरी हुई, अतएव कम्पायमान होकर उनकी वे सहचरियाँ अपने आप उनके अङ्ग में आ लिपटेंगी तेरे निमित्त से प्रियाओं के आलिङ्गन का आनन्द उन्हें स्वयं—विना मांगा प्राप्त हो जायगा तब भला वे तेरा अनुग्रह क्यों न मानेंगे।

---

१ ग्रहणरभसान्, विल० सारो०। † इस श्लोक को, वल्लभ, मल्लिनाथ, पूर्ण सरस्वती आदि ने प्रक्षिप्त-पीछे से मिलाया हुआ माना है।

पद्यानुवाद-लेते वर्षा-कण सु-पटुता देखते चातकों की
बद्धश्रेणी गगन गिनके जो दिखाते बकों की।
मानेंगे वे गुण बहुत ही सिद्ध तेरा विहारी
भारी तेरी ध्वनि सुन डरीं अङ्क में देख प्यारी॥२२॥

यहां सिद्धाङ्गनाओं की स्वाभाविक भीरुता और मृदुता सूचन की गई है। रघुवंश में भी भगवती सीताजी की मेघ-गर्जना-जनित भीरुता का भगवान् श्री रामचन्द्र के मुख से ऐसा ही वर्णन है, देखिए –

'पूर्वानुभूतं स्मरता च यत्र कम्पोत्तरं भीरु तवोपगूढम्।
गुहाविसारीण्यतिवाहितानि मया कथश्चिद् घनगर्जितानि॥"
(सर्ग १३-२८)

भावार्थ-हे भीरु! जिस समय, मैं इस-माल्यवान् पर्वत पर ठहरा हुआ था उस समय गुफाओं के भीतर प्रतिध्वनित होने वाली बादलों की गर्जना सुन मुझे बारम्बार अनुभव किया हुआ तुझ डरी हुई का कम्पयुक्त आलिङ्गन स्मरण हो आने से बडी ही कठिनता से मैं उस गर्जना को सह सकता था अर्थात् मेघगर्जना सुन तू डरकर कांपती हुई मेरे अङ्क में आ-जाती थी यह बात याद आजाने से मेरा धैर्य छूट जाता था। महाकवि माघ ने भी इस वर्णन का अनुकरण किया है, वह भी देखिए –

" प्रणयकोपभृतोऽपि पराङ्मुखाः सपदि वारिधरारवभीरवः।
प्रणयिनः परिरब्धुमथाङ्गना ववलिरे वलिरेचितमध्यमाः "॥
(शिशु० ६-३८)

अर्थात् क्रीडा में कुपित इसी से पराङ्मुख अर्थात् मानवती स्त्रियां भी वर्षाकाल में जब मेघ की गर्जना हुई तो उससे डरकर अपनी उदरस्थल की

मूल-उत्पश्यामि द्रुतमपि सखे मत्प्रियार्थं यियासोः
कालक्षेपं ककुभसुरभौ पर्वतेपर्वते ते।
शुक्लापाङ्गैः [१]सजलनयनैः स्वागतीकृत्यकेकाः
प्रत्युद्यातः कथमपि भवान् गन्तुमाशु व्यवस्येत्॥२३

त्रिवली का मिटाती हुई-घबडाकर-बडी शीघ्र अपने प्रियतमों को आलिङ्गन करने को प्रवृत्त होगई —मेघ-गर्जना सुनके उसका मान स्वयं छूट गया।

अलङ्कार-यहा सिद्धा को, प्रिया आलिङ्गन रूप उत्कण्ठित अर्थ की विना यत्न सिद्धि होने से प्रथम 'प्रहर्षण' है।

श्लोक-२३,

इस श्लोक म वर्षा-कालीन पर्वतस्थली के चित्ताकर्षक दृश्य का वर्णन है। वहा पर मार्ग म मेघ को विलम्ब होने का अनुमान करके यक्ष, अपने उक्ति चातुर्य म उसका अनुमोदन करता हुआ सा निषेध करता है।

हे मित्र ! यद्यपि तू मेरी प्रिया के समीप सन्देश पहुंचाने के लिये शीघ्र जाना चाहेगा तथापि मैं सोचता हूं कि मार्ग में ककुभ [अर्जुन] वृक्षों के पुष्पों की मनोरमणीय सुगन्ध से महकते हुए प्रत्येक पर्वत पर तुझे कहीं समय न लग जाय। वहां सजल नेत्र किये हुए सफेद कोयों वाले कलापी-मयूर स्वागत वचन रूप अपनी मधुर वाणी से तेरा बडा सत्कार करेंगे, अतएव उसे पाकर तेरा चित्त आगे जाने को कदाचित् शीघ्र न हो, तथापि किसी भी प्रकार से तू शीघ्र गमन करना-अर्थात् उस आनन्द में मग्न होकर वहां अधिक समय तक ठहर कर मेरे सन्देश पहुँचाने में विलम्ब न करना।

---

१ सनयनमन ।

पद्यानुवाद-चाहे जाना झट यदपि तू पास मेरी प्रिया के
देरी होगी ककुभ-महके पर्वतों में वहां पे।
आनन्दाश्रू-युत सु-स्व से मान देंगे कलापी
कैसे भी तू गमन करना शीघ्र प्यारे! तथापि ॥२३॥

स्वागतीकृत्य—वर्षा काल में मयूरों का यौवन प्राप्त होता है, इस से वे मेघ को देख उन्मत्त होके नाचने लगते हैं, देखिए —

'नवाम्बुमत्ता शिखिनो नदन्ति मेघागमे कुन्दसमानदन्ति'।
(घटकर्पर)

और भी—

"अथ नभसि निरीक्ष्य व्याप्तदिक्चक्रवालं
सजलजलदजालं प्राप्तहर्षप्रकर्षः।
विहितविपुलबर्हाडम्बरो नीलकण्ठो
मदमृदुकलकण्ठो नाट्यमङ्गीचकार" ॥
(लोलिम्बराज का हरिविलास ३-५१)

इसी से मेघ का मयूरों द्वारा सन्मानित होना कहा गया है।

देखिए! विन्ध्याटवी का यह कैसा मनोरम वर्णन है। चारों ओर मेघाच्छन्न आकाश, टेढ़ी धाराओं से बहता हुआ नर्मदा का प्रवाह, फूले हुए कदम्ब पुष्प, नवीन-कन्दलित कदली के वन, गन्ध-लोलुप भ्रमर-पुञ्ज की मधुर गुञ्ज, मृगों के यूथ, पृथ्वी का सुवास लेते हुए स्वच्छन्द मदोन्मत्त हस्ति-समूह, पानी की बूंदें अधर लेते हुए चातक, काले बदल में सफेद उड़ती हुई बक पंक्ति, कुटज-पुष्प से सुगन्धित पर्वत-माला, मेघ की काली घटा, और उन्मत्त मयूरों की दिक् पूरित कूक, इत्यादि सामग्रियों से कवि

मूल-पाण्डुच्छायोपवनवृतयः केतकैः सूचिभिन्नै
र्नीडारम्भैर्गृहबलिभुजामाकुलग्रामचैत्याः ।
त्वय्यासन्ने [१]परिणतफलश्यामजम्बूवनान्ताः
सम्पत्स्यन्ते कतिपयदिनस्थायि हंसा दशार्णाः॥२४॥

ने विन्ध्याटवी की विविध रम्यता का यह शब्द चित्र बड़ा ही हृदयङ्गम अङ्कित किया है ।

अलङ्कार—यहां मयूर की वाणी में स्वागत-वचन का अभेद-आरोप होने से रूपक है । प्रसिद्ध टीकाकार मल्लिनाथ ने यहां परिणामालङ्कार माना है, किन्तु जहां आरोप्यमाण उपमान स्वयं किसी कार्य के करने में असमर्थ होने से प्रकृत उपमेय के साथ एक रूप हो के उस कार्य को करने में समर्थ हो, वहां 'परिणाम' होता है, और जहां अप्रकृत-उपमान स्वयं वह कार्य करने को समर्थ होता है वहां रूपक, बस यही भेद रूपक और परिणाम में है । यहां मयूर की वाणी में स्वागत वचन का आरोप है, सो केवल स्वागत-वचन द्वारा भी आतिथ्य रूप कार्य हो सकता है, तब यहां परिणाम अलङ्कार समझना केवल भ्रम है । इसका प्रमाण महाकवि जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' में देखियेगा ।

श्लोक—२४,

इस श्लोक में वर्षा-कालीन दशार्ण-देश की रमणीयता का वर्णन है—

आगे चलकर तू दशार्ण देश पहुंचेगा, वह तेरे पहुंचने पर अर्थात् वर्षा होनेपर, बड़ा रमणीय हो जायगा । वहां केवड़े के सूचि भिन्न पत्रों से उपवनों [सहर के बाहर के बागों] की बाड़ें मैंड कुछ पीलापन लिए—भूरे रंग की हो जाँयगी । ग्राम के निकट के चैत्य (वट आदि पूज्य वृक्ष) ग्राम के पक्षीगणों के नीड़ों [घोंसलों] से व्याप्त हो

पद्यानुवाद—पीली बाड़ें उपवन, खिले—केवड़े से बनेंगे,
ग्रामी-चैत्यों पर खग वहां नीड़ आके रचेंगे।
होगी हंसस्थिति कुछ ; पके श्याम-जम्बू-वनान्त,
तेरे जाने पर घन ! बड़ा रम्य होगा दशार्ण ॥२४॥

जाँयगे-अतएव उनपर सघनता हो जॉयगी, फल पक-कर जामनों के वनों पर श्यामता आजायगी—उनके बाहरी भाग श्यामही श्याम दीखने लगेंगे और हंसों की स्थिति भी कुछ दिन अवश्य रहेगी। यह पहाड़ी प्रदेश होने के कारण वहां के जलाशय वर्षा होने पर भी शीघ्र मलीन नहीं होते हैं अतएव अन्यत्र की भांति तेरे पहुचते ही हंस वहां से न चल देंगे।

सूचिभिन्नैः—कलियों के अग्रभाग खिले हुए, मल्लि०। क्षुद्रकण्टक व्याप्त, महिम०। गर्भ के कण्टकों से विदारित, वल्लभ०। आधेखिले, सुमति०।

चैत्य—मार्ग के वृक्ष, मल्लि०। पीपल आदिक पूज्य वृक्ष या देवस्थान, सारो० महि० सुम०। बौद्ध-स्थान या पूज्य वृक्ष, वल्लभ, लक्ष्मीनि०।

श्यामजम्बूवनान्ताः—इस वाक्य के 'अन्त' पद का मल्लिनाथ ने शब्दार्णव कोश का प्रमाण देकर 'रम्य' अर्थ किया है, किन्तु कालिदास के काव्यों में यह शब्द रम्य के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है, रघुवंश के १–२२, १–२६, ११–१६ और ११–२४ इन श्लोकोंमें वन-भूमि के लिये इस शब्द का प्रयोग है, इससे प्रोफे० ईश्वरचन्द्र विद्या० आदि ने इसका 'वन-भूमि' अर्थ ही ठीक माना है। श्री हृषीकेश शास्त्री ने इसका 'सीमा प्रदेश' अर्थ किया है। वल्लभ, भरत, सना०, राम०, हर०, और विल०, आदि ने 'कृष्णा जम्बूवनानियत्र' अर्थात् 'श्याम हैं जम्बू के वन जहापर ऐसा अर्थ किया है।

मूल—तेषां दिक्षुप्रथितविदिशालक्षणां राजधानीं
गत्वा सद्यः [1]फलमविकलं कामुकत्वस्य लब्धा।
तीरोपान्तस्तनितसुभगं पास्यसि [2]स्वादु यत्त-
त्सभ्रूभङ्गं मुखमिव पयो [3]वेत्रवत्याश्चलोर्मि॥२५॥

दशार्ण—नर्मदा के उत्तर के एक देश का नाम है। अब का भूपाल राज्य कालिदास के समय में इस-दशार्ण में ही शामिल था। भरत आदि टीकाकारों ने इसका दश ऋण अर्थात् दश जिला वाला देश ऐसा अर्थ किया है। प्रो० विल्सन् साहब का मत है, कि 'दशार्ण' नाम की नदी विन्ध्य के उत्तर भाग में से निकलती है, इसीसे उस देश का दशार्ण नाम हुआ होगा। उनका अनुमान यह है, कि यह देश छत्तीसगढ़ प्रदेश का ही एक भाग है, जो कि मालव देश के पूर्व भाग में आया हुआ है, यहांपर बहुतसी नदियां हैं जिनमें मुख्य वेत्रवती है जिसका, वर्णन इसके अगले श्लोक में है। जो हो, यह देश बहुत प्राचीन काल से इसी नाम से प्रसिद्ध है, महाभारत में भी इसका बहुत स्थलोंपर उल्लेख है—

'विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभु'।
'तत्र दशार्णको राजा सुधर्म्मा लोमहर्षणम्।
कृतवान् भीमसेनेन महद्युद्ध निरायुधम्'॥ इत्यादि।

वस्तुतः दशार्ण शब्द का देश के अर्थ में बहुवचनान्त प्रयोग होने से इस देश का बहुत विस्तार सूचन होता है।

---

१ फलमपिमहत्, ज०। फलमतिमहत्, विल० वियु०। २ स्वादु यत्र, जै०। स्वादुयुक्त, विल०। स्वादु यस्मात् ईश्व० प्रा०। ३ चलोर्म्या, जै०, विय०।

पद्यानुवाद—आगे, जाके विदित विदिशा राजधानी वहां की
होगी तेरी रसिक! सफला कामकी वासना भी।
पीवेगा तू चलित-लहरी-[१] नीर वेत्रावती से
स-भ्रू-भङ्गी-[२] मुख-मधु यथा तीर धीर ध्वनी से॥२४॥

अलङ्कार—यहां मेघ के उत्तम गुण से दशार्ण को शोभा रूप गुण प्राप्त होना कथन होने से 'उल्लास' है।

श्लोक–२५,

इस श्लोक में मेघ को कामी-नायक और विदिशा में बहने वाली वेत्र-वती–नदी को विलासिनी-नायिका रूप वर्णन है—

उन दशार्ण देशों की राजधानी 'विदिशा' नाम की नगरी बडी प्रसिद्ध है, वहां जाने पर तुझे शीघ्र ही कामीपन का फल मिल जायगा—तू कृत कृत्य हो जायगा। बात यह है कि वहां वेत्रवती नदी बहती है, तू, उसके तट पर मन्द-मन्द गर्जना करता हुआ, मन्द-पवन से सञ्चालित सूक्ष्म तरङ्गोंवाली उस नदी का जल इस प्रकार पान करेगा जैसे कोई विलासी जन, हठ पूर्वक विलासिनी-नायिका के, प्रेम तथा कोप से चढी हुई भृकुटी वाले मुख [अधर रस] का पान करता है।

तीरोपान्तस्तनितसुभग—इस पद का मल्लिनाथ ने क्रिया विशेषण माना है, इसी के अनुसार ऊपर अर्थ लिखा गया है। वल्लभ, सुमति, और सारोद्धारिणीकारने इस पद को वेत्रवती के मुख का विशेषण माना है। यदि मुख का विशेषण माना जाय तो ऐसा अर्थ होगा, कि

पाठान्तर १ नीर वेत्रावती का। २ मुख मधु मनो तीर-धीर-ध्वनी का।

मूल--नीचैराख्यं गिरिमधिवसेस्तत्र [1]विश्रामहेतो-
स्त्वत्संपर्कात्पुलकितमिव[2] प्रौढपुष्पैः कदम्बैः।
यः पण्यस्त्रीरतिपरिमलोद्गारिभिर्नागराणा-
मुद्दामानि प्रथयति शिलावेश्मभिर्यौवनानि ॥२६॥

मन्द-मन्द रतिकूजित ध्वनि-माधुर्य युक्त मुख के समान, तरङ्गों रूपी भ्रू-विलास वाला वेत्रवती का जल।

सभ्रूभङ्गंमुखमिव--यहां नदी तरङ्गों को स्त्री की भ्रूभङ्गी की समता दी गई है, विक्रमोर्वशीय में भी देखिये --

'तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरसना'।

आगे उत्तर-मेघ की संख्या ४३ के श्लोक में, यक्ष-कान्ता की भ्रू-भङ्गी को नदी- तरङ्गों की समता है।

विदिशा--श्री वाल्मीकि में लिखा है, कि भगवान् श्री रामचन्द्रजी के साथ वैकुण्ठ-धाम को प्रस्थान करते समय शत्रुघ्नजी ने मथुरा का राज्य अपने जेष्ठ पुत्र को और विदिशा का छोटे पुत्र को दिया था, देखिए --

'सुबाहुर्मथुरां लेभे शत्रुघाती च वैदिशम्'। (उ,१०६-१०)

अब इसको भेलसा कहते हैं जोकि मालवा प्रान्त में है, जहां पर अब पुराने स्तूपों के भग्नावशेष मिलते हैं इस से जान पड़ता है कि यह नगरी भी, प्राचीनकाल में अत्यन्त प्रसिद्धि-प्राप्त थी। यह वेत्रवती-नदी के किनारे पर है। महाकवि बाण ने इसे राजा शूद्रक की राजधानी वर्णन की है, देखिए --

"मज्जन्मालवविलासिनीकुचतटास्फालनजर्जरितोर्मिमालया, जलावगाहनागतजयकुञ्जरकुम्भसिन्दूरसंध्यायमानसलिलयोन्मदकलहंसकुलकोलाहलमुखरीकृतकूलया, वेत्रवत्यापरिगता विदिशाभिधाना राजधान्यासीत्" (कादम्बरी)

---

१ विश्रान्ति हेतो, जै०। २ मिवाप्रौढ, विद्यु०।

पद्यानुवाद—नीचैः नामा गिरिपर वहां बैठ विश्राम लेना
मानों होगा पुलकित, खिले-नीपसे, वो तुझेपा।
वेश्याओं के रति-परिमलामोद-वाली गुफायें—
कामोन्माद प्रकट करतीं नागरों का जहां है ॥२६॥

वेत्रवती—इस नदी की पुण्य नदियों में गणना की गई है। कहा है—'शरावती, वेत्रवती, चन्द्रभागा, सरस्वती'।

यह हमीरपुर के पास जाकर यमुना में मिलता है, इसका आधुनिक नाम 'बतवा' है।

अलङ्कार—यहां उपमा और उत्प्रेक्षा का सन्देह सङ्कर अलङ्कार है।

श्लोक-२६,

अब इतने मार्ग चलने के पश्चात् फिर मेघ को यह विश्राम-स्थान बतलाता है—

वहां—विदिशा के समीप नीचै नाम का एक पर्वत है, उस पर बैठ कर तू विश्राम लेना। वह फूले हुये कदम्ब के फूलों से ऐसा मालूम होगा मानों तेरे समागम के हर्ष से रोमाञ्चित हो रहा हो। उस पर्वत के शिलागृहों से वाराङ्गनाओं के अङ्गराग आदि का सुगन्ध निकलता रहता है, उसके द्वारा वह विदिशा के नागरिकजनों के (शौकीनों के) यौवन का उन्माद प्रकट करता है—अर्थात् उसकी गुफाओं से सुगन्ध निकलता रहता है उसके द्वारा मालूम हो जाता है, कि वहां के नागरिक बड़े स्वेच्छाचारी हैं।

मूल–विश्रान्तः सन्व्रज[1]वननदीतीरजातानि सिञ्च-
न्नुद्यानानां नवजलकणैर्यूथिकाजालकानि।
गण्डस्वेदापनयनरुजाक्लान्तकर्णोत्पलानां
छायादानात् क्षणपरिचितः पुष्पलावीमुखानाम्॥२७

परिमलोद्गारिभिः—इससे उस पर्वत की गुफाओं से निकलते हुए सुगन्ध मात्र ही से मार्ग-श्रम दूर होना सूचन किया है।

अलङ्कार—यहां उक्त विषया वस्तूत्प्रेक्षा है। कदम्ब के विकसित पुष्पों में मेघरूपी मित्र के मिलने पर उस-पर्वत में रोमाञ्चित होने की सम्भावना की गई है। बहुत दिनों में स्नेही-जन के मिलने पर हर्षावेश में रोमाञ्चित हो जाना यह सत्य प्रेम वालों का स्वभाविक विकार सूचन किया है।

शिक्षा–यहां 'उद्दाम' शब्द से कवि ने वेश्या-सङ्ग को बड़ा गर्हित और उनके रमण का निर्जन-गुफा, स्थान कथन करके अत्यन्त लोक-लज्जास्पद-निन्दनीय सूचन किया है। कहा है :—

"इह सर्वस्वफलिनः कुलपुत्रमहाद्रुमाः।
निष्फलत्वमलं यान्ति वेश्याविहगभक्षिताः॥
अयञ्च सुरतज्वालः कामाग्निः प्रणयेन्धनः।
नराणां यत्र हूयन्ते यौवनानि धनानि च॥
एता हसन्ति च रुदन्ति च वित्त हेतोः।
विश्वासयन्ति पुरुषं न तु विश्वसन्ति।

---

१ वननदीतीरजानां निषिञ्चन्, जै०, विद्यु०। नगनदीतीरजातानि सिञ्चन्, विल०। नवनदीतीरजातानि सिञ्चन्, सारो० म० क०।

पद्यानुवाद-ले विश्रान्ती फिर वन-नदी तीर की यूथिकायें-
उद्यानों में सलिल-कन से सींचता जा चला, वे।
[1]दे के छाया कुछ वदन पे मालिनों को जिन्हों के
कानों में के कमल मुरझें गण्ड के स्वेद पोंछे ॥२७॥

तस्मात् नरेण कुलशीलसमन्वितेन
वेश्या श्मशानसुमना इव वर्जनीया ” ॥
(मृच्छकटक ४-१०-१४।)

नीचैराख्य-इसका अर्थ सारा०, सुम०, आदि ने वामा गिरि-[छोटा पर्वत] किया है। वल्लभ का टीका का किसी किसी प्रति म-'आख्ययानीच स्वरूपतस्तूच्चमितिभाव अर्थात् नाम मात्र ही से छोटा, किन्तु स्वरूप में बड़ा, ऐसा अर्थ है।

श्लोक—२७,

इस श्लोक में, विश्रामान तर आगे गमन करते हुए मेघ को मार्ग में स्वत प्राप्त होने वाले रस और रसानुभव का यक्ष सूचन करता है —

वहां [नीच गिरि पर] विश्राम लेकर फिर वन की नदियों के तटों पर उपवनों की यूथिका [जुही] की कलियों को अपनी नवीन जल की बूंदों से सींचता हुआ, और उन

---

[1] पाठान्तर १ इत्वा छाया।

मूल-वक्रः पन्थाः यदपि भवतः प्रस्थितस्योत्तराशाम्
सौघोत्सङ्गप्रणयविमुखो [1]मास्म भूरुज्जयिन्याः।
विद्युद्दाम स्फुरितचकितैस्तत्र पौराङ्गनानां
लोलापाङ्गैर्यदि न रमसे लोचनैर्वञ्चितोऽसि ॥२८॥

मालिनों के मुखों पर-जिनके, जुही के पुष्पों को बीनते हुए कपोलों पर आये हुए पसीनों को पोंछने से कानों में पहिने हुए कमल मुरझा गये होंगे,तू क्षण भर अपनी छाया करके उनसे पहिचान करता हुआ चला जाना। वे फूल बीनने में लगी हुई भी तेरी छाया से हर्षित हो के तेरे सन्मुख देखेंगी तब तू उनके तादृश सुकुमार मुखों और कटाक्षों की सुन्दरता का अनुभव करता हुआ जाना।

वन नदी–मल्लिनाथ ने इस पद से वन की बहुतसी नदियों का अर्थ ग्रहण किया है। सारोद्धारिणी में इस नाम की एक नदी मालव देश में लिखी है। विलसन् साहब ने बेतिया नामक स्थान के पश्चिम में विन्ध्य में से निकली हुई 'पार्वती' नदी इसको अनुमान किया है। कुछ टीकाकारों ने नगनदी, या नवनदी भी पाठ माना है। यदि नग-नदी पाठ माना जाय तो पार्वती नदी के साथ इसकी एकता हो सकती है।

यूथिका जालक–मल्लिनाथ आदि ने इसका जुही की कलिया अर्थ किया है, और सारो० ने जुही के दलों के समूह।

पद्यानुवाद—होगा टेढ़ा-पथ, यदपि तू उत्तर-प्रान्त-गामी
उज्जैनी के भवन-विमुखी हो, न जाना तथापि।
विद्युत्-आभा-स-चकित वहां पौर-लोलाक्षियों का—
लेगा जो तू दृग-रस न, तो जन्म ही व्यर्थ होगा ॥२८॥

अलङ्कार—यहां विद्युल्लताकार ने 'स्वभावोक्ति' माना है। किन्तु मेघ के छाया रूप गुण से मालिनियों को सुख रूप गुण कथन से 'उल्लास' भी हो सकता है।

श्लोक—२८,

इस श्लोक में यक्ष, अपने दूत, मेघ को उज्जैनी जाने को कहता है —

तुझे जाना है उत्तर दिशा को क्योंकि तू अलका को जाने वाला है, और उज्जैनी कुछ पश्चिम में है, अतएव उज्जैनी होकर जाने में यद्यपि मार्ग टेढ़ा होगा—मार्ग में तुझे फेर अवश्य पड़ेगा, तथापि उस उज्जैनी के महल देखे बिना तू भूल के भी आगे न चला जाना। यदि वहां की पौराङ्गनाओं के बिजली की चमक से चकित हुये चञ्चल-कटाक्षों के नेत्र-रस के अनुभव का आनन्द तू न लेगा तो ठगाया जायगा मेरी समझ में—तेरा जन्म ही व्यर्थ हो जायगा।

लोचनैर्वञ्चितोसि–कहा है :—

' सुभाषितेन गीतेन युवतीनाञ्च लीलया।
यस्य न रमते चित्तं सवै मुक्तोऽथवा पशुः ॥ "

उज्जैनी–यह अवन्ति देश की राजधानी थी। अब भी बहुत प्रसिद्ध है। इसके विशाला, अवन्तिका और पुष्करपुरी भी नाम हैं। इसकी गणना मोक्षदा सप्तपुरियों में है –

'अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः' ॥

प्रसिद्ध महाराजा विक्रम की राजधानी यही थी। कुछ लोगों का मत है, कि महाकवि कालिदास यहीं के निवासी थे। कुछ भी हो, इसका वर्णन तो उनको अवश्य ही अभीष्ट था। उज्जैन उत्तर के मार्ग में न होने पर भी वाम टेढ़े मार्ग हो के वहां जाने को यक्ष द्वारा मेघ को उन्होंने कहला कर इसका बहुत ही हृदय-हारी वर्णन किया है। समग्र मेघदूत म अलका से दूसरी श्रेणी का इसका वर्णन है। अतएव उनका इसके साथ निकट सम्बन्ध और ममत्व तो निस्सन्देह सूचन होता है। अब की उज्जैन पूर्व की उज्जयिनी से एक माईल दक्षिण में है। चीनाई यात्री हेन सङ्ग Hwen Thsang ने सन् ६३० से ६४५ ईसवी तक भारतवर्ष में भ्रमण करके चीनी भाषा में 'सि-इउ-कि' नामक ग्रंथ लिखा है, उसमें उज्जैन का व्यास, पांच माईल का लिखा है, जो कि अब भी लगभग इतना ही है। इसके समीप अङ्कपाद नामक स्थान प्रसिद्ध है, जहां पर यदुकुलावतंस भगवान श्री कृष्ण बलराम ने गुरु-गृह में विद्याभ्यास किया था। उज्जयिनी में जयपुर

के महाराज जयसिंह का निर्माण कराया हुआ एक ज्योतिर्यंत्र भी है। उज्जयिनी का वर्णन महाकवि बाणभट्ट ने भी बड़े गौरव के साथ विस्तार पूर्वक किया है, उसका कुछ नमूना देखिये —

" यस्यामुत्तुङ्गसौधोत्सङ्गसङ्गिनीनामतिमधुरेण गतिस्वरेणाकृष्यमाणाधोमुखरथतुरङ्गमः पुरः पर्यस्तरथपताकः कृतमहाकालप्रणाम इव प्रतिदिनं लक्ष्यते गच्छन् दिवाकरः। यस्यां च सौधशिखरशायिनीनां पश्यन्मुखानि पुरसुन्दरीणां मदनपरवश इव पतितः प्रतिमाच्छलेन लुठति बहलचन्दनजलसेकशिशिरेषु मणिकुट्टिमेषु मृगलाञ्छनः "। (कादम्बरी)

अर्थात् जिस–उज्जयिनी–में ऊँचे सफेद महलों के ऊपर गान करती–सुन्दरियों के अत्यन्त मधुर स्वर से मोहित होकर अधोमुख किये हुए घोड़ों वाले, इसी से टेढ़ी होकर आगे को झुकी हुई ध्वजा वाले, रथ पर बैठे उज्जयिनी के ऊपर से जाते हुये भगवान् भास्कर ऐसे मालूम होते हैं, मानो वे श्री महाकाल को प्रणाम करते हैं। और जिस–उज्जयिनी–के श्वेत भवनों पर सोती हुई पौराङ्गनाओं के सुन्दर मुखों को देख कर, बहुत से चन्दन–गुलाब जल से छिड़काव की हुई शीतल मणियों की छतों पर प्रतिबिम्ब के बहाने से मानो चन्द्रमा काम-वश होके तज्जनित ताप मिटाने को पड़ा हुआ लोट रहा है।

अलङ्कार–यहां 'विनोक्ति' अलङ्कार की ध्वनि है। क्योंकि उज्जयिनी की नागरियों के कटाक्षों के रसानुभव किये बिना मेघ के जन्म की अशोभनता व्यञ्जित होती है।

मूल–वीचिक्षोभ[1]स्तनितविहगश्रेणिकाञ्चीगुणायाः
संसर्पन्त्याः स्खलितसुभगं दर्शितावर्तनाभेः।
निर्विन्ध्यायाः पथि भव [2]रसाभ्यन्तरः सन्निपत्य
स्त्रीणामाद्यं प्रणयवचनं विभ्रमो हि प्रियेषु॥२६॥

श्लोक–२८,

इस श्लोक में उज्जैन के मार्ग में बहने वाली निर्विन्ध्या-नदी का अनुरक्तानायिका रूप वर्णन है —

उज्जयिनी जाता हुआ तू मार्ग में निर्विन्ध्या नाम की-विन्ध्यपर्वत में से निकली हुई, नदी का रस लेना। यह निर्विन्ध्या [विन्ध्य में से निकली हुई] कामिनी के समान-प्रेमानुरक्ता है। अनुरक्ता नायिका, अपने प्रेमी को लुभाने के लिये किङ्किणी की झनकार सुनाती हुई, रुक रुक के मन्द गति से गमन करती और उदर स्थल को दिखलाती हुई चला करती है। यह-नदी, भी वीचो क्षोभ से [जल की तरङ्गों की हिलोरें लगने से] शब्द करते हुए, तीर पर बैठे हंसो की पङ्क्ति रूप किङ्किणी की झनकार सुनाती हुई, अपने प्रवाह में के बडे बडे पाषाणों से रुक, रुक के मन्दगति से गमन

---

१. विद्युलता के सिवा सभी टीकाओं में 'स्तनित' पाठ है किन्तु स्तनित का अर्थ गर्जना है, सो न तो हंसो में और न किङ्किणी में गर्जना का प्रयोग हो सकता है। २ रसाभ्यन्तरं, विद्यु०।

पद्यानुवाद-है वीची से ध्वनित जिसके किङ्किणी सी खगाली
जाती धीरें रुक रुक चली चक्र-नाभी दिखाती-
निर्विन्ध्या से मिल, स-रस हो मार्ग में, है स्त्रियों का
प्रेमालाप प्रणयि जन से आदि में विभ्रमों का ॥२६॥

करती हुई, और भ्रमर रूप अपनी नाभि को स्वच्छ श्वेताम्बर जैसे जल में से दिखलाती हुई विलास-पूर्वक बहती है। तू यह सङ्कोच न करना कि मेरे ऊपर प्रेमाभिलाप प्रकट किये विना मैं उसका रस किस प्रकार लूं, क्योंकि विलासिनी स्त्रियों का अपने प्रेम-पात्र के सन्मुख विभ्रम-भाव—अनेक प्रकार की शृङ्गार चेष्टायें, दिखलाना ही पहिला प्रणय-सम्भाषण हुआ करता है—लज्जा-शीलिनी स्त्रियों का स्वभाव ही है, कि वे अपने अन्तर्भाव को मुँह से प्रकट न करके विलासों ही से अनुराग सूचन करके रसिक जनों को आमन्त्रण किया करती हैं।

स्त्रीणामाद्यं इत्यादि—कहा है:—

'स्त्री कान्तं वीक्ष्य नाभिं प्रकटयति मुहुर्विक्षिपन्ती कटाक्षान्
दोर्मूलं दर्शयन्ती रचयति कुसुमापीडमुत्क्षिप्यपाणिम्।
रोमाञ्चस्वेदजृम्भाः श्रयति कुचतटस्रंशि वस्त्रं विधत्ते
सोत्कण्ठं वक्ति नीवीं शिथिलयति दशत्योष्ठमङ्गं भनक्ति"॥

(महिमसिंहगणि-टीका)

मूल-वेणीभूतप्रतनु[1]सलिलासावतीतस्य सिन्धुः
पाण्डुच्छाया तटरुहतरुभ्रंशिभिः [2]जीर्णपर्णैः ।
सौभाग्यं ते सुभग विरहावस्थया [3]व्यञ्जयन्ती
कार्श्यं येन त्यजति विधिना सत्वयैवोपपाद्यः॥३०॥

देखिए ! शकुन्तला की अनुराग चेष्टा का, राजा दुष्यन्त द्वारा ऐसा ही वर्णन है:—

"दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा ।
आसीद्विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्" ॥
(शाकुन्तल द्वि० अङ्क)

अर्थात् यद्यपि वहां डाभ का नाम भी नथा तो भी वह कुशाङ्कुर डाभ का कांटा लगने के बहाने से अकस्मात् खड़ी रह गई । तथैव किसी वृक्ष में उसका कपड़ा नहीं उलझा था तथापि वल्कलचीर सुलझाने के मिस से मेरी ओर मुख करके मुझपर अपना अनुराग सूचित करती हुई ठिठक गई ।

अलङ्कार—यहां उपमा, रूपक, श्लेष अलङ्कारों का सङ्कर और संसृष्टि है ।

श्लोक—३०,

इस श्लोक में पूर्वोक्त निर्विन्ध्या-नदी का वियोगिनी-नायिका रूप वर्णन है—

---

१ सलिला तामतीतस्य, जै० विल० सारा० द० भ० स० रा० ह० क० ।
२ शीर्णपर्णैः, सारो० जिन० । ३ व्यञ्जयन्ती, व० ।

पद्यानुवाद—देखी जाती कृश-सलिल हो एक-वेणी-स्वरूप-
जो वृक्षों के गिर दल-पके हो रही पाण्डु-रूप।
तेरे को है उचित, उसका मेटना कार्य्य क्योंकि-
ऐसे तेरा प्रकट करती मित्र! सौभाग्य जो कि॥ ३०॥

हे सुभग! यह निर्विन्ध्या-नदी तेरे वियोग की, अपनी विरहावस्था द्वारा तेरे में अपना सुहाग प्रकट कर रही है। अथवा यों कहना चाहिये कि तेरी भाग्यशालीनता सूचन करती है। वियोगिनी स्त्री एक वेणी धारण करती है, और कृश हो जाती है, वह भी इतने दिनतक तेरे वियोग से सन्तत होके अर्थात् वर्षा के विना ग्रीष्म के ताप से जल थोड़ा रह जाने से सूक्ष्म जल धारा को एक वेणी रूप धारण किए है, [अथवा स्त्री की एक वेणी के समान दुबली हो रही है] वियोगिनी का पाण्डुवर्ण हो जाना है, उसके भी—तटपर के वृक्षों के पके पत्तों के गिरने से—प्रवाह में पीलापन आरहा है। इसलिये तुझे यही उपाय करना योग्य होगा, जिससे उसकी वह कृशता दूर हो जाय अर्थात् तेरे जलरूपी रसास्वादन से उसकी दुर्बलता दूर हो जायगी, अतएव तू उसे वर्षा द्वारा अपने समागम का सुख देना।

सौभाग्यंते—जिसे स्त्रिया चाहती हों, उसे कामीजन भाग्यशाली समझते हैं। कहा है—'यमङ्गना कामयते स खलु सुभगः'।

मूल—[1]प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धा-[2]
न्पूर्वोद्दिष्टा[3]मनुसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां
शेषैः पुण्यै[4]र्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्॥३१

कृशता—वियोगिनी स्त्रियों की काम-दशा दश प्रकार की होती हैं, कहा है—

"नयनप्रीतिः प्रथमं चित्तासङ्गस्ततोऽथ सङ्कल्पः।
निद्राच्छेदस्तनुता विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः॥
उन्मादो मूर्च्छा मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः"॥
(रतिरहस्य)

यहां नदी रूप नायिका की तनुता नामकी पांचवीं दशा सूचन की गई है। काम-तापित वियोगिनी स्त्रियों की कृशता मिटाने के लिए प्रिय-समागम के सिवा दूसरा उपाय नहीं है, देखिये —

"स्मरज्वरश्चिकित्स्यो हि दयितालिङ्गनामृतैः"।

अलङ्कार—यहां समासोक्ति है।

श्लोक—३१,

अब, यहाँ से ४१ के श्लोक तक अवन्ति-देशान्तर्गत उज्जयिनी का वर्णन है —

फिर तू उस अवन्ति [मालव] देश में पहुंचकर, जहां उदयन नाम के वहां के पूर्वकालीन बड़े प्रतापी राजा की सरस

---

१ प्राप्यावन्तीम्, विश्व० म० स० रा० ए०। २ न्वृद्धान्, विश्व० म० स० रा० ए०। ३ मनुसर, जै०। ४ र्हृतमिव, जै०।

पद्यानुवाद-जानें[1], ग्रामी, उदयन-कथा वो अवन्ती रसाला-
जाके, जाना फिर घन! उसी श्री विशाला-विशाला।
लौटे स्वर्गी-जन, सुकृत का भोगने भाग-शेष
लाये मानो धरणि पर वे स्वर्ग का खंड-एक ॥३१॥

कथाओं को ग्रामों के वृद्धजन कहा करते हैं। उसी श्री विशाला अर्थात् अत्यन्त समृद्धि शालिनी पूर्वोक्त विशाला [उज्जयिनी] नगरी को चला जाना। उस उज्जयिनी की शोभा स्वर्गीय है, उसे देखकर यही जान पडता है कि जो पुण्यात्माजन अपने पुण्य प्रभाव से स्वर्ग में जाकर-वहां के यथेष्ट सुख भोगकर-पृथ्वीपर लौट कर आये हैं, वे मानों अपने बचे हुए पुण्य का सुखोपभोग यहां आके भोगने के लिये स्वर्ग का एक कान्तिमान् खण्ड अर्थात् सब से अच्छा एक टुकडा अपने साथ ले आये हैं।

महाकवि बाण ने भी इसी भाव को हृदयस्थ करके उज्जयिनी का वर्णन किया है, देखिए —

"बृहत्कथा कुशलेन विलासिजनेनाधिष्ठिता विजितामरलोक द्युतिरवन्तिपूज्जयिनी नाम नगरी" (कादम्बरी)

स्वल्पीभूते—इसमें श्रीमद्भगवद्गीता का —

'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति'। इस पद्य का भाव है।

कथा सरित्सागर में उज्जैनी का वर्णन इस प्रकार है —

"अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणं भुवः। हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम्। यस्यां वसति विश्वेशो महाकालवपुः स्वयं शिथिलीकृतकैलासनिवासव्यसनो हरः।" (१३१-२)

---

१ पाठान्तर-गाते। २ भुवि पर जिस।

मूल—दीर्घीकुर्वन्पटुमदकलं कूजितं सारसानां
प्रत्यूषेषु स्फुटितकमलामोदमैत्रीकषायः
यत्र स्त्रीणां हरति सुरतग्लानिमङ्गानुकूलः
[1]शिप्रावातः प्रियतम इव प्रार्थना चाटुकारः॥३२॥

उदयन—इस राजा का दूसरा नाम वत्सराज था। यह चन्द्रवंशीय सहस्रानीक का पुत्र था। इसकी राजधानी कौशाम्बी थी, जो श्री यमुना के तट पर श्री प्रयागराज से लगभग ३० माईल दूर है। उसको अब 'कौसम' कहते हैं। इस प्रदेश का नाम खर के जिले के शिलालेख में कौशाम्ब-मंडल लिखा है। अकबर के समय के स्तम्भ-लेख में भी इसका प्रमाण मिलता है। इस वत्सराज ने प्रद्योत [अथवा चण्ड महासेन] नाम के उज्जयिनी के राजा की वासवदत्ता नाम की कन्या का हरण किया था। इसका सविस्तर इतिहास कथा-सरित्सागर में लिखा है। भवभूति के मालती माधव-नाटक में भी इसका उल्लेख है। इसी प्रसङ्ग को लेकर महाकवि भास ने स्वप्न-वासवदत्ता नाम का नाटक बनाया है।

विशाला—उज्जयिनी का दूसरा नाम है "विशालोज्जयनी समा"॥ (अमर कोश)

अलङ्कार—यहां यमक, उत्प्रेक्षा, और उल्लास अलङ्कारों की संसृष्टी है।

श्लोक—३२,

इस श्लोक में उज्जयिनी में बहने वाली शिप्रा-नदी के प्रातः कालीन धीर-समीर का वर्णन है:—

---

१ सिप्रा, व०।

पद्यानुवाद—चेतोहारी ध्वनि मद-भरी सारसों की बढ़ाके
प्रातः फूले कमल-रजकी गन्ध को भी उड़ाके—
शिप्रा-वायु प्रिय-सम जहां प्रार्थना से रिझाता
कान्ताओं का श्रम, सुरत का स्पर्श से है मिटाता ॥३२॥

उज्जयिनी शिप्रा नदी के तट पर है, अतएव वहां प्रभात के समय में शिप्रा नदी का शीतल मन्द और सुगन्धित पवन—प्रियतम के समान—प्रार्थना में चातुर्य दिखाता हुआ पौराङ्गनाओं को पुन सम्भोगेच्छा उत्पन्न कराने के लिए उनका रति जनित खद दूर करता रहता है। जिस तरह प्रियतम, मद भरे मधुर शब्द, सुगन्ध-द्रव्य और अङ्गों के मृदुस्पर्श [हस्त सवाहन] आदि से रमणियों को प्रसन्न किया करते हैं, उसी तरह यह [शिप्रा का पवन] भी तट पर बैठे सारस पक्षियों के मदपूरित—कामोद्दीपक—शब्दों को बढाता हुआ, खिले कमलों के पराग से मिली गन्ध को फैलाता हुआ और उन स्त्रियों के अङ्गों से मृदु–मन्द–स्पर्श होता हुआ, उनको प्रसन्न करता रहता है–शिप्रा का वायु उज्जैन की विलासिनी युवतियों को बहुत ही अनुकूल मालूम होता है, अतएव तुझे भी वह बड़ा प्रमोद जनक होगा।

यहा शिप्रा के सादृश पवन से मेघ का मार्ग-श्रम दूर होना भी यक्ष ने सूचन किया है।

इस वर्णन के भाव की अमरुशतक के एक पद्य में यथार्थ समता मिलती है, देखिए —

"रामाणां रमणीयवक्त्रशशिनः स्वेदोदबिन्दुप्लुतो
व्यालोलालकवल्लरीं प्रचलयन् धुन्वन् नितम्बाम्बर।

मूल—हारांस्तारांस्तरल[1]गुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः
शष्पश्यामान्मरकतमणीमुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितान्विद्रमाणां च भङ्गा-
न्संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः॥३३॥

प्रातर्वाति मधौ प्रकाशविकसद्राजीवराजीरजो
जालामोदमनोहरो रतिरसग्लानिं हरन्मारुतः"॥

यहा शिप्रा-तट के उद्यानों का, शीतल धीर समीर और सारसों के सु-मधुर शब्दों से परम उद्दीपनत्व सूचन किया गया है। अलङ्कार पूर्णोपमा है।

सारस—सारस एक जाति के पक्षी और हंस का नाम है,। "चक्राङ्ग सारसो हंस"। (शब्दार्णव)

शिप्रा—यह नदी मालवा प्रान्त में है। इसको क्षिप्रा भी कहते हैं। यह बड़े वेग से बहती है, शायद इसीसे इसका नाम 'क्षिप्रा' हुआ हो। यह विन्ध्याचल से निकली है और राजपूताने में चित्रपुरा के समीप चम्बल से मिली है।

श्लोक—३३,

इस श्लोक में अत्यन्त समृद्धि युक्त उज्जयिनी के बाजारों का वर्णन है—

उज्जयिनी की समृद्धि का मैं क्या वर्णन करूं उसके बाजारों में दूकानों पर रक्खे हुए मोतियों के असंख्य हार, करोड़ों शंख और सीपियां—हरे घास के छोटे छोटे निकले हुए अङ्कुरों के समान—कान्तिवाली पन्नों की मणियां और मूंगों के

---

१ घटिकान्, जै०।

पद्यानुवाद—मुक्ता-माला अगणित जहां हैं पड़ी शङ्ख-शीपी
दूर्वा जैसी विलसित-मणी श्याम-वैदुर्य की भी।
मूंगों के हैं कन घन लगे, देख बाजार-शोभा
जीमें आता अब उदधि में वारि ही शेष होगा॥३३॥

ढेर लगे हुए देखकर यही विचार उत्पन्न होता है कि अब समुद्र में केवल पानी मात्रही शेष रह गया होगा, अर्थात् जब समुद्र में से इतने रत्न यहां आ गये हैं तो उसमें सिवा पानी के अब और क्या रहा होगा?

इस वर्णन के भाव को बाणभट्ट ने इस प्रकार लिखा है—

"प्रकटशङ्खशुक्तिमुक्ताप्रवालमरकतमणिराशिभिश्चामीकर-चूर्णसिकतानिकरनिचितैरायामभिरगस्त्यपरिपीतसलिलैः सा-गरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता"। (कादम्बरी)

अर्थात् शंख, शीपी, मोती, मूंगे और हरितमणियों के ढेरों से, तथा बिखरे हुए सुवर्ण के चूर्ण से उज्जयिनी के विस्तृत बाजार की ऐसी शोभा मालूम होती है, मानों अगस्त्यजी द्वारा सारा जल पीया जाने पर समुद्र में शेष रह गये हुए शंख, शीपी और रत्नादि दिखाई पड़ते हों।

यही भाव माघने द्वारका-वर्णन के एक पद्य में प्रकारान्तर से इस प्रकार वर्णन किया है—

"वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।
लोलैरलोलद्युतिभाञ्जिमुष्णन् रत्नानि रत्नाकरतामवाप"॥

अर्थात् समुद्र का नाम तो रत्नाकर [रत्नोंका घर] प्रसिद्ध है, परन्तु अन्यत्र तो उसमें केवल जलही भरा हुआ दिखाई पड़ता है, किन्तु

मूल—प्रद्योतस्य प्रियदुहितरं वत्सराजोऽत्र जह्रे
हैमं तालद्रुमवनमभूदत्र तस्यैव राज्ञः।
अत्रोद्भ्रान्तः किल[1]नलगिरिः स्तम्भमुत्पाट्य[2] दर्पा-
दित्यागन्तूनरमयति जनो यत्र बन्धूनभिज्ञः ॥३४॥

द्वारका के बाजारों के रत्न की ढेरियों में से जल मार्ग से, बहकर आये हुए रत्न, तट पर बिखरे दिखाई देते हैं, इससे वहा पर ही समुद्र यथार्थ रत्नाकर प्रतीत होता है।

इसी प्रसङ्ग और इसी भाव का श्री हर्ष का वर्णन भी देखिए—

" बहुकम्बुमणिर्वराटिकागणनाटत्करकर्कटोत्करः।
हिमवालुकयाच्छवालुकः पटुदध्वानयदापणार्णवः" ॥

भावार्थ—कुण्डिनपुर का बाजार क्या है, अत्यन्त गर्जना युक्त समुद्र है। समुद्र में शङ्ख और मोती आदि रत्न होते हैं। कुण्डिनपुर के बाजार में भी इन के ढेर लगे हुए हैं। समुद्र में कुलीर नामक जलजन्तु फिरते रहते हैं, इसमें भी कौड़ियों को गिनने के लिये चलायमान हाथ ही कुलीर रूप हैं। समुद्र में बालू रेती होती है। उसमें भी अत्यन्ताधिक कपूर का चूर्ण बालू रूप फैला हुआ है।

महाकवि कालिदास ने अत्यन्ताधिक रत्न उज्जयिनी में आजाने के कारण समुद्र में केवल जल मात्र शेष रख दिया था। बाणभट्ट ने उज्जयिनी के बाजार को, अगस्त्य मुनि द्वारा सारा जल पीया जाने पर बचे हुए रत्नादिक से परिपूर्ण समुद्र रूप बनाया। और श्री हर्ष ने कुण्डिनपुर के बाजार को समुद्र के सम रूप दिखाया है। यही तो महाकवियों की कल्पना

---

१ नडगिरि सारो०। २ मुन्मूल्य, सारो०।

पद्यानुवाद—"की थी कन्या-हरण, नृप आ,[1] वत्स, प्रद्योत ही से"
"था ताड़ों का वन-रुचिर भी हैम-वर्णी उसीके।"
"स्तम्भोत्पाटी-गज-नलगिरी घूमता था यहां वो"
वृद्धों द्वारा पथिक सुनते रम्य-बातें जहां यों ॥३४॥

की विचित्रता है। यह श्लोक और इसके आगे का श्लोक इन दोनों को वल्लभ और विद्युल्लताकार ने अपनी अपनी टीका में लिखा ही नहीं है, मल्लिनाथ ने इनको प्रक्षिप्त सूचन किया है। पर इनके भावों पर दृष्टि देने से ये क्षेपक नहीं प्रतीत होते हैं। पार्श्वाभ्युदय आदि मेघदूत के प्राचीन अनुकरण काव्यों में भी इनका उल्लेख है।

अलङ्कार—यहां समृद्धि का अतिशय वर्णन होने से प्रथम उदात्त है।

श्लोक—३४,

इस श्लोक में उज्जयिनी के पूर्व-कालीन इतिहास का वर्णन है :—

उज्जयिनी केवल सुन्दरता ही में नहीं, किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि में भी गौरवान्वित है। उज्जयिनी ही में प्रद्योत नाम के राजा की कन्या—वासवदत्ता—को वत्सदेश के राजा-उदयन ने हरण किया था। उसी-प्रद्योत-राजा के यहां सुनहरी ताल-वृक्षों का वन भी था। यहीं नीलगिरि नाम के एक मद-मत्त हाथी ने स्तंभ को उखाड कर भ्रमण किया था। ऐसे ऐसे अपूर्व अनेक पूर्व-कालीन इतिहास सुना सुना के यहां के इतिहासज्ञ लोग अपने आगन्तुक बन्धु-जनों को प्रसन्न किया करते हैं।

---

1 पाठान्तर-वत्सने चण्ड ही से"।

मूल—जालोद्गीर्णैरुपचितवपुः केशसंस्कारधूपैः[१]
बन्धुप्रीत्या[२] भवनशिखिभिर्दत्तनृत्योपहारः[३]।
हर्म्येष्वस्याः कुसुमसुरभिष्वध्वखेदं[४] नयेथा
लक्ष्मीं[५] पश्यन् ललितवनितापादरागाङ्कितेषु॥३५॥

प्रद्योत—उज्जयिनी का राजा था। इसका दूसरा नाम चण्डमहासेन था। इसके पिता का नाम महासेन और पितामह का नाम महेन्द्रवर्मा था। यह भक्तवत्सला भगवती दुर्गा से एक शक्ति और अङ्गारक-दैत्य की पुत्री अङ्गारवती के प्राप्त होने का वरदान पाकर एक दिन शिकार को गया। वहां इसने एक मनोहर कुमारिका को देखी, राजा के पूछने पर उसने अपना नाम अङ्गारक दैत्य की पुत्री अङ्गारवती बतलाया। राजा ने उसके रूप-लावण्य पर मोहित होकर उसके पिता अङ्गारक को मारकर उस-अङ्गारवती को अपने साथ लाकर रानी बनाली। इस-रानी-से उसको गोपालक और बालक नाम के दो पुत्र हुए, दूसरे पुत्र के जन्मोत्सव पर राजा ने इन्द्र को आमन्त्रण करके प्रसन्न किया, तब इन्द्र ने उसको यह वर दिया कि तेरे एक चन्द्र-रेखा के समान पुत्री होगी। फिर जब उस पुत्री का जन्म हुआ तो राजा ने उसका नाम वासवदत्ता रक्खा। वासवदत्ता के रूप,गुण, लावण्य की कीर्ति सुन कर वत्सराज—उदयन—उज्जयिनी में से उसको हरण करके ले गया था। इसकी सविस्तर-कथा, कथासरित्सागर के लम्बक ३ सर्ग २ में वर्णन की गई है।

---

१ धूम, व०। २ भुवन, सारो०। ३ नृत्तोपहारः, वल्ल० ज०। ४ अध्व विश्रान्तरात्मा, व० जै० विद्यु० चिल० सारो० भ० स० रा० ह० क०। ५ नीत्वा खेद, जै० सारो०, रयकृत्वा खेदं, चिल० खेद स० रा० ह० क० खेदं नीत्वा, विद्यु०, नीत्वा रात्रिं, व०।

पद्यानुवाद—जालों में से कच-सुरभिता-धूप पा पुष्ट होगा
देंगे तेरे प्रिय गृह-शिखी, नृत्य-सत्कार, सो पा।
*शोभा उसकी, सुरभित हुए, देख हर्म्य-स्थलों में—
खोना, श्रान्ती; ललित-रमणी-पादरागाङ्कितोंमें॥३५॥

अलङ्कार—उज्जयिनी के वर्णन में मेघोंत के चरित्र की अङ्ग-भाव होने से द्वितीय उदात्त है।

श्लोक—३५,

इसमें उज्जयिनी की ललनाओं की विलास प्रियता और उसके महलों की अपूर्व शोभा का वर्णन है—

हे मेघ! उज्जयिनी में तुझे नाना प्रकार के सुख प्राप्त होंगे। वहां की कामनियां बड़ी शृङ्गार विलासिनी है, वे स्नानोत्तर अपने गीले केशों को अगर, चन्दन आदि की सुगन्धित धूप से सुखाया करती हैं, वह सुगन्धित धूंआं भवनों की खिड़कियों में से निकला करता है, उस—धूंएं—के लगने से तेरा शरीर पुष्ट हो जायगा—मार्ग-जनित तेरी दुर्बलता सारी नष्ट हो जायगी। और तुझ मित्र को आया जानकर—वहां की विलासिनी रमणियों के—पाले हुए मयूर नृत्य करने लगेंगे और तेरा हार्दिक प्रेम पूर्वक स्वागत करेंगे। इसके सिवा, उज्जयिनी के महलों में पुष्पों की मनोहर सौरभ परिपूर्ण रहती है, और उनमें लावण्यवती वनिताओं के चरणों में लगे हुए महावर आदि के चिन्ह शोभित रहते हैं, अतएव ऐसे सुन्दर पद

---

† पाठान्तर—शोभा उसकी खख सुरभि से युक्त हर्म्य-स्थलों में।

मूल—भर्तुः कण्ठच्छविरिति गणैः सादरं वीक्ष्यमाणः
पुण्यं यायास्त्रिभुवनगुरोर्धामचण्डेश्वरस्य[1]।
धूतोद्यानं कुवलयरजोगन्धिभिर्गन्धवत्या-
स्तोयक्रीडा[2]विरतयुवतिस्नानतिक्तैर्मरुद्भिः॥३६॥

सुगन्धित महलों पर जब तू विश्राम लेगा तब तेरी शारीरिक और मानसिक सभी थकावट एक बार ही दूर हो जायगी।

केशसंस्कारधूपैः—इस पद से केशों को सुगन्धित करने के लिये सुगन्ध-द्रव्यों की धूप से सुखाना, इत्यादि वहां की स्त्रियों की विलासिता सूचन की है। कुमार सम्भव में भी श्री पार्वती जी के विवाहोत्सव के समय उनके शृङ्गार-वर्णन में कहा है—

"धूपोष्मणा त्याजितमार्द्रभावं केशान्तमन्तः कुसुमं तदीयम्"।
(७-१४)

अलङ्कार—यहां भी 'उदात्त' है।

श्लोक—३६,

इस श्लोक में उज्जयिनी के श्रीमहाकाल के धाम की रमणीयता का वर्णन है—

फिर वहां तू-त्रिभुवनैक-पूज्य भगवान् श्री महाकालेश्वर के परम-पावन स्थान में जाना। उस स्थान की मनोरमणीयता अकथनीय है। वह उन उद्यानों से सुशोभित है जिनको, कमलों के पराग से सुगन्धित और युवतियों के जल-विहार के समय

---

१ चण्डीश्वरस्य, नं० जै० सारो० सु० मद्दि० ई०। २ निरत, नं० व० सारो० सु० मद्दि० ई० मा०।

पद्यानुवाद—जाना पुण्य-स्थल वन ! वहां श्री महाकाल-धाम
सन्मानेंगे शिव-गण तुझे स्वामि-कण्ठाभ जान
स्त्री-क्रीडा से सुरभित जहां गन्धवत्ती-समीर—
उद्यानों को कमल-रज से दे रहा कम्प-धीर ॥३६॥

मिले हुए उनके अङ्गरागों के गन्ध से सु-वासित, होकर गन्धवती के पवन, कम्पायमान करते रहते हैं—यह केवल कल्याणकारक ही नहीं उसका प्राकृतिक दृश्य भी अपूर्व है। वहां तू श्री शिवजी के पार्षद गणों द्वारा बड़े आदर पूर्वक देखा जायगा क्योंकि तू उनके स्वामी [नीलकण्ठ भगवान् शिव] के कण्ठ के समान नील कान्तिवाला है, अतएव वे तुझे बड़ी श्रद्धापूर्वक देखेंगे।

कण्ठच्छवि—श्री शङ्कर के कण्ठ का नीलवर्ण है। जब देव-दानवों ने समुद्र मथन किया था तब उसमें से प्रथम निकले हुए ज़हर की ज्वाला से तीनों लोकों को सन्तापित देख परम कृपालु भगवान् भूतनाथ ने उसको पान करके उदर में नीचे न उतार कर अपने कण्ठ ही में धारण कर लिया था जिससे उनके कण्ठ का नीलवर्ण हो गया था। यहां इस पद से श्री शङ्कर की परम दयालुता सूचन की है।

त्रिभुवनगुरो—श्री शङ्कर, तीनों लोक के स्वामी और पूज्य हैं, देखिए—

" ब्रह्माण्डस्याधिपत्यं हि श्रीकण्ठस्य न संशयः।
न स चेदीशतां कुर्याज्जगतां कथमीश्वर " ॥ (वायु पुराण)

चण्डेश्वर—इसके स्थान पर 'चण्डीश्वर' भी पाठ है उसका अर्थ है गिरजापति। दोनों ही श्री शिव के नाम हैं, परन्तु यहां श्री महाकालेश्वर का पर्याय ' चण्डेश्वर ' पाठ प्रसङ्गानुकूल प्रतीत होता है।

मूल–अप्यन्यस्मिन् जलधर महाकालमासाद्य काले
स्थातव्यं ते नयनविषयं यावदत्येति[१] भानुः।
कुर्वन्संध्यावलिपटहतां शूलिनः श्लाघनीया–
मामन्द्राणांफलमविकलं लप्स्यसे गर्जितानाम्॥३७॥

श्री महाकाल—यह धाम प्रसिद्ध द्वादश ज्योतिर्लिङ्गों में से एक है। इसका माहात्म्य स्कन्द पुराण में लिखा है—

"आकाशे तारकं लिङ्गं पाताले हाटकेश्वरम्।
मर्त्यलोके महाकाल दृष्ट्वा काममवाप्नुयात्"॥

इसका वर्णन इन्दुमति के स्वयम्वर प्रसङ्ग में, रघुवंश में भी है—

"असौ महाकालनिकेतनस्य वसन्नदूरे किल चन्द्रमौलेः।
तमिस्रपक्षेऽपि सहप्रियाभिर्ज्योत्स्नावतो निर्विशति प्रदोषान्"॥
(६-३४)

अर्थ—इन्दुमति को सुनन्दा कहती है, कि यह राजा उज्जयिनी में श्री महाकाल नामक चन्द्र-शेखर के मन्दिर के समीप निवास करता है। इस कारण से कृष्ण पक्ष में भी रानियों के साथ इसको शुक्ल पक्ष की चांदनी रातों का सा आनन्द प्राप्त होता है।

गन्धवती—इसको प्राचीन टीकाकारों ने एक नदी माना है। कुछ लोग इस नाम की नदी को शिप्रा के प्रवाह में मिली हुई बतलाते हैं। कुछ लोग इस नाम का कोई कुण्ड वहां अनुमान करते हैं, विलसन् साहब ने इसको ब्रूक Brook [जल का बहता हुआ नाला या छोटी नदी] लिखा है। किन्तु अनुसन्धान से मालूम हुआ है कि उज्जैन में शिप्रा-नदी के ही एक घाट का नाम गन्धवती है। शायद पूर्वकाल में रानियां इस घाट पर स्नान

---

१ म्येति, विल० सारो० व० क० म० स० रा० इ०।

पद्यानुवाद—जो तू जावे पहुंच पहिले, स्थान-गौरीपती के
तो भी सन्ध्या तक ठहरना मित्र मेरे! वहीं पे।
सायं आर्ती-समय करना दुंदुभी की ध्वनी सी
होगी तेरी सब सफलता गर्जना-माधुरी की॥३७॥

करती हैं, उनके अङ्गराग का गन्ध मिलने ही से इस घाट का गन्धवती नाम पड़ा है। उज्जैन में शिप्रा के सिवा अन्य किसी नदी का अन्यत्र भी कुछ उल्लेख नहीं मिलता है। कादम्बरी में भी उज्जयिनी के विस्तृत वर्णन में शिप्रा के सिवा दूसरी नदी का वर्णन नहीं है। रघुवंश में महाकवि कालिदास ने भी उज्जयिनी में शिप्रा-नदी के ही तरङ्गों के पवन से उद्यानों का कम्पायमान होना लिखा है, जैसा कि यहां गन्धवती के पवन से उल्लेख है, देखिए :—

"अनेन यूना सह पार्थिवेन रम्भोरु कच्चिन्मनसो रुचिस्ते।
सिप्रातरङ्गानिलकम्पितासु विहर्तुमुद्यानपरम्परासु"॥(६-३५)

अलङ्कार—यहां भी उज्जयिनी के वर्णन में श्री महाकाल का अङ्गभाव होने से दूसरा उदात्त अलङ्कार है।

श्लोक—३७,

इस श्लोक में सेवा का मुख्य समय बताता हुआ यक्ष, श्री महाकालेश्वर की सायंकालिक सेवा का प्रकार सूचन करता है—

हे मेघ! श्री महाकाल के मन्दिर में यदि तू सायंकाल के सिवा किसी दूसरे ही समय में अर्थात् सायंकाल से प्रथम पहुँच जाय तो भी सूर्यास्त हो तब तक तू वहां अवश्य ठहर जाना। फल यह होगा कि प्रदोष-काल की प्रशंसनीय पूजा की आरती

मूल– [१]पादन्यासक्वणित[२]रशनास्तत्र लीलावधूतै
रत्नच्छायाखचितवलिभिश्चामरैः क्लान्तहस्ताः।
वेश्यास्त्वत्तो नखपदसुखान् प्राप्यवर्षाग्र बिन्दू-
[३]नामोक्ष्यन्ति त्वयि मधुकर श्रेणिदीर्घान् कटाक्षान्॥३८

के समय तू नगारों के सदृश नाद करेगा तब अपनी मधुर गर्जना की सम्पूर्ण सफलता प्राप्त करने का तुझे बड़ा अच्छा अवसर मिल जायगा—सायंकाल की पूजा के समय मधुर गर्जना करके श्री शिवजी की इस सेवा से तू अपना जीवन अवश्य सफल कर लेना।

यावदत्येति—इसके स्थान पर 'यावदभ्येति' पाठान्तर है, उसका अर्थ है 'जब तक सूर्य उदय न हो' अर्थात् अहोरात्र श्री शिव धाम में निवास करना।

फलमविकलं—इस पद से श्री शङ्कर की आराधना से अखण्ड-फल प्राप्त होना सूचन किया है, लिखा है —

"तस्मिन् प्रसन्ने किमिहास्त्यलभ्यं धर्मार्थकामैरलमल्पकास्ते।
समाश्रिताद्ब्रह्मतरोरनन्तान्निःसंशयः पक्वफलप्रपाकः"॥

(श्रीविष्णुपुराण)

अलङ्कार—यहां गर्जना में दुंदुभी का आरोप होने से 'रूपक' है अथवा रूपकातिशयोक्ति और निदर्शना भी हो सकती है।

—o—

१ पादन्यासे, सारो०। २ रसना, जै० विस०। ३ आमोक्ष्यन्ते नं० सारो म० मु० जै०।

पद्यानुवाद—होती मीठी, पद-धमक से किङ्किणी की ध्वनी हैं
लीला से, जो चँवर करती श्रान्त हस्ता हुई हैं।
पा, बूदों के नख-पद लगें, मोद, वेश्या वहांकी-
डालेंगी वे तुझपर अलि-श्रेणिसी दृष्टि बांकी ॥३८॥

श्लोक—३८,

इस श्लोक में श्रीमहाकालेश्वर के प्रदोष कालिक रमणीय-दृश्य का वर्णन है—

सायंकाल की आरती के समय वहां नृत्यकारियां नृत्य किया करती हैं, नृत्य करते समय उनकी किङ्किणियों की बड़ी ही मधुर ध्वनि होती है और रत्न के जड़े हुए कङ्कणों की प्रभा से शोभायमान दण्ड वाले चँवरों को विलास पूर्वक—धीरे धीरे—हिलाते भी उनके हाथ थक जाते हैं। जब तेरी वर्षा की नवीन ठंडी, ठंडी बूंदों का स्पर्श, उन नर्तकियों के नख पदों में होगा, तब वे बहुत ही सुख पाकर तुझ पर—भौंरा की पंक्ति के समान—अपने नीले और दीर्घ कटाक्ष डालेंगी, अतएव यह भी एक अपूर्व आनन्द तुझे मिलेगा जो कि वहां की वाराङ्गनाओं के नृत्य का चातुर्य देखेगा और ऐसे मनोहर कटाक्षों का तू कुछ समय तक पात्र होगा।

लीलावधूतैः—इस पद से धीरे धीरे भी चँवर हिलाते श्रान्त-हस्ता कथन करके उनकी अत्यन्त सुकुमारता द्योतन की है।

मधुकरश्रेणिदीर्घान्कटाक्षान्—इसमें नेत्रों को कमल की और उनके बीच में की श्यामलता में से निकलती हुई दृष्टि को, कमल में से उड़ती हुई लम्बायमान भौंरा की पंक्ति की उपमा दी है। यह उपमा हमारे कवि को बहुत प्रिय है, रघुवंश में भी, देखिए—

मूल—पश्चादुच्चैर्भुजतरुवनं मण्डलेनाभिलीनः
सान्ध्यं तेजः [1] प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः।
[2]नृत्यारम्भे हर पशुपतेरार्द्रनागाजिनेच्छां
शान्तोद्वेगस्तिमितनयनं दृष्टभक्तिर्भवान्या॥३६॥

" विलोलनेत्रभ्रमरैर्गवाक्षाः सहस्रपत्राभरणा इवासन्"।

चामरैः—चँवर हाथ में लेकर नृत्य करने का 'देशिक' नाम का नृत्य यहां सूचन किया है, नृत्य सर्वस्व में लिखा है:

"खड्गकन्दुकवस्त्रादि दण्डिकाचामरस्रजः।
वीणां च धृत्वा यत्कुर्युस्तन्नृत्यं देशिकं विदुः"॥

नखपद—इस शब्द का अर्थ है क्रीडा में रसिकजनों द्वारा दिया हुआ 'नखक्षत'। अथवा वाद्य की ताल [लय] के साथ चरण के घूघरुओं का शब्द मिलाने को अंगूठे के आघात से वारंवार ताल देते में नख घिस जाने से दुखते हुए अंगूठे का अग्रभाग। वर्षा की बूंदों का स्पर्श दोनों ही को सुख-प्रद है।

अलङ्कार—यहां परिवृत्ति है। मेघ की बूंदों से सुख मिलने पर बदले में मेघ को कटाक्ष-प्रदान रूप सुख दिया जाना कथन किया गया है, कहा भी तो है—" परैरुपकृताः सन्तः सद्य प्रत्युपकुर्वते"।

श्लोक—३६,

अब श्री पार्वती-नाथ की इस प्रकार आराधना करने के पीछे श्री जगदम्बा को प्रसन्न करने का प्रकार, मेघ को यक्ष बतलाता है—

---

१ विकसित, सारो० प्रतिनवमवा, ईश्व० मिल०। २ नृत्ता, जै० व०।

पद्यानुवाद—छालेना तू भुज-वन पुनः मण्डलाकार से, जा
धारें सन्ध्या-द्युति नव-जपा-पुष्पसी नृत्य-वेला।
इच्छा गीले गज-अजिन की शम्भुकी तू मिटाना
श्रीगौरी को कर मुदित यों भक्ति तेरी दिखाना॥३६॥

फिर—सन्ध्या-आरती का आनन्दानुभव करने के पीछे—तू एक काम करना। भगवान् भूतनाथ को गीला रुधिर टपकता हुआ गज चर्म बड़ा प्रिय है। वे ताण्डव नृत्य के समय उसे धारण किया करते हैं, पर ऐसे गजचर्म से श्री गौरी को बड़ा उद्वेग होता है, सो तेरी नील घटा पर जब—विकसित-जपा-पुष्प के समान- -सायङ्कालीन रक्त-प्रभा का प्रतिविम्ब गिरेगा, तब उस प्रतिविम्ब से तू गीलेगज-चर्म के समान ही मालूम होने लगेगा। उसी रूप के अपने मण्डल से श्री शङ्कर के ताण्डव नृत्य के समय तू उनके भुजारूपी वृक्षों के वन को आच्छादित कर लेना अर्थात् तेरे पटल से उनको ढकलेना, ऐसा होने से उनकी गज-चर्म धारण करने की इच्छा परिपूर्ण हो जायगी और भगवती भवानी को उद्वेग भी न होगा, फल यह होगा कि तेरी इस प्रकार की भक्ति को देख कर वह तुझे निश्चल-दृष्टि से देखेंगी—तुझ पर वे बहुत ही प्रसन्न होकर कृपा-कटाक्ष डालेंगी, यह तुझे बड़ा ही अलभ्य-सौभाग्य प्राप्त होगा।

नागाजिनेच्छा—हाथी के चर्म ओढ़ने की इच्छा। स्कन्धपुराण के गणेशखण्ड की दश की अध्याय में कथा है, कि गजासुर नाम का एक बलोन्मत्त दैत्य, देवता और ऋषियों को अत्यन्त पीडा देने लगा था, तब उनकी प्रार्थना से श्री महादेवजी ने उसको मार कर उसकी रुधिर टपकती

मूल—गच्छन्तीनां रमणवसतिं योषितां तत्र [1]नक्तं
रुद्धालोके नरपतिपथे सूचिभेद्यैस्तमोभिः।
[2]सौदामन्या कनकनिकषस्निग्धया[3] दर्शयोर्वीं
तोयोत्सर्गस्तनितमुखरो मास्म भूर्विक्लवस्ता॥४०॥

हुई गीली चर्म को धारण करके ताण्डव-नृत्य किया था। यहां 'इच्छा' का कथन, केवल भाव-औचित्य प्रदर्शित करने के लिये हैं, वस्तुतः आत्माराम भगवान् काम-रिपु को इच्छा मात्र होना सर्वथा असंभव है, महाकवि कालिदास ने भी कुमार संभव में कहा हैः—

"विभूषणोद्भासि पिनद्धभोगि वा गजाजिनालम्बि दुकूलधारि वा,
कपालि वा स्यादथवेन्दुशेखरं न विश्वमूर्तेरवधार्यते वपुः" ॥

सान्ध्यं तेजः—सायंकाल के समय प्रायः मेघों की अरुण कान्ति हो जाती है, देखिएः—

'सन्ध्यापयोदकपिशाः पिशिताशनानाम्'।

अलङ्कार—यहां उपमा है। सायंकालीन वर्षा समय के मेघ के प्राकृतिक दृश्य के साथ आर्द्र-गज चर्म की बड़ी ही विचित्र सादृश्य कल्पना की गई है। महाकवि भारवि ने इस भाव का अनुसरण करते हुए हिमालय को गज-चर्म धारण किये हुए श्री शङ्कर की उपमा दी हैः—

" तपनमण्डलदीपितमेकतः सततनैशतमोवृतमन्यतः।
हसितभिन्नतमिस्रचयं पुरः शिवमिवानुगतं गजचर्मणा"॥
(किरातार्जुनीय ५-२)

---

१ रात्रौ, विज० भ० ह०। २ सौदामिन्या, विल० सारो० व०। ३ छायया, त्रिल० स० रा० ह०।

पद्यानुवाद—जाती हुई प्रिय-सदन को, नारियों को निशा में-
सूची-भेद्य घन-तम-घिरे मार्ग को तू वहां पे
तेरी नीलोपल-कनक-सी दामिनी से दिखाना
हैं वे भीरू जलद ! न कहीं गर्ज पानी गिराना ॥४०॥

श्लोक—४०

इस श्लोक में उज्जयिनी की अभिसारिकाओं का वर्णन है —

फिर तू वहां पर एक काम और भी करना। उज्जयिनी की रमणियां रात्रि में अपने प्रियतमों के सङ्केत स्थान पर जाया करती हैं। वर्षाकालीन रात्रियों में —गली कूचों की तो बात ही क्या है—राजमार्ग में भी बड़ा अन्धकार छा जाता है यहां तक कि चाहे सूई की नोक से उसे छेद डाला जाय, तू अपने नीले वर्ण से ढके हुए आकाश पर—श्यामवर्ण की कसौटी के ऊपर सोने की रेखा के सदृश कान्ति वाली—मन्दी सी बिजली चमका के उन अभिसारिकाओं को रास्ता दिखला देना, किन्तु वर्षा और गर्जना कदापि न करना क्योंकि वे बड़ी डरपोक हैं—वर्षा और गर्जना से बिचारी घबड़ा जाँयगीं।

यहां किसी के आनन्द में विक्षेप डालने का निषेध रूप उपदेश सूचन किया गया है, क्योंकि कहा है —

" सतत नरके वासो स्नेहविक्षेपकारिण "।

सौदामिन्याकनक—इत्यादि पद्य में कसौटी पर लगी सोने की रेखा की उपमा, यहां सजल-मेघ में मन्दी चमक की बिजली को दी गई है। गीतगोविन्द में यही उपमा प्रकारान्तर में दी है —देखिए —

मूल—तां कस्याञ्चिद्भवन[1]वलभौ सुप्तपारावतायां
नीत्वा रात्रिं चिरविलसनात्खिन्नविद्युत्कलत्रः।
दृष्टे सूर्ये पुनरपि भवान् वाहयेदध्वशेषं
मन्दायन्ते न खलु सुहृदामभ्युपेतार्थकृत्या॥४१॥

" काश्मीर गौरवपुषामभिसारिकाणा—
मावद्धरेखमभितोरुचिमञ्जरीभिः।
पतत्तमालदलनीलतम तमिस्त्र
तत्प्रेमहेमनिकषोपलतां तनोति"॥

अर्थात् कुंकुम के सदृश गोराङ्गी अभिसारिकाओं की कान्तिरेखा चारों ओर निक्षिप्त होने से, तमाल पत्र के समान घोर नील अन्धकार ने उनके प्रेम रूप सुवर्ण की परीक्षा के लिये कसौटी की समता धारण की।

तोयोत्सर्गस्तनित—इत्यादि पाद का भाव शूद्रक ने इस प्रकार दिखाया है—

"जलधर निर्लज्जस्त्वं यन्मां दयितस्य वेश्म गच्छन्तीम्।
स्तनितेन भीषयित्वा धाराहस्तैः परामृशसि"॥
(मृच्छकटक अ० ५-२)

अलङ्कार—यहां परिणाम है बिजली में सुवर्ण रेखा का आरोप करके मार्ग दिखाने रूप प्रकृत का कार्य कराया गया है। ऋतुसंहार के अभिसारिका वर्णन में भी इस भाव की समता है।

श्लोक-४१,

अब, उज्जयिनी का रसानुभव करने के अनन्तर मेघ को फिर अलका के मार्ग में गमन करने को यक्ष कहता है—

---

१ वडभौ वित्र०।

पद्यानुवाद—होगी श्रान्ता चिर-विलसिता दामिनी-कामिनी, सो-
सोते पारावत-छत वहां तू बिता यामिनी को ।
प्रातः होने पर फिर वही काटना मार्ग जाके
ढीले होते सुहृद न उठा मित्र का कार्य्य माथे ॥४१॥

दिन भर अनेक प्रदेश देखने में तथा तेरे साथ बारंबार विलास करने से वा अभिसारिकाओं को मार्ग दिखलाने से तेरी प्यारी बिजली थक जायगी । अतएव तू वहां-उज्जयिनी के किसी महल की निर्जन छत पर-ऐसी छत पर जहां कबूतर सोते हों-उस रात्रि को वहीं बिताना, सूर्योदय होते ही फिर अलका के बाकी रहे हुए मार्ग को काटने के लिये चल देना—उज्जयिनी की अलौकिक शोभा से लुब्ध होके वहां अधिक समय ठहरना तुझे कदापि योग्य न होगा, क्योंकि जो अपने मित्र का कार्य्य स्वीकार कर लेते हैं, वे उसे पूरा किये बिना कभी शिथिल नहीं होते ।

शिक्षा—यहां मित्र का कार्य स्वीकार करके छोड़ देना बड़ा भारी पाप-कर्म है ; यह सूचन करके लोकोपयोगी-शिक्षा दी गई है, क्योंकि लिखा है—

"सुहृदर्थं प्रतिश्रुत्य यश्च पश्चान्नकुर्वतां ।
तेन पापेन लिप्येय यद्यहं नागमे पुनः" ॥ (श्री महाभारत)

सुप्तपारावतायां—कहते हैं कि कबूतरों का शब्द कामोद्दीपक होने से नागरिक इनको रक्खा करते हैं । मालविकाग्निमित्र और विक्रमोर्वशीय में भी इनका वर्णन है । परन्तु यहां तो स्थान की निर्जनता सूचन के लिये ऐसा कहा गया है ।

मूल—तस्मिन्काले नयनसलिलं योषितां खण्डितानां
शान्तिं नेयं प्रणयिभिरतो वर्त्म भानोस्त्यजाशु।
[1]प्रालेयास्रं कमलवदनात्सोऽपि हर्तुं नलिन्याः
प्रत्यावृत्तस्त्वयि कररुधि स्यादनल्पाभ्यसूयः॥४२॥

श्लोक—४२,

इस श्लोक में देवापराध के निषेध रूप उपदेश द्वारा प्रातःकालीन ओस-कन टपकते हुए कमलों पर सूर्य प्रभा गिरने की नैसर्गिक शोभा का वर्णन है—

उज्जयिनी से जब तू प्रस्थान करे तब एक बात का अवश्य ध्यान रखना। उस समय—प्रातःकाल में—खण्डिता नायकाओं के आँसुओं को उनके प्रेमीजन आकर पोंछा करते हैं—रात्रि में घर पर न आने से रूसी हुई स्त्रियों को प्रभात में आकर उनके प्रिय जन प्रसन्न किया करते हैं—अतएव भगवान् भास्कर का मार्ग तू शीघ्र छोड़ देना [न रोकना] क्योंकि वे [सूर्य] भी रात्रि में अन्यस्थल रह के प्रभात के समय अपनी प्रिया पद्मिनी के कमल रूप मुख से ओस के कन रूप आँसुओं को अपने कर [किरण, श्लेषार्थ से हाथ] से पोंछने के लिये लौटेंगे, तब यदि उनके कर, तेरे—बदल—द्वारा रुकेंगे तो बड़ा अपराध होगा वे तुझ पर बड़े कुपित हो जाँयगे—बड़ा अनर्थ हो जायगा।

शिक्षा—इसमें देवापराध का निषेध परक उपदेश सूचन किया गया है, कहा है—

---

१ प्रालेयाभ्र, विज०।

पद्यानुवाद—पोंछें आँसू प्रिय-जन सभी खण्डिता-नारियों के
सो तू प्रातः समय रविका छोड़ना मार्ग, क्योंकि-
प्रालेयास्रू कमल-मुख से पद्मिनी के मिटाने-
लौटें वे भी, तब कर रुकें होयँगे वे रिसाने ॥४२॥

" आत्मानं चार्कमीशानं विष्णुं वा द्वेष्टि यो जनः।
श्रेयांसि तस्य नश्यन्ति रौरवं च भवेद्ध्रुवम् "॥

खण्डिता—रात्रि में दूसरी जगह रमण करके प्रभात में सुरत-चिन्ह युक्त घर पर आये हुये पति पर रोष ईर्षा से कुपित, मान-खण्डन पाई हुई स्त्री के कहते हैं, रसमञ्जरी में लिखा है:—

'अन्योपभोग चिन्हितः प्रातरागच्छतिर्पतिर्यस्या सा खण्डिता'।

यहां प्रभात समय के प्रफुल्ल कमल-वन के निसर्ग-जात चेतोहारी दृश्य में कमलिनी के खण्डिता-नायिका, प्रभात में ओसके कन—जो कमल पत्रों पर से टपकते हैं, उनको आंसू, और सूर्य की रश्मि से वे [ओस-कन] सूख जाते हैं, उनको सूर्य के द्वारा कुपित पद्मिनी-प्रिया के मुंहके आंसू पोंछने आदि की, जड में चेतन भाव की कल्पना करके कवि ने वर्णन को अपूर्व बना दिया है।

अलङ्कार—यहां 'प्रालेयाश्रु' पद में रूपक, और 'कर' शब्द में श्लेष, ये दोनें गम्योत्प्रेक्षा के अङ्ग होने से अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर है।

मूल—गम्भीरायाः पयसि सरितश्चेतसीव प्रसन्ने
छायात्मापि प्रकृतिसुभगो लप्स्यते ते प्रवेशम्।
[१]तस्मादस्याः कुमुदविशदान्यर्हसि त्वं न धैर्या-
न्मोघीकर्त्तुं चटुल[२]सफरोद्वर्तनप्रेक्षितानि॥ ४३॥

श्लोक—४३,

इस श्लोक में मेघ और गम्भीरा नाम की नदी का नायक और नायिका रूप सम्बन्ध कल्पना करके वर्णन किया गया है—

उज्जयिनी से आगे जाते हुए तुझे गम्भीरा नदी मिलेगी, उसके-निष्कपट अन्तःकरण जैसे निर्मल जल में भी तेरे शरीर की छाया अवश्य प्रवेश होगी, अर्थात् जिस प्रकार किसी सुन्दर पुरुष का चित्र, अनुरक्ता गम्भीर हृदया स्त्री के प्रसन्न [विषयान्तर विक्षेप रहित] अन्त-करण में बस जाता है, उसी प्रकार उस नदी के हृदय रूप जल-प्रवाह में तेरे शरीर का सुन्दर प्रतिबिम्ब बस जायगा। वह तुझ पर-खिले हुए कुमुद के समान-सफेद और बड़े चञ्चल फड़कते हुए अपने मत्स्य रूपी कटाक्षों को डालेगी, उनको तुझे धैर्य रखकर [अननुरक्त होकर] निराश करना उचित न होगा अथवा क्या तू निराश कर सकेगा? कदापि नहीं।

---

१ तस्मात्तस्याः व०। शफरी, विल०।

पद्यानुवाद—गम्भीरा के जल हृदय से स्वच्छ में भी सुवेश—
छाया तेरी सु ललित अहो ! स्निग्ध होगी प्रवेश।
पीछे, उसके चलित-सफरी-कञ्ज-कान्ति-कटाक्ष,
होगा तेरे उचित न कभी जो करेगा निराश॥ ४३ ॥

अलङ्कार—यहां रूपक, समासोक्ति का अङ्ग होने से अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर है।

धैर्यात्-इस पद का मल्लिनाथ ने धार्ष्ट्यात् अर्थ किया है, परन्तु धैर्य शब्द का धृष्टता के अर्थ में प्रयोग न देखा जाने से प० ईश्वरचन्द्र वि० ने भी इस अर्थ को अनुचित माना है।

गम्भीरा-इस नाम की कोई छोटी नदी मालवा प्रान्त में अनुमान की जाती है। इसका पता ठीक न ज्ञात होने से विलसन् साहब ने भी यही लिखा है। यहां, मछलियों को नदी के कटाक्ष रूप वर्णन किया है। भारवि ने भी इसका अनुसरण किया है -

"स ततारसैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः"॥
(६-१६)

८८—तस्याः किञ्चित् करधृतमिव प्राप्तवानीरशाखं,
हृत्वा नीलं सलिलवसनं मुक्तरोधोनितम्बम्।
प्रस्थानं ते कथमपि सखे लम्बमानस्य भावि
ज्ञातास्वादो [१]विवृतजघनां को विहातुं समर्थः॥४४॥

श्लोक—४४,

इस श्लोक में मेघ को अनुरक्त नायक और गम्भीरा नदी को अनुकूला नायिका कल्पना करके उनकी शृङ्गार चेष्टा का निरूपण है :—

हे रसिक ! मुझे यह शङ्का होती है, कि तू उस गम्भीरा नदी के प्रेम-पाश में आकर कहीं वहां न रुक जाय, क्योंकि तेरे द्वारा हरण किया जाने पर, तट रूप नितम्ब से हट कर, बैंतो के वृक्ष रूपी हाथ से कुछ ठहरे हुए, उस गम्भीरा-नदी के नीले-जल रूपी वस्त्र को हरण करके—इस शृङ्गार-चेष्टा में लुब्ध होकर—वहां विलम्ब करते हुए तेरा आगे जाना मुझे बड़ा कठिन मालुम होता है। भला, रस-अनुभव किया हुआ कौन ऐसा रसिक है जो वस्त्र-रहित जघनवाली कान्ता को त्याग करने में समर्थ हो सके ?

यहां नदी को नायिका-रूप, मेघ द्वारा आकर्षित उसके नीले जल को वस्त्र-रूप, सफेद रंग के तटको नितम्ब [कटि के पीछे का अङ्ग] रूप, और जल के प्रवाह को रोकने वाले बैंतो के वृक्षों को हाथ-रूप वर्णन किया है। अर्थात्

---

१ पुलिनजघनां, वल्लभ० म० रा० द० क० व०; विपुलजघनां, सारो०।

पद्यानुवाद— *पानी उसका तट हट, लगा शाख-वानीर के, वो
मानो नीला-पट कटि-छुटा लेरही हाथमें सो-
खैंचे पीछे अति कठिन है मित्र ! प्रस्थान आगे
स्वाद-ज्ञाता जघन-उघरी-स्त्री भला कौन त्यागे?॥४४॥

जिस प्रकार अनुकूला नायिका, प्रियतम द्वारा खैंचा जाने पर ढीला होकर कटि से छूटे हुए वस्त्र को, लज्जाका भाव मात्र दिखलाती हुई उसे हाथ से कुछ रोकती सी हो, तादृश शृङ्गार चेष्टा की, यहां मेघ द्वारा खिंचते हुए नदी के जल के दृश्य में, कल्पना की गई है।

अलङ्कार—यहां रूपक, उत्प्रेक्षा का अङ्ग है, और वे दोनों—रूपक और उत्प्रेक्षा—चौथे पाद में कहे हुए अर्थान्तरन्यास के अङ्ग हैं, अत अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर है।

शिक्षा—इस शृङ्गार रसात्मक वर्णन में भी यही उपदेश सूचन होता है, कि स्त्रियों की अत्यन्त शृङ्गार चेष्टा में आसक्त होके—फसकर—फिर उनसे छूटना बड़ा कठिन है, अतएव प्रथम ही उनकी अत्यन्त आसक्ति से बचना चाहिये। कहा है—

"तावदेव कृतिनां हृदि स्फुरत्येष निर्मलविवेकदीपकः।
यावदेव न कुरङ्गचक्षुषां ताड्यते चटुललोचनाञ्चलैः" ॥

---

* पाठान्तर—उसका नीला-जल-पट तट श्रोणि से है हटा जो—
मानो लीये कर-कुछ, उसे बेत शाखा लगा यों—
खैंचे पीछे किस विध सखे ! जायगा तू बता तो ?
स्वाद ज्ञाता जघन उघडी कौन त्यागे प्रिया को ?

मूल—त्वन्निष्यन्दोच्छ्वसितवसुधागन्धसम्पर्करम्यः[१]
[२] स्रोतोरन्ध्रध्वनितसुभगं[३] दन्तिभिः पीयमानः।
नीचैर्वास्यत्युपजिगमिसोर्देवपूर्वं गिरिं ते
शीतो वायुः[४] परिणमयिता काननोदुम्बराणाम्[५]४५

श्लोक-४५,

अब, मेघ को फिर मार्ग का श्रम उतारने को और श्रीस्कन्द के दर्शन करनेकेलिये, देव गिरि पर्वत पर जाने को यक्ष कहता है—

वहां से देवगिरि जाते हुए तुझको, मन्द मन्द बहता हुआ जङ्गली गूलरों को पकाने वाला शीतल पवन, सेवन करेगा-धीरे धीरे तेरा पंखा सा करेगा। वह पवन-तेरी की हुई नवीन बरसाजनित फूली हुई-पृथ्वी की सुगन्ध से बड़ा ही रमणीय हो जायगा। सूंडों के छिद्रों में सुन्दर शब्दायमान होते हुए उस पवन को हाथी बड़े चाव से पीयेंगे क्योंकि वह उनको बहुत प्रिय मालूम होता है।

---

१ पुष्प, व० विल० म० स० रा० इ०। २ श्रोतो, विल०। ३ मधुर। ४ वात, जै०। ५ काननौ, जै०; काननोदुम्बराणाम्, विल०।

पद्यानुवाद—तेरी बूंदे-गिर भुवि-उठी रम्य-सौरभ्य वाला
पीती जिस्को सु-रव करके सूंड से हस्ति-माला।
ठंडा धीरें-चल पवन जो गूलरों को पकाता
होगा, जातें सुर-गिरि, तुझे वो बड़ा मोद-दाता ४५

देवगिरि—यह पर्वत मालवा के मध्य भाग में चम्बल-नदी के दक्षिण में है, इसको अब देवगढ़ कहते हैं। यहा स्वामी कार्तिकेय का मन्दिर है, जिनका वर्णन अगले श्लोक में है।

नीचैर्वास्यति—इत्यादि में श्रीमद्रामायण के—'सिषेचे च तदा वायु रामकार्यार्थ सिद्धये'। इस वर्णन का अनुसरण मालूम होता है।

अलङ्कार—यहा स्वभावोक्ति है।

श्लोक-४६,

इस श्लोक में मेघ को देवगिरि पर जाकर, कार्तिकेय स्वामी का पुष्पाभिषेक से पूजन करने को, यक्ष कहता है—

मूल – तत्रस्कन्दं नियतवसतिं पुष्पमेघीकृतात्मा–
पुष्पासारैः स्नपयतु भवान्व्योमगङ्गाजलार्द्रैः।
रक्षाहेतोर्नवशशिभृता वासवीनां चमूना–
मत्यादित्यं हुतवहमुखे संभृतं तद्धि तेजः॥४३॥

वहां—देवगिरि पर—देव-सेनापति श्री स्वामी कार्तिकेय सर्वदा निवास करते हैं। इन्द्र की सेना की रक्षा के लिये भगवान् नव-चन्द्र-शेखर–शिव–ने सूर्य से भी अधिक जिस अपने तेज को अग्नि के मुख में छोड़ा था, उसी–तेज–से स्वामि कार्तिकेय का प्रादुर्भाव है। तू वहां जाकर पुष्प बरसाने वाला मेघ बनकर आकाश-गङ्गा के जल से भीगे हुए पुष्पों की वर्षा से उनको स्नान कराना।

स्कन्द—श्रीवाल्मीकि रामायण (वा० स० ३७) में इनकी उत्पत्ति इस प्रकार वर्णन है, कि तारकासुर के उपद्रव से पीडित-देवताओं की प्रार्थना से श्री शिवजी ने देव-सेना की रक्षा के लिये अपना तेज–वीर्य, अग्नि के मुख में रक्खा था, किन्तु अत्यन्त उग्र होने से उसको अग्नि सहन न कर सका, तब उसने श्रीगङ्गाजी में उस–तेज–को छोड़ दिया, श्री गङ्गाजी ने उसे सरकंडे के वन में छोड़ा, वहां कृतिकाओं ने उसका पालन किया, इससे इन–के नाम पावकी, गङ्गा-पुत्र, शर-वन-भव और कार्तिकेय प्रसिद्ध हुए। फिर इन्होंने अत्यन्त क्षुधा के कारण छः कृतिकाओं का दुग्ध छः मुख होकर एक

पद्यानुवाद—हो पुष्पोंका जलद, करना, स्कन्द के धाम तू जा—
स्वर्गङ्गार्द्री-कुसुम-वरसा से वहां स्नान-पूजा।
ऐन्द्री-सेना-हित गिरिश ने तेज-सूर्यापहारी—
रक्खा था जो दहन-मुखमें है वही कान्ति-धारी ॥४६॥

ही साथ पान किया, इससे इनका नाम षण्मुख भी हुआ। इन नामों के सिवा स्कन्द, कुमार, सेनानी, और गुह भी इनके नाम हैं। इनका वाहन मयूर है। महाकवि कालिदास ने इनकी उत्पत्ति का इतिहास लेके कुमारसम्भव नाम का अनुपम काव्य निर्माण किया है।

पुष्पमेघीकृतात्मा—मेघ के पूर्वोक्त छठे श्लोक में "प्रकृतिपुरुष कामरूपं मघोन" इन विशेषणों से इच्छानुरूप स्वरूप धारण करने वाला और इन्द्रका प्रधान कहा ही गया है। श्री स्कन्द का प्रादुर्भाव इन्द्र की रक्षा के लिये है, इसी से इनको मेघ का पूज्य मानके पुष्पाभिषेक करने को कहा है।

हुतवहमुखे—इस कथन से इनकी अत्यन्त पवित्रता सूचित है। अग्निका मुख बड़ा पवित्र है, देखिए —

"गवां पश्चात् द्विजस्याग्रे योगिनां हृत्कवेर्वचः।
परं शुचितमं विद्यान्मुखं श्रीवन्हिवाजिनाम्॥"

(शम्भुरहस्य)

मूल—ज्योतिर्लेखावलयि गलितं यस्य बर्हं भवानी
पुत्रप्रेम्णा[१] कुवलयदलप्रापि[२] कर्णे करोति।
धौतापाङ्गं हरशशिरुचा पावकेस्तं[३] मयूरं
पश्चाद्द्रिग्रहणगुरुभिर्गर्जितैर्नर्तयेथाः ॥ ४७ ॥

अलङ्कार—यहां, भगवान् स्कन्द के पुष्पाभिषेक से क्या फल है? यह कार्य प्रस्तुत है, उसका—सम्पूर्ण-अभीष्ट दायक शक्ति रूप—कारण कथन किया गया है अतः अप्रस्तुतप्रशंसा है।

श्लोक—४७,

अब मेघ को वहां स्वामिकार्तिकेय के वाहन मयूर को हर्षित करके उनको प्रसन्न करने के लिए यक्ष कहता है—

तदनन्तर—पुष्पाभिषेक करने के पीछे-तू अपनी पर्वतों की गुफाओं में भर जाने से प्रतिध्वनित होकर बढ़ी हुई गर्जना से भगवान् कार्तिकेय स्वामी के वाहन मयूर को नचाना। वह बड़ा ही सुन्दर है, उसके नेत्रों के प्रान्त भाग-कोये-एक

---

१ पुत्रप्रीत्या व०, ह०। २ दलक्षेपि, त्रिवृ०, कुवलयपद,व०। ३ प्यायय, त्रिव० प० स० दृ० ह०।

पद्यानुवाद—तेजो-पंक्ती छवि मय, गिरा पिच्छ जिसका भवानी—
धारें कर्णोत्पल सम सदा पुत्र-प्रेमाभिलाषी।
शम्भू-चन्द्र-द्युति-धवल दृक् स्कन्द का है शिखी वो
तेरी भारी ध्वनि भर गुफा तू नचाना उसी को ॥४७॥

ता स्वय ही अत्यन्त श्वेत हैं, फिर वे, श्री शिवजी के चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब पाकर और भी अधिक शुभ्र कान्ति होकर बडे ही सुहावने मालूम होने लगते हैं। उसपर कार्तिकेय स्वामी का बहुत स्नेह है। केवल उनका ही क्यों, श्री पार्वतीजी भी अपने पुत्रका वाहन होने के कारण उसपर बडा प्रेम रखती हैं। उसका, तारागणों से जडा हुआ सा गोलाकार पख का चँदोवा जो स्वय गिर जाता है, उसे उठाकर वे अपने कानों में—अरुण कमल दल धारण करने के स्थान पर—धारण कर लेती हैं। अतएव इस सेवा से तुझ पर, भवानी शङ्कर और स्वामी कार्तिकेय सभी प्रसन्न होंगे।

अलङ्कार—यहा उपमा और तद्गुण की ससृष्टी है।

श्लोक—४८,

इस श्लोक में चर्मण्वती [चम्बल] नदी का वर्णन है—

मूल—आराध्यैनं[1] शरवणभवं[2] देवमुल्लङ्घिताध्वा
सिद्धद्वन्द्वैर्जलकणभयाद्वीणिभिर्[3]मुक्तमार्गः ।
व्यालम्बेथाः सुरभितनयालम्भजां मानयिष्यन्
स्रोतोमूर्त्या भुवि परिणतां रन्तिदेवस्य कीर्तिम् ॥४८

इस प्रकार शरजन्मा—भगवान् स्कन्द—की सेवा करके तुम जाते हुए का, वीणा-धारी सस्त्रीक सिद्ध जन मार्ग छोड़ देंगे—वे कार्तिक स्वामी को वीणा सुनाने को नित्य आया करते हैं, तेरी बूँदों से वीणा भीग जाने के भय से वे तेरे मार्ग से बच कर निकलेंगे। उनके छोड़े हुए उसी मार्ग से कुछ आगे जाकर तुझे चर्मण्वती नदी मिलेगी, तू उसे सन्मान पूर्वक धीरे धीरे उतरना, क्योंकि यह वही नदी है, जो कि महाराज रन्तिदेव के किये हुए असंख्य गो-मेध यज्ञों से उत्पन्न हुई थी—अतएव उसे नदी के रूप में पृथ्वी तल पर फैली हुई महात्मा रन्तिदेव की मूर्तिमती कीर्ति ही समझना।

रन्तिदेव—यह चन्द्रवंशीय राजा थे। भरत से छठी पीढ़ी में हुए थे। यह बड़े ही धार्मिक और उदारचेता था। प्रतिदिन दो हजार गायों से गो-मेध यज्ञ किया करते थे। उन्हीं गायों का रुधिर बहकर एक नदी बहने लगी इसी कारण उसका नाम चर्मण्वती प्रसिद्ध हुआ। अब यह चम्बल के नाम से प्रसिद्ध है। विलफोर्ड साहब ने विन्ध्याचल के उत्तर-पश्चिम प्रदेश में इसका निकलना लिखा है। महाभारत—द्रोण पर्व अ० ६७, वन पर्व अ० २९४ में तथा श्रीमद्भागवत—नवमस्कन्ध—अ० २१ में रन्तिदेव का सविस्तर

---

१ ध्यैवं, व०। २ सरवनभवं, विल; मुवं, व०। ३ दत्तमार्गः, विन० म० रा० १०।

पद्यानुवाद-आगे जाते दहन-सुत को पूजके मार्ग पा, जो-
छोड़ा वीणा-धर जलडरे सिद्ध-सिद्धाङ्गना जो।
नम्री होके घन! उतरना पार गो-मेधजा की
है कीर्ती जो शुचि जल-मयी रन्तिदेव-क्रिया की ॥४८॥

—०—

इतिहास वर्णन है। इसके गो-मेध यज्ञ की कथा महाभारत से लेकर दिग्-
न्ता-टीकाकार ने इस प्रकार वर्णन की है—

"आसीत्पुरा नरपतिः किल रन्तिदेवः
कीर्तिप्रसूनसुरभीकृतदिङ्मुखश्रीः।
यो वर्णसङ्करवतीमपि रत्नपुञ्जैः
क्षोणीमपालयदसङ्करवर्णहृद्याम्।
राष्ट्रे च तस्य रमणीयगुणाम्बुराशे—
र्गावः कदाचिदटवीं गहनां प्रविष्टाः।
दृष्ट्वा श्रिया परमया ज्वलितास्तु धेनूः
प्रभञ्छुरच्छकनकच्छविमङ्गलाङ्गीः।
सत्यं कथं नु भवतीभिरवाप्तमेत—
द्रूपं जरामृतिरुजारहिता च लक्ष्मीः।
इत्यादृतं सुरभयः परिपृच्छमाना—
स्ताभ्यः शशंसुरथ तत्यमुदारशीलाः॥
यज्ञे वयं सुकृतिभिर्विधिना विशस्ताः
पुण्यस्य तस्य फलमेतदवेत पुण्याः।
अर्थं गिरामपुरुषाशयदूषितानां—
मासेव्यको हि भुवने न भवेत्कृतार्थः॥

त्वय्यादातुं जलमवनते शार्ङ्गिणो वर्णचौरे
तस्याः सिन्धोः पृथुमपि तनुं दूरभावात्प्रवाहम्।
प्रेक्षिष्यन्ते गगनगतयो [1]नूनमावर्ज्य दृष्टी-
रेकं मुक्तागुणमिव भुवः स्थूलमध्येन्द्रनीलम् ॥४६॥

इति गिरममला निशम्य ताला—
मवनिचर. किल गोगणः स्पृहावान्।
नरपतिमुपगम्यवाचमूचे—
सुरपितृमानवमाननैकदीक्षाम ॥
यजस्व राजन्नस्माभि· श्रेयोस्माक भवेत्तत·।
तथापि सुमहत्पुण्यं कीर्तिश्चाभ्युदयेदिति ॥
अथ प्रीतो राजा पशुनिवहमालभ्य विधिना
यह्वनीजे यज्ञान्बहुमतिपद भूदिविपदाम्।
विशस्तानां तस्यां मखभुवि पशूनामयुतश·
स्रवन्तीसस्यन्दे क्षतजविसरैश्चर्मगलितै· ॥
यागे तथाविधिकृते विबुधाः प्रसन्ना—
स्तस्मै वर सुकृतिने कृतिने वितेरुः।
चर्मण्वतीति तव कीर्तिरनन्तकीर्ते·
शश्वत्पुनातु धरणीं सरिदात्मनेति" ॥

गोमेध–यह यज्ञ कलियुग में निषध है–
"देवराच्च सुतोत्पत्तिर्दत्ता कन्या न दीयते।
न यज्ञे गोवध· कार्यः कलौ न च कमण्डलुः" ॥
(ब्रह्माण्ड पुराण)

---

[1] दूर सारा० व०

धारा उसकी पृथु, पर कृशा दूरसे दृष्टि आती
लेगा पानी जब नमित तू कृष्णवर्णापहारी।
† देखेंगे सो थकित-दृग हो व्योम-गामी सु-दृश्य
मानो मुक्ता-स्रज धरणि की बीच में नील-रत्न॥४६॥

शिक्षा—यहां चर्मण्वती के गमन करने के लिये मेघ को नीचे उतरने का सूचन करके परंपरागत धर्म पालन का उपदेश गर्भित किया है—

" धर्मःश्रुतो वा दृष्टो वा स्मृता वा कथितोऽपि वा।
अनुमोदितो वा राजेन्द्र पुनाति पुरुष सदा " ॥
(महाभारत)

श्लोक-४६.

इस श्लोक में चर्मण्वती-नदी में से जल लेते हुए मेघ के दर्शनीय दृश्य का मनोहर वर्णन है—

उस चम्बल-नदी के प्रवाह में—जो कि बहुत चौड़ा होकर भी दूर होने के कारण पतला दिखाई पड़ेगा जब तू—श्रीकृष्ण भगवान् के स्निग्ध श्याम सुन्दर-वर्ण को चुरानेवाला [श्री कृष्ण के समान श्याम वर्ण वाला] पानी लेने को नीचा झुकेगा, उस समय उस-प्रवाह के हृदय हारी दृश्य को आकाश में गमन करनेवाले-सिद्ध गन्धर्व आदि-एकबार ही स्थगित दृष्टि होकर देखेंगे—उनको उस समय वह दृश्य ऐसा मालूम होगा—मानो पृथ्वी क कण्ठस्थल पर धारण की हुई मोतियों की माला के बीच में एक बड़ा सा नीलम लगा हुआ है।

---

† पाठान्तर-देखेंगे सो नभ चर अहो ! सृष्टि सौन्दर्य-लीला,
मानो मुक्ता स्रज-धरणि की बीच में रत्न-नीला॥

मूल-तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलताविभ्रमाणां
पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्[1]कृष्णसारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकर[2]श्रीमुषामात्मबिम्बं
पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम् ॥ ५० ॥

अलङ्कार-यहा सफेद रंग के नदी के प्रवाह में मोतियों की माला की ओर नीचे भुके हुए मेघ में उस-माला-के बीच में लगे हुए नील रत्न की उत्प्रेक्षा की गई है। आकाश में से दृष्टिगत होने वाले अत्यन्त मनोहर सृष्टि सौन्दर्य का यह एक अपूर्व वर्णन है। रघुवंश में भी लङ्का से लौटते भगवान् श्री रामचन्द्र जी पुष्पक विमान पर से मन्दाकिनी के दृश्य का भगवती जनकनन्दिनी से ऐसा ही वर्णन करते हैं —

" एषा प्रसन्नस्तिमितप्रवाहा सरिद्विदूरान्तरभावतन्वी।
मन्दाकिनी भाति नगोपकण्ठे मुक्तावली कण्ठगतेव भूमेः॥ "

अर्थात् यह मन्दाकिनी है। इसका जल बहुत ही निर्मल है। यह धीरे धीरे बह रही है। हमारे विमान से यह दूर होने के कारण इसकी धारा यहाँ से बहुत पतली दृष्टि गत होती है। यह पर्वत की तलहटी में बहती हुई ऐसी प्रतीत होती है, मानो पृथ्वी के कण्ठ में मोतियों की माला।

—:o:—

श्लोक—५०,

इस श्लोक में दशपुर की रमणियों के कटाक्षों का वर्णन है —

उस [चम्बल नदी] को उल्लङ्घन करके तू दशपुर देश की तरुणियों के टेढ़ी भृकुटी रूप लताओं के विलासों से भरे

---

१ कृष्णशार, जै० सारो० विल०। २ श्रीजुषा, विल०।

पद्यानुवाद—आगे जाके घन ! उन-भरे भ्रू-लता-विभ्रमों का–
पात्री होना दशपुर-वधू-नेत्र-कौतू-हलोंका ।
होती ऊंची पलक जब, वे श्याम-गौर-प्रभाके–
*जाते हों ज्यों अलि-गण चलितकुन्द-पीछे, सुहाते ॥५०॥

साभिलापी कटाक्षों का अपने रूप को पात्र बनाता हुआ जाना —उनको दर्शन देता हुआ और तादृश कटाक्षों का रसानुभव करता हुआ जाना उनके कटाक्ष बड़े विलक्षण हैं । वे पलकों के ऊंची होने पर दूरतक फैलने वाली श्वेत और श्यामकान्ति से ऐसे शोभित होते हैं, जैसे फेंके हुए कुन्द के सफेद फूल के पीछे दौड़ती हुई काल भौंरों की पंक्ति भासित होती है ।

अलङ्कार—यहां, नत्रों के विलास का, सफेद-कुन्द के पीछे दौड़ते हुए भौंरों की शोभा पाना कथन होने मे निदर्शना है ।

विभ्रम—भृकुटी के विकार [चेष्टा] का कहते हैं । तथैव नत्रों की चेष्टा को विलास, मुख के विकार को हाव और चित्त के विकार को भाव कहा है, कहा है —

"हावो मुखविकार स्यात् भावश्चित्तसमुद्भव ।
विलासो नेत्रयोर्ज्ञेयो विभ्रमो भ्रूसमुद्भव" ।

यह सामान्य व्याख्या है, सर्वत्र इसका अनुसरण नहीं किया जाता । प्रथम १६ के श्लोक म 'भ्रूविलासानभिज्ञै' इस पद से ग्राम नारियो की भोली दृष्टि का वर्णन है, और यहा नागरिक-युवतियो के सु-चतुर कटाक्षों का ।

---

* पाठान्तर शोभा पाते ।

मूल—ब्रह्मावर्तं जनपद[1]मथच्छायया गाहमानः
क्षेत्रं क्षत्रप्रधनपिशुनं कौरवं तद्भजेथाः।
राजन्यानां शितशरशतैर्यत्र [2]गाण्डीवधन्वा
धारापातैस्त्वमिव कमलान्यभ्य[3]वर्षन्मुखानि॥५१॥

दशपुर—इस नाम से इस समय कोई स्थान प्रसिद्ध नहीं है। मल्लिनाथ ने इसको रन्तिदेव राजा का नगर लिखा है। कुछ लोग इसको चम्बल-नदी के किनारे पर उज्जयिनी से उत्तर का प्रदेश, अनुमान करते हे, जिसको पुरातत्व विद मन्दसार कहते हैं। डा० विलसन् ने इसको चम्बल से उत्तर में आया हुआ रन्तिमपुर अनुमान किया है, शायद यह अनुमान ठीक हो, क्योंकि वह, उज्जयिनी से उत्तर को जाते मेघ के मार्ग में आता है। और रन्तिमपुर नाम में मल्लिनाथ के कथन के साथ भी एकता मिलती है।

—o—

श्लोक—५१,

दशपुर, छोडने के पीछे मेघ को अब यक्ष, ब्रह्मावर्त में परम-तीर्थ रूप कुरुक्षेत्र जाने को कहता है —

फिर छायारूप से अर्थात् तेरे ऊपर सूर्य की घाम गिरने से तेरी छाया नीचे गिरेगी उसी प्रतिबिम्ब रूप से ब्रह्मावर्त

१ मथ, विल० सारो० म० स० रा० इ० क० वि०। २ गाण्डीव, सारो०। ३ अभ्यषिञ्चन्, ब, विल० म० स० रा० इ० क०।

पद्यानुवाद—छाया से तू जलधर ! पुनः ब्रह्म-आवर्त जाके–
जाना - क्षत्र-क्षय-भुवि वहां श्री कुरुक्षेत्र आगे।
गाण्डीवी ने नृप-मुख जहां तीक्ष्ण-नाराच वर्षा–
की थी जैसे कमल-वन में तू करे घोर-वर्षा ॥५१॥

देश में प्रवेश करता हुआ, तू उस महान् पवित्र कुरुक्षेत्र को जाना, जहां पर गाण्डीव-धनुष को धारण करने वाले-अर्जुन-ने शत्रु राजाओं के मुखों पर असंख्य पैने बाणों से उसी तरह घोर वर्षा की थी, जिस तरह तू कमल के वनों पर असाधारण जल की धाराओं से वृष्टि किया करता है।

अलङ्कार—यहां धर्मलुप्तोपमा है। राजाओं को कमलों की और अर्जुन के बाणों को जल-धारा की वर्षा की उपमा से महावीर अर्जुन की अतुलनीय वीरता सूचन की गई है।

ब्रह्मावर्त—हस्तिनापुर से वायव्य-कोण के प्रदेश को कहते हैं। यह सरस्वती और दृषद्वती के बीच में है—

"सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम्।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते" ॥ (मनुस्मृति २-१७)

कुरुक्षेत्र—यह ब्रह्मावर्त के अन्तर्गत सरस्वती के दक्षिण और दृषद्वती के उत्तर का प्रदेश है। देखिए—

"दक्षिणेन सरस्वत्या दृषद्वत्योत्तरेण च।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे"॥
(महाभारत वनपर्व अ० ८३—४)

यह थानेश्वर से दक्षिण में है। यह अत्यन्त पवित्र क्षेत्र है। इसमें युद्ध करके शरीर छोड़ने से स्वर्ग-प्राप्ति होती है, देखिए —

"कुरुक्षेत्र परपुण्य पावन स्वर्ग्यमेवच"।
"तत्र च योत्स्यमाना ये देह त्यक्ष्यन्ति मानवा।
तेषां स्वर्गे ध्रुवो वासः शक्रेण सह मारिष"॥
(महाभा० शल्य अ० ५५)

इसी पवित्र देश में कौरव पाण्डवों का महाभारत-युद्ध हुआ था। इसमें अनेक तीर्थ-स्थान हैं इसके मध्यभाग में 'पञ्च ह्रद' तीर्थ है, जिसको श्री परशुराम ने क्षत्रिय कुल का संहार करके किया था, लिखा है —

"ततो रामहृदान् गच्छेत्तीर्थसेवी समाहित।
तत्र रामेण राजेन्द्र तरसा दीप्ततेजसा॥
क्षत्रमुत्साद्य वीरेण ह्रदा पञ्च निवेशिता"।
(वनपर्व, ८३ २७)

यहीं सूर्य-तीर्थ नामक एक स्थल है, जहां श्री सूर्य को सब ग्रहों का आधिपत्य प्राप्त हुआ था। और भगवान् विष्णु ने मधु-कैटभ दैत्यों का विनाश किया था। श्री सरस्वती के उत्तर तीर पर पृथूदक नाम का

मूल-हित्वा हालामभिमतरसां रेवतीलोचनाङ्कां
[१]बन्धुप्रीत्या समरविमुखो लाङ्गली याः सिषेवे।
कृत्वा [२]तासामभिगममपां सौम्य सारस्वतीना-
मन्तः शुद्धस्त्वमसि[३] भविता वर्णमात्रेण कृष्णः५२

श्लोक-५२,

अब यक्ष, मेघ को वहां पर भगवती-सरस्वती का पवित्र जल सेवन करके आत्मा को पवित्र करने को कहता है:-

हे सौम्य! कुरुक्षेत्र में वह सरस्वती बहती हैं-जिनके जलों का, श्री बलदेवजी ने बन्धुओं की प्रीति से-कौरव और पाण्डव दोनों में समान बन्धुभाव समझ के न कि भय से-महाभारत के असंख्य नरनाशी युद्ध में शरीक न होकर बड़ी श्रद्धा-पूर्वक सेवन किया था। बलदेवजी को मदिरा बहुत ही प्रिय थी, वे मदिरा पान करते थे, उस समय मदिरा से भरे हुए पात्र में जब समीप में स्थित महारानी रेवतीजी के नेत्रों का प्रति बिम्ब गिरता था तब उनको वह बड़ी ही रमणीय मालूम होती थी, पर वहां-सरस्वती के तट पर—जाकर उन्होंने ऐसी प्यारी-दुस्त्यज—मदिरा का सर्वथा परित्याग कर दिया था वे नियम बद्ध होकर सरस्वती के पवित्र जल का पान करते रहे थे। तू भी उन्हीं सरस्वती के जलों का आन्तर्य श्रद्धा भक्ति युक्त होकर सेवन करना, उससे तू अन्तःशुद्ध-निष्पाप-हो जायगा, केवल तेरे शरीर का रंग मात्र ही ऊपर

---

१ बन्धुस्नेहात, जै०। २ तासामधिगम, जै० सारो० म० रा०। ३ शुद्ध स्त्वमपि, ई० विल० सारो०, व०।

पद्यानुवाद-बन्धु दोनों सम समझ के युद्ध से हो अकांक्षी—
त्यागी प्यारी, हलधर, सुरा-रेवती-लोचनाङ्की।
सेयें सारस्वत-सलिल, जा, सेय तूभी उन्हें ही—
होगा अन्तः सु-विमल, रहे श्यामता वर्ण में ही ॥५२॥

से काला रह जायगा—भीतर के पाप सब धुल जायँगे। अथवा मेरी समझ में तू तो ऊपर ही से काले वर्ण वाला है, उन जलों से तो अन्तर्मलिन पापीजन भी निर्मल हो जाते हैं, तब भला तू क्यों न शुद्ध होगा।

बन्धुप्रीत्या—महाभारत के युद्ध का समय उपस्थित हुआ, तब भगवान् श्री कृष्णचन्द्र तो पाण्डवों के सहायक हो ही गये थे, किन्तु श्री बलराम जी ने कौरव और पाण्डवों के साथ समान बन्धु भाव विचार कर, किसी पक्ष के सहायक युद्ध में होना उचित न समझ, वे सरस्वती पर चले गये थे। श्री बलराम जी ने दुर्योधन को गदा युद्ध की शिक्षा दी थी। कौरव-पाण्डव दोनों ही के साथ कौटुम्बिक सम्बन्ध भी समान था, इसीसे इन्होंने दोनों पक्ष में समान भाव देखा। इसी इतिहास का यहां सूचन है।

हित्वा हालां—यहां मदिरा के त्याग का कथन करके तीर्थ-सेवन के समय, नियम रखने का धार्मिक-उपदेश सूचन किया गया है।

रेवतीलोचनाङ्का—इस विशेषण से मदिरा पान के समय रेवती जी का समीप रहना सूचन है क्योंकि तभी उनके लोचनों का प्रतिबिम्ब गिरना संभव है, अत उनका भी त्याग सूचन होता है। मदिरा का रेवती जी के नेत्रों से प्रतिबिम्बित होना माघ ने भी लिखा है —

"घूर्णयन्मदिरास्वादमदपाटलितद्युतिः।
रेवतीवदनोच्छिष्टपरिपूतपुटे दृशौ" ॥ (शिशु० २–१६)

पद्यानुवाद— आगे जाना सगर-कुलकी मोक्ष-दा जान्हवी को
आती हैं वो कनखल, चलीं हैम-कूटाद्रिसे, जो—
मानो गौरी-भ्रुव-कुटिल का फेन से हास्य लाके-
जाके वीची-कर, शशि लगीं वीच शम्भू-जटाके॥५३॥

से देखा था इसी कारण उस—देखने—की गङ्गाजी ने फेन रूपी हास्य से हँसी करके शिवजी के ललाट के चन्द्रमा को अपने तरङ्ग रूपी हाथों से पकड़ कर उनके जटा जूट को ग्रहण कर लिया—पार्वतीजी को यह दिखलाने के लिये कि तुम मेरी तरफ भौंहें क्यों चढ़ाती हो, श्री शिवजी पर मेरा प्रेमाधिकार तुम से कुछ अधिक है।

अलङ्कार—यहां रूपक और उत्प्रेक्षा का अङ्गाङ्गी भाव सङ्कर है।

कनखल—यह हरिद्वार के समीप श्री गङ्गा के पश्चिम-तट पर है। स्कन्द पुराण में इस-नाम-का अर्थ इस प्रकार लिखा है—

" खलः को नाम मुक्तिं वै भजते तत्र मज्जनात्।
अतः कनखलं तीर्थं नाम्ना चक्रुर्मुनीश्वराः "॥

अर्थात् कौन खल पुरुष, उस स्थान में स्नान करके मुक्ति को नहीं पाता? इसी से मुनियों ने 'कनखल' तीर्थ नाम रक्खा है। हरिवंश-पुराण में लिखा है—

" गङ्गाद्वार कनखल सोमो वे यत्र सस्थितः " ।
" स्नात्वा कनखले तीर्थे पुनर्जन्म न विद्यते " ॥

इत्यादि वचनो से इसका माहात्म्य प्रकट होता है । इस स्थान के आग मे भी गङ्गा का प्रवाह शिवालक पर्वत मे से निकलता है, जिससे इस स्थान का नाम पुराणेतिहासो मे गङ्गा-द्वार लिखा है । देखिए—

' तीर्थं कनखल नाम गङ्गाद्वारेस्ति पावन ।
यत्र काञ्चनपातेन जान्हवी देवदन्तिना ।
उसीनरगिरिप्रस्थान् भित्वा तमवतारिता " ॥

(कथासरि०)

मत्स्य-पुराण मे ' हरिद्वार ' के नाम का उल्लेख भी है—

" सर्वत्र सुलभा गङ्गा त्रिषु स्थानेषु दुर्लभा ।
हरिद्वारे प्रयागे च गङ्गासागरसङ्गमे " ॥

इसके समीप कपिल-तीर्थ है, जोकि अब इसी नाम से प्रसिद्ध है । इसी हरिद्वार का 'माया पुरी' नाम है, जिसकी मोक्ष-दा सप्त पुरियो मे गणना है-

" अयोध्या, मथुरा, माया, काशी, काञ्चो, अवन्तिका ।
पुरी द्वारावती चेव सप्तैता मोक्षदायिका. " ॥

इसका माहात्म्य मत्स्य-पुराण मे लिखा है —

" दशाश्वमेधिक पुण्य गङ्गाद्वार तथैव च ।
नन्दाथ ललिता तद्वत्तीर्थं मायापुरी शुभा " ॥

शैलराजावतीर्णा—इस पद से श्रीगङ्गाका हिमालय से अवतीर्ण—आना—मात्र सूचन है, न कि उत्पत्ति, क्योंकि श्रीगंगाकी उत्पत्ति तो भगवान् विष्णु के पादारविन्द से है। श्रीमद्भागवत में गङ्गोत्पत्ति-कथा-प्रसङ्ग में उल्लख है—

"सीतालकनन्दाचक्षुर्भद्रेति ।..... .तथैव । अलकनन्दा दक्षिणेन ब्रह्मसदनात् बहूनि गिरिकूटान्यतिक्रम्य हेमकूटाद् हैमकूटान्यतिरभसतररंहसा लुठन्ती भारतमभिवर्षं दक्षिणस्यां दिशि जलधिमभिप्रविशति । यस्यां स्नानार्थं पानार्थं चागच्छत. पुंस· पदे पदे ऽश्वमेधराजसूयादीनां फल न दुर्लभमिति"।

(स्कं० ५-१७)

यहा 'हैमकूटानि' इस शब्द से हिमालय के अनेक शृङ्गपर श्रीगङ्गा का बहना स्पष्ट कहा गया है। एतावता श्री विष्णु पदी-गङ्गा का एक प्रवाह, हिमालय के गङ्गादि [गङ्गोत्री] से आता है, उसकी देव-प्रयाग तक भागीरथी के नाम से प्रसिद्धि है, और एक प्रवाह जोकि बदरिकाश्रम प्रान्त से आता है, उसकी देव प्रयाग तक अलकनन्दा संज्ञा है। जैसा कि महात्मा उद्धव के प्रति भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने आज्ञा की है—

"गच्छोद्धव मयादिष्टो बदर्याख्य ममाश्रमम् ।
तत्र मत्पादतीर्थोदे स्नानोपस्पर्शनैः शुचि. ॥
ईक्षयालकनन्दाया विधूताशेषकल्मषः ।"

(श्रीमद्भाग० स्क० ११ अ० २९ । ४१—४२)

इन दोनों—भागीरथी और अलकनन्दा का देव-प्रयाग में संगम होने के पश्चात् श्रीगंगा नाम कहा जाता है। और कैलास के समीप यह मन्दाकिनी कही जाती हैं। जैसा कि यहां से उत्तर के मार्ग में कवि ने मन्दाकिनी नाम से इनका कथन किया है [देखो उत्तर मेघ का छठा श्लोक और उसकी टीका]।

जन्होः कन्यां—श्री गङ्गा का नाम जन्हु-तनया या जान्हवी भी है। राजा जन्हु यज्ञ करते थे, श्री गङ्गा के प्रवाह से उनके यज्ञ में विक्षेप हुआ तब वे श्री गङ्गा के प्रवाह का पान कर गये। फिर देवताओं की प्रार्थना से उन्होंने अपने कान में से, उस प्रवाह को निकाल कर बहाया, तब से श्रीगङ्गा का नाम जान्हवी हुआ। देखिए —

"ततो हि यजमानस्य जन्होरद्भुतकर्मणः।
गङ्गा संप्लावयामास यज्ञवाटं महात्मनः॥
तस्यावलेपनं ज्ञात्वा क्रुद्धोजन्हुश्च राघव।
अपिबत्तु जलं सर्वं गङ्गायाः परमाद्भुतम्॥
ततो देवा सगन्धर्वा. ऋषयश्च सुविस्मिताः।
पूजयन्ति महात्मानं जन्हुं पुरुषसत्तमम्।
गङ्गाचापि नयन्तिस्म दुहितृत्वे महात्मनः॥
ततस्तुष्टो महातेजाः श्रोत्राभ्यामसृजत्प्रभु.।
तस्माज्जन्हुसुता गङ्गा प्रोच्यते जान्हवीतिच॥"

(श्री बाल्मी० रा० बा० सर्ग ४३। ३४—३८)

सगरतनयस्वर्गसोपान—सगर राजा अयोध्या के सूर्यवंशी बाहु राजा का पुत्र था। उसके सुमति नामकी रानी से एक असमंजस हुआ और केशिनी नामकी दूसरी रानी से ६० हजार पुत्र हुए। सगर राजा के अश्व-

मेधयज्ञ के घोडे को ईर्षा से इन्द्र ने चुराकर भगवान् कपिलदेव के आश्रम में बाँध दिया। सगर के ६० हजार पुत्र, उस घोड़े को तलाश करते करते कपिलदेव के आश्रम में उसे देख कर उनको घोडे का चोर समझ उनके तप में विघ्न करने लगे। तब उन्होंने उनको अपनी क्रोध दृष्टि से भस्म कर डाले। फिर असमंजस के पुत्र अंशुमान ने उनकी खोज करते हुए कपिलदेव के आश्रम के समीप उन सब की भस्म पडी हुई देखकर उनके उद्धार के लिए कपिलदेव से प्रार्थना की, तब उन्होंने श्री गंगा-जल से उनका उद्धार होने का उपाय बताया। तब अंशुमान के पौत्र और दिलीप के पुत्र भगीरथ के महान् तप से प्रसन्न होकर भगवती गङ्गा भू तल पर आके उन साठ हजार सगर-सन्तानों का उद्धार किया। इस इतिहास का सूचन करने के लिये यहा सगर सुतों को स्वर्गारोहण करने की निसैनी का यह विशेषण, श्री गंगाजी को दिया गया है। इसकी सविस्तार कथा श्री वा०रा०में बा० सर्ग ३४ से ४४ तक और श्रीमद्भागवत के नवमस्कन्ध में वर्णन है।

गौरीवक्त्रभ्रुकुटिरचनां—भगीरथ श्री गंगा को भू तल पर लाये तब उनके वेग को धारण करने के लिये उन-भगीरथ-की प्रार्थना से, श्री शिवजी ने गंगाजी को प्रथम अपनी जटा में धारण किया था, इसीसे श्रीगङ्गा और श्री पार्वती का सपत्नि [सौत] भाव माना जाता है। उसी भाव का इस वर्णन में सूचन किया गया है।

श्लोक—५४,

इस श्लोक में श्रीगंगा का जल लेने को आकाश पर से झुके हुए श्याम-मेघ के चेतोहारी दृश्य का वर्णन है—

उस श्रीगङ्गा के स्फटिक के समान शुभ्र और स्वच्छ जल को यदि तू—महत्काय और श्यामवर्णवाला इन्द्र के हाथी ऐरा-

मूल—तस्याः पातुं सुरगज इव व्योम्नि [1]पश्चार्द्धलंबी
त्वंचेदच्छस्फटिकविशदं तर्कयेस्तिर्यगम्भः ।
संसर्पन्त्या सपदि भवतः स्रोतसि [2]च्छाययासौ
स्यादस्थानोपगतयमुना[3]सङ्गमेवाभिरामा ॥५४॥

वत के समान—आकाश में पिछले अर्ध भाग से लम्बायमान अर्थात् पीछे के आधे भाग को आकाश में ऊंचा किये और आगे के आधे भाग से अधोमुख झुका हुआ तिरछा होकर पान करने का विचार करेगा, तो उस समय शीघ्र ही प्रवाह में गिरी हुई तेरी छाया से काले रंग के तेरे प्रतिबिम्ब से वह—भगवती गङ्गा—ऐसी शोभित होगी मानों अन्यत्र—प्रयाग के विना—ही यमुना का नयनाभिराम सङ्गम हो गया है अर्थात् कनखल ही में गङ्गा के शुभ्र-सलिल के साथ यमुना के श्याम सलिल के सङ्गम का मनोरम-दृश्य प्रतीत होने लगेगा।

अलङ्कार—यहां श्रीगंगा के सफेद वर्ण के निर्मल आधे प्रवाह में मेघ की नील वर्ण की छाया से श्याम प्रतीत होने वाले जल में, नील वर्ण के श्री यमुना-जल की उत्प्रेक्षा की गई है। इसमें महर्षि वाल्मीकि के—

" श्वेताभ्रघनराजीव वायुपुत्रानुगामिनी ।
तस्य सा शुशुभे छाया पतिता लवणांभसि" ॥

इस वर्णन का अनुसरण किया गया है।

---

१ पूर्वार्द्धलम्बी, विल, सारो० घ० भ० स० ग० ह० क० । २ च्छायया सा० जै० व० सारो० । ३ सङ्गमेना, विल० सारो० जै० मवा० ह०, सङ्गमेना भिराम सारो० ।

पद्यानुवाद–पीने उसका जल विशद जो व्योम से तू झुकेगा
फैला हुआ विबुध-गज सा अङ्ग टेढ़ा बनेगा।
छाया तेरी गिर, सलिल में शीघ्र होगी प्रभा यों-
गङ्गा अन्यस्थल पर मिली भानु-जा सङ्ग मानो ॥५४॥

रघुवंश में श्रीयमुना के नील सलिल में श्रीगंगा के श्वेत-सलिल के इदयंगम संगम के दृश्य का वर्णन है, वह भी देखिए। स्वयंवर प्रसंग में इन्दुमति से सुनन्दा कहती है—

" यस्यावरोधस्तनचन्दनानां प्रक्षालनाद्वारिविहारकाले।
कलिन्दकन्या मथुरां गतापि गङ्गोर्मिसंसक्तजलेव भाति" ॥

भावार्थ–इस-नीप राजा की राजधानी यमुना के तटपर है। इस के इसकी रानियां प्रायः उसमें जल विहार किया करती हैं, उस समय उनके शरीर में लगा हुआ सफेद चन्दन धुलकर यमुना के नील सलिल में मिल जाता है, तब प्रयाग से अत्यन्त दूर होने पर भी मथुरा ही में श्रीगंगा के संगम का सा दृश्य, दृष्टिगत होने लगता है।

श्रीगंगा यमुना के संगम का दृश्य वस्तुतः बड़ा ही रमणीय है। हमारे प्राचीन महाकवियों के चित्त को इस दृश्य ने बहुत आकर्षण किया है। देखिये! माघ ने भी रैवत गिरि की तलहटी में बहने वाली नदी के वर्णन में इस दृश्य का वर्णन किया है–

" एकत्रस्फटिकतटांशुभिन्ननीरा
नीलाश्मद्युतिभिदुराम्भसोऽपरत्र
कालिन्दीजलजनितश्रियः श्रयन्ते
वैदग्धीमिह सरितः सुरापगायाः " ॥

(शिशुपाल वध सर्ग ४,२६)

अर्थात् एक तरफ स्फटिक मणि के तट की श्वेतकान्ति से शुभ्र और दूसरी तरफ नील पाषाणों के तट की श्याम-प्रभा से नील प्रतीत होने वाले प्रवाह वाली यह नदी श्रीयमुना-जल की शोभा से मिली हुई भगवती गंगा की छवि धारण कर रही है।

श्रीकण्ठ-चरित्र में मङ्खक ने बड़े अनूठे ढंग से इस दृश्य का वर्णन किया है, वह भी देखिए—

"यस्यासकृत्प्रणमतो धृतमन्तुतन्तु—
नम्राननां गिरिसुताश्रुभिरञ्जनाङ्कैः।
मौलौ नवं लिखति शीतरुचेः कलङ्कं
पुष्णात्यकाण्डयमुनाप्रणयां च गङ्गाम्"॥ (सर्ग ५-३६)

यहां मानवती श्री पार्वतीजी का कोप दूर करने को वारवार प्रणाम करते हुए श्रीशिव के मस्तक के चन्द्रमा के ऊपर गिरते हुए अञ्जन मिश्रित अश्रुपातों पर गंगा और यमुना के सगंम की उत्प्रेक्षा है। महाकवियों की इन सुधा-स्यन्दिनी उक्तियों के आस्वादन के मध्य में, पुनः उनमें अत्यधिक रुचि उत्पादन के लिये—न कि उनसे समता दिखाने को अम्ल [खट्टे] पदार्थ के समान इस क्षुद्र-लेखक का भी गंगाद्वार वर्णन की कविता में का एक पद्य इस भाव की छाया का देखिए—

जाती ऊपर नील-मेघ-पटली छाया गिरे आ कभी,
है वो श्वेत सदा प्रवाह उससे आधा बने नील भी।
आती है मिलने कलिन्द-तनया भागीरथी द्वार में
होता सङ्गम है यहां फिर मनो ले जारहीं साथ वे॥

जब कि श्रीगंगा-यमुना के सगंम के सादृश्य की शोभा ने हमारे महाकवियों के चित्त को ऐसा आकर्षित किया है, तब इनके साक्षात् संगम के दृश्य पर इससे बढ़कर चित्ताकर्षण हो तो क्या विचित्रता है? देखिए! महाकवि कालिदास ने रघुवंश में उस दृश्य का कैसा अनुपम वर्णन किया है,

लङ्का से लौटते हुए पुष्पक-विमानस्थ भगवान् श्री रामचन्द्र भगवती जनक-नन्दिनी से वर्णन करते हैं—

"१ चित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैर्मुक्तामयी यष्टिरिवानुविद्धा।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव॥
कचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पंक्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्भुवश्चन्दनकल्पितेव॥
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभः प्रदेशा॥
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य।
पश्यानवद्याङ्गि विभाति गङ्गा भिन्नप्रवाहा यमुनातरङ्गैः।
समुद्रपत्न्योर्जलसन्निपाते पूतात्मनामत्र किलाभिषेकात्।
तत्त्वावबोधेन विनापि भूयस्तनुत्यजां नास्ति शरीरबन्धः॥

(सर्ग १३। ५४—५८)

देखिए, सरस्वती के स० श्रीयुत विद्वद्वर पण्डित महावीरप्रसादजी ने इसका अनुवाद कैसा यथार्थ और हृदयगम किया है—

"हे निर्दोष अगोंवाली! गंगा और यमुना के संगम के दर्शन कर। शुभ्रवर्ण गगा में नीलवर्ण यमुना साफ अलग मालूम हो रही है। यमुना की नीली तरगों से पृथक् किया गया गगा का प्रवाह बहुत ही भला मालूम होता है। कहीं तो गंगा की धारा बड़ी प्रभा विस्तार करने वाले, बीच बीच नीलम गुथे हुए मुक्ताहार के सदृश शोभित हैं; और कहीं बीच बीच नील-कमल पोहे हुए सफेद कमलों की माला के सदृश शोभा पाती है। कहीं तो वह मानसरोवर के प्रेमी राजहंसों की उस पांति के सदृश मालूम होती है जिसके बीच बीच नीले पंख वाले कदम्ब नामक हंस बैठे हों; और कहीं कालागरु के बेल-बूटे सहित चन्दन की लिपी हुई पृथ्वी के सदृश मालूम होती है। कहीं तो वह छाया में छिपे हुए अंधेरे के कारण कुछ कुछ

मूल—आसीनानां सुरभितशिलं नाभिगन्धैर्मृगाणां
तस्या एव प्रभवमचलं प्राप्य गौरं तुषारैः।
वक्ष्यस्यध्वश्रमविनयने तस्य शृङ्गे निषण्णः
शोभां [१]शुभ्रत्रिनयनवृषोत्खातपङ्कोपमेयाम्॥५५॥

कालिमा दिखलाती हुई चाँदनी के सदृश जान पड़ती है, और कहीं खाली जगहों से थोड़ा थोड़ा आकाश प्रगट करती हुई शरत्काल की सफेद मेघ माला के सदृश भासित होती है। और कहीं कहीं वह काले सर्पों का गहना और सफेद भस्म धारण किये हुए महादेवजी के शरीर के सदृश होती है। नीलिमा और शुभ्रता का ऐसा अद्भुत मेल देख कर चित्त बहुत ही प्रसन्न होता है। समुद्र की गंगा और यमुना नामक दो पत्नियों के इस संगम में स्नान करने वाले देह धारियों की आत्मा पवित्र हो जाती है और तत्वज्ञान की प्राप्ति के बिना ही उन्हें जन्म मरण के फन्दे से छुट्टी मिल जाती है। वे सदा के लिये देह बन्धन के झंझट से छूट जाते हैं"।

श्रीगंगायमुना के संगम का जैसा अलौकिक दृश्य है, वैसा ही इस संगम का लोकोत्तर माहात्म्य भी है, पुराण इतिहासों में इसका बड़ा भारी माहात्म्य वर्णन है, वेद में भी देखिए—

" सितासिते सरिते यत्र सङ्गथे तत्राप्लुतासो दिवमुत्पतन्ति।
ये वै तन्वां विसृजन्ति धीरास्ते जनासो अमृतत्वं भजन्ते"॥
(ऋ० सं० परि० ८, ३, ७, १)

श्लोक–५५,

अब हरिद्वार से आगे हिमालय को जाने के लिये मेघ से यक्ष कहता है—

---

१ रम्या. पा०।

पद्यानुवाद—जाके गङ्गा-प्रभव-गिरि पे वर्फ से गौर, जिस्की—
वैठे नाभी-मृग सुरभिता हैं शिला मित्र ! उस्की—
वैठा हुआ शिखर पर तू मेटने मार्ग-श्रान्ती
लेगा, खोदे हर-वृषभ के पङ्क के तुल्य कान्ती ॥५४॥

हे मेघ ! यहां से आगे, तू हिमालय पर्वत पर जाना। जहां से श्री गङ्गाजी आती हैं। उस पर कस्तूरी-मृग आ आकर वैठा करते हैं, अतएव उसकी चट्टानें कस्तूरी की सौरभ से सर्वदा सुगन्धित रहती हैं। वर्फ का वहां इतना आधिपत्य है, कि उसके शिखर बर्फ से ढक कर विलकुल सफेद दिखाई देते हैं, उस पर्वत पर पहुंच कर जब तू उसके ऐसे-बर्फीले-शिखर पर बैठ जायगा, तब शिवजी के सफेद नन्दी के सींगों पर भूमि खोदने में लगी हुई कीचकी शोभा को धारण कर लेगा-वह दृश्य बडा मनोहर दीखने लगेगा। उसके सफेद-शिखर पर काले-वर्ण वाला तू वैठा हुआ ऐसा सुन्दर मालूम होगा, जैसा कि शिवजी के सफेद नांदिये के सींगों पर गीली भूमि खोदने से कालेरंग का कीचड़ लगा हुआ सुहावना लगता है।

अलङ्कार—यहा उसी वप्रक्रीडा के दृश्य की उपमा है, जिसका वर्णन पूर्वोक्त, दूसरी संख्या के श्लोक में है।

नाभिगन्धैर्मृगाणां—कस्तूरी-मृग हिमालय प्रान्त में होते हैं, इसीसे उसकी शिला उनके गन्ध से सुवासित कथन की गई है। कुमारसभव और रघुवंश में भी देखिए—

'प्रस्थं हिमाद्रेर्मृगनाभिगन्धि'। (कु० १-५४)
'दृषदो वासितोत्सङ्गनिषण्णमृगनाभिभिः'। (रघु० ४-७४)

मूल– [१]तं चेद्वायौ [२]सरति सरलस्कन्धसंघट्टजन्मा
बाधेतोल्का [३]क्षपितचमरीवालभारो दवाग्निः
अर्हस्येनं शमयितुमलं वारिधारासहस्रै-
रापन्नार्तिप्रशमनफलाः सम्पदो ह्युत्तमानाम्॥५६॥

'अधास्यचाम्भ. पृपतोक्षितानि शैलेयगन्धीनि शिलातलानि'।
(रघु० ६-५१)

शुभ्रत्रिनयनवृषो—यहा हिमालय को शिव वृषभ की समता है,
रघुवश में शिव वृषभ को कैलास की उपमा दी गई है—

श्लोक—५६,

इस श्लोक में हिमालय प्रान्त पर विश्राम लेके सुख पाये हुए मघ को यक्ष, उसपर प्रत्युपकार करने को सूचन करता है—

एक बात यह भी याद रखना, वहां–हिमालय प्रदेश में– प्रायः अत्यन्त पवन चलने पर देवदारु आदि वृक्षों के परस्पर घिसने से दावाग्नि प्रज्वलित हो जाती है, उसकी चिनगारियों से चमरी गायों की पूछें जलने लगती हैं, जिससे उनको बडा कष्ट होता है। यदि वहां ऐसे अग्नि के उपद्रव से उस–हिमालय–को तू क्लेशित देखे तो तुझे उस अग्निकाण्ड को सर्वथा नि.शेष करना योग्य होगा—हजारहों पशु, पक्षी, वृक्ष, लता आदि के दु.ख दूर करने के लिये तू अपनी जल रूपी समृद्धि का सदुपयोग अवश्य करना। क्योंकि उत्तम जनों की

---

१ त्व, जै०। २ वहति, सारो० सुम०। ३ क्षयित, विल० भ० स० ग० द० क०।

पद्यानुवाद—पाके वायू यदि घन ! वहां देवदारू घिसावें
हो दावाग्नी-ज्वलित चमरी-चामरों को जलावें।
तो,उस्की तू बरस, करना ताप-निःशेष क्योंकि—
दीनों ही के दुख-दमन को सम्पदा सज्जनों की ॥५६॥

सम्पदा का, पीडित जनों के दुःख को दूर करना ही एक मात्र फल है—सज्जनों का धन, और बल दीनों के दुःख मिटाने के लिये ही होता है।

शिक्षा—यहां यह सूचन है, कि वह बल किस काम का जिससे निर्बल जनो की रक्षा न हो और वह धन ही क्या, जो गरीबों के कष्ट निवारण में व्यय न किया जाय, अतएव सज्जनों की सम्पत्ति, केवल परोपकार के लिये ही होती है, कहा है—

"पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः खादन्ति न स्वादुफलानि वृक्षाः।
पयोमुचो नैव तृणं चरन्ति परोपकाराय सतां विभूतयः" ॥

अर्थात् नदियां जल को स्वयं नहीं पीतीं, वृक्ष भी अपने स्वादिष्ट फलों को स्वयं नहीं खाते और वर्षा से घास को उत्पन्न करके मेघ भी स्वयं उसको नहीं भक्षण करते, किन्तु अच्छे जनो की विभूति, केवल दूसरों के उपकार के लिये ही होती है।

केवल यही नहीं, किन्तु परोपकार-शून्य-सम्पद की व्यर्थता भी मूल में 'हि' शब्द से व्यञ्जित की गई है, जैसा कि कहा है—

"सञ्चितं क्रतुषु नोपयुज्यते याचितं गुणवते न दीयते।
तत्कदर्यपरिरक्षितं धनं चौरपार्थिवगृहेषु भुज्यते" ॥

अर्थात् जो सञ्चित-धन, यज्ञादि पुण्य कार्यों में नहीं लगाया जाता है और न गुणवान याचकों को ही दिया जाता है, वह कृपण से रक्षा किया

मूल—[१]ये त्वां मुक्तध्वनिमसहनाः स्वाङ्गभङ्गाय तस्मिन्
[२]दर्पोत्सेकादुपरि शरभा लङ्घयिष्यन्त्यलङ्घ्यम्।
तान् कुर्वीथास्तुमुलकरका[३]वृष्टिपातावकीर्णान्
[४]के वा न स्युः परिभवपदं निष्फलारम्भयत्नाः॥५७॥

हुआ-धन केवल चोर और राजाओं के काम आता है अर्थात् यातो उसे चोर ले जाते हैं, या मर जाने पर राजा के यहा चला जाता है।

अलं—इस शब्द से दावाग्नि को निःशेष करना सूचन है, क्योंकि—

"अग्नेः शेषमृणात् शेषं शत्रोः शेषं न शेषयेत्"।

अर्थात् अग्नि, ऋण और शत्रु इन तीनों में से कुछ भी शेष न छोड़ना चाहिये।

अलङ्कार—यहां अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक—५७,

इस श्लोक में हिमालय प्रान्त के एक जाति के जीवों की स्वाभाविक चेष्टा का शिक्षा गर्भित वर्णन है—

उस-हिमालय-पर जब तू घोर गर्जना करेगा, तब शरभ जाति के जीव उसे सहन न कर सकेंगे, क्योंकि उन्हें अपने बल का बड़ा भारी घमण्ड है, तेरी गर्जना उन्हें बहुत असह्य होगी-अतएव वे तुझ अलंघ्य को उलाँघना चाहेंगे—आकाश

---

१ ये संरम्भोत्पतनरभसाः, नं०, त्रिवु० जै० महि०, प्रा०। २ मुक्ताध्वान सपदि शरभालङ्घयेयुर्भवन्तम्, जै० नं० महि० प्रा०। ३ दृष्टिहासावकीर्णान्, व० त्रिल० सारो० सुम०। ४ केषांन, जै० त्रिवु० क०।

पद्यानुवाद–तेरी घोर ध्वनि न सह के स्वाङ्ग ही को तुडाने।
चाहेंगे वे शरभ तुझको लांघने गर्व पाके।
ओले-वृष्टी कर, तब उन्हें तू भगाना वहीं से
होता किसका परिभव नहीं व्यर्थ के यत्न ही से ५७॥

की तरफ कूद फांद कर कर तेरा पराभव करना चाहेंगे, फल यह होगा कि उनके अङ्ग भङ्ग हो जॉयगे–इस व्यर्थ की उछल फाद में वे अपने हाथ पैर और तोड लेंगे। तब तू ओले बरसा कर उन्हें भगा देना उनकी उस मूर्खता का इसके सिवा और परिणाम ही क्या आ सकता है ? भला आरम्भ ही में निष्फल यत्न करनेवालों में कौन ऐसा है जो तिरस्कृत न हो, व्यर्थ यत्न करने वालों की हंसी ही होती है।

अलङ्कार–यहां अर्थान्तर न्यास है।

शिक्षा–यहां यह लोकोपयोगी शिक्षा सूचन की गई है, कि मेघ अत्यंत ऊंचा है, उसपर प्रहार करने के लिये शरभ जाति के जीवों का अविचार से व्यर्थ उछल कूद करना स्वयं उनको हानिकारक है, उसी प्रकार अविचार से किसी कार्य के फल का लाभालभ न देखकर उसके लिये उद्योग करना केवल व्यर्थ ही नहीं किन्तु हानि कारक भी है, इसी से कहा है —

" उचितमनुचितं वा कुर्वता कार्यजातं
परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते—
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः " ॥

अर्थात् उचित या अनुचित कुछ भी कार्य हो विद्वान् को उसका बुद्धि पूर्वक परिणाम सोचकर करना चाहिये, क्योंकि अत्यन्त शीघ्रता से किये हुये

मूल—तत्र व्यक्तं दृषदि चरणन्यासमर्धेन्दुमौलेः
शश्वत् सिद्धैरुपचितबलिं[१] भक्तिनम्रः परीयाः
यस्मिन्दृष्टे करणविगमादूर्ध्वमुद्धूतपापाः
[३] कल्पिष्यन्ते स्थिरगणपदप्राप्तये श्रद्दधानाः ॥५८॥

कार्य का फल, हृदय को दुःख देने वाले काटे के समान सदैव खटकता ही रहता है। भारवि ने भी कहा है —

"सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणुते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव संपदः" ॥
(किरा०)

अर्थात् जल्दी से किसी कार्य को न करना चाहिये, क्योंकि अविचार, बड़े भारी दुःख का कारण होता है, विचार-पूर्वक करने वाले के पास गुण से लुभायमान होकर सम्पदा, अपने आप ही आती है।

शरभ—यह आठ चरण के मृगजाति के जीव होते हैं। हाथियों में उनकी शत्रुता होती है। सिंह की भान्ति यह भी मेघ को गर्जता हुआ देखकर ईर्षा से बड़ी भारी छलांग मारकर उसकी तरफ कूदते हैं। ये अब हम लोगों के दृष्टिगत नहीं होते, कदाचित् हिमालय के अगम्य-प्रदेशों में होते हैं।

श्लोक—५८,

इस श्लोक में हिमाद्रि के उस स्थान का माहात्य वर्णन है, जहां पर श्री शंकर के चरणों के चिन्हाङ्कित शिला है—

१ उपहृत, जै० रो० व० सुम०। २ दूर, विल० सारो० च० विद्यु० भ० ग० रा० ह०। ३ सकलपन्ते, ई० सारो० सुम०; कल्पन्तेस्य, विल० व० न० स० रा० ह०।

पद्यानुवाद–शम्भू-पादाङ्कित, लख वहां दर्शनीया-शिला को
होना भक्ति-प्रणमित अहो ! सिद्ध-वन्द्या सदा वो।
श्रद्धालू ; हो अनघ जिसके दर्शनों मात्र ही से-
हो जाते हैं तनु-तज पुनः पार्षदों की स्थिती में॥ ५८॥

वहां [हिमालय में] एक शिला पर अर्ध चन्द्रमा को मस्तक पर धारण करने वाले श्रीशिव जी के चरणों के चिन्ह अङ्कित हे—ये चिन्ह जिनकी सिद्ध [योगी] जन सदैव पूजा करते रहते हं। और जिनके दर्शनों से निष्पाप होके श्रद्धावान् जन, शरीर छूटने पर उन [श्री शिवजी] के गणों [पार्षदों] के पद को प्राप्त हो जाते हं। तू उनकी भक्ति पूर्वक नम्र होकर परिक्रमा करना।

चरणन्यास–इस स्थान का माहात्म्य शम्भुरहस्य में लिखा है –

" हिमाद्रौ शाम्भवादीनां सिद्धये सर्वकर्मणाम्।
दृष्ट्वा श्रीचरणन्यासं साधकः स्थितये तनुम्॥
इच्छाधीन शरीरी हि विचरेच्च जगत्त्रयम्।"

यह स्थान कहां पर है ? सो निश्चित नहीं। श्रीयुत नन्दार्गीकर ने इसको हरिद्वार के समीप में 'हर-कपायरी' नामक स्थान अनुमान किया है। परन्तु यह हरिद्वार के समीप का नहीं किन्तु वहां से बहुत आगे के हिमालय–प्रदेश का वर्णन ज्ञात होता है, क्योंकि आगे ६० की संख्या के श्लोक में कहा जायगा, कि "प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्यता स्तान् विशेषान्"। अतः यहां तक हिमाद्रि के अनेक स्थानों का सूचन है। इसके सिवा हरिद्वार के समीप भाग में कस्तूरी मृग, चमरी गाय, तथा शरभ, भी नहीं देखे जाते और न बर्फ की ही इतनी अधिकता है कि जिससे पर्वतों के शिखर श्वेत दिखाई देन लगें, जैसा कि ५५ के श्लोक में वर्णन किया गया है।

अलङ्कार–उल्लास है।

मूल—शब्दायन्ते मधुरमनिलैः कीचकाः पूर्यमाणाः
[१]संसक्ताभिस्त्रिपुरविजयो गीयते किन्नरीभिः।
[२]निर्ह्रादस्ते [३]मुरज इव [४]चेत्कन्दरेषु ध्वनिःस्या-
त्सङ्गीतार्थो ननु पशुपतेस्तत्र भावी [५]समग्रः ॥५६॥

श्लोक—५६,

इस श्लोक में पूर्वोक्त-श्रीचरणन्यास स्थान पर मेघ को उनकी सेवा करने के लिये सूचन करता हुआ यक्ष, हिमालय-प्रान्त के प्राकृतिक वाद्यों के शब्दों की मनोहरता का वर्णन करता है—

उस स्थल पर भृङ्गों द्वारा छिद्र किये हुए सूखे बाँस, पवन भर जाने से मधुर शब्द किया करते हैं। उनमें से बाँसरी की सी मीठी-सुरीली ध्वनि होती रहती है—उन शब्दों के साथ मिली हुई किन्नरों की स्त्रियां त्रिपुरासुर की विजय के श्री शिवजी के गीत गाया करती हैं। उस समय हे मेघ! यदि पर्वतों की गुफाओं में गूंजने वाली तेरी गर्जना मृदङ्ग के समान हो जायगी तो वहाँ [श्री चरणन्यास स्थान] पर भगवान भूतनाथ के यशोगान के समाज का पूरा साज बन जायेगा और तो सब सामग्रियाँ वहां हैं केवल मृदङ्ग की ध्वनि ही की न्यूनता है, सो तू अपनी गर्जना से मृदङ्ग के समान ध्वनि कर देगा जब श्रीशिवजी के यशोगान के समाज का पूरा ठाठ बन जायगा।

---

१ सरक्ताभि. जै० बिल० सारो० व० सुम० विद्यु० म० स० रा० ह० क० । २ निर्ह्रादी, जै० बिल० सारो० व० सुम० विद्यु० म० स० ह० क० । ३ मुरव, भ०; मरुज, सारो० । ४ चेत् कन्दरासु, व० ५ समस्त, जै० व० ।

पद्यानुवाद—होते मीठे पवन भर के वेणु के नाद भी हैं,
गातीं प्यारे-त्रिपुर-जय के गीत भी किन्नरी हैं।
[1]जो, हो तेरी ध्वनि मुरज सी कन्दरों में वहां तो
[2]पूरा होवे प्रमथ-पति के, साज, सङ्गीत का सो ॥५९॥

त्रिपुर विजय—पूर्व काल में विद्युन्माली, रक्ताक्ष, और हिरण्याक्ष नाम के तीनों दैत्यों ने माया-मयी सुवर्ण, चांदी और लोहा इन तीन धातुओं के तीन नगर बनाकर देवताओं को अत्यन्त दुःख दिया। तब श्री शिवजी ने उन तीनों पुरों को नष्ट करके देवताओं का दुःख दूर किया था, इस त्रिपुर-विजय के चरित्र के गीतों का यहां सूचन है।

सङ्गीत—गीत, नृत्य और वाद्य इन तीनों को मिलकर सङ्गीत सज्ञा है। हलायुध-कोश में लिखा है—"नृत्तं गीतञ्च वाद्यञ्च त्रयं सङ्गीत-मुच्यते"।

कीचकपूर्यमाणा.—हिमालय के इन प्राकृतिक-वेणु शब्दों का महाकवि कालिदास के काव्यों में बहुधा वर्णन मिलता है—

"यः पूरयन् कीचकरन्ध्रभागान् दरीमुखोत्थेन समीरणेन।
उद्गास्यतामिच्छति किन्नराणां तानप्रदायित्वमिवोपगन्तुम् ॥
(कुमा० १-८)

अर्थात् जो-हिमालय-कन्दरा रूपी मुख से उत्पन्न हुए पवन से कीचकों [बांसों] के छिद्रों को पूर्ण करता हुआ, उच्चस्वर से गाने वाले किन्नरों को मानो तान देने की शिक्षा देने वाला होना चाहता है।

रघुवंश में भी सर्ग २-१२ तथा ४-७३ में इनका वर्णन है।

---

१ पाठान्तर—होगी तेरी। २ होगा पूरा।

मूल—प्रालेयाद्रेरुपतटमतिक्रम्य तांस्तान् विशेषान्
हंसद्वारं भृगुपतियशोवर्त्म यत्क्रौञ्चरन्ध्रम्।
तेनोदीचीं दिशमनुसरेस्तिर्यगायामशोभी[१]
वामः पादो बलिनियमनाभ्युद्यतस्येव विष्णोः६०॥

श्लोक—६०,

अब, हिमालय से आगे मेघ को उत्तर को जाने का मार्ग बतलाता हुआ यक्ष, वहां के एक अपूर्व नैसर्गिक-दृश्य का वर्णन करता है—

हिमालय के ऐसे अनेक दर्शनीय प्राकृतिक-दृश्यों का उल्लंघन करने के पश्चात् आगे तुझे मार्ग में क्रौञ्चरन्ध्र—क्रौञ्च नाम पर्वत का छिद्र—आयगा जो कि परशुरामजी की कीर्तिका मार्ग है अर्थात् परशुरामजी के अपूर्व पराक्रम के यश का सूचक है। वह हंसों का द्वार है—उसीमें होकर हंस, मान सरोवर को आया जाया करते हैं—तू तिरछा और लंबा होकर उसी में से उत्तर दिशा को जाना—उस छिद्र में से टेढा और लंबा होकर तू निकलेगा तब बलि राजा को दमन करने के समय वामन भगवान् के बढ़े हुए बाँये श्याम चरण के समान बहुत ही शोभायमान होगा। उस समय तू ऐसा जान पड़ेगा कि श्रीवामन भगवान् का बढा हुआ श्याम रंग का बायां पांव पर्वत छिद्र में से निकल रहा है।

अलङ्कार—यहां उपमा है।

भगवान् वाल्मीकि जी ने श्रीहनुमान जी को —

---

१ अनुपते, जै०, अभिसरे, व०)

पद्यानुवाद-यो प्रान्तों को तुहिन-गिरि के, लांघ के क्रौञ्च रन्ध्र-
देखेगा तू भृगुपति-यशः मार्ग; वो द्वार-हंस।
जाना टेढ़ा बन, तन-बढ़ा तू उसी से उदीची
पाके शोभा तव बलि-छली-विष्णु के पाद की सी॥६०॥

"त्रीन् समानति विक्रम्य बलिवीर्यहरो हरि।"

इस श्लोकार्द्ध में भगवान् वामन जी की उपमा दी है। इसी का यहां अनुसरण किया गया है।

हंस द्वार – दक्षिण से कैलास को जाने के लिये हिमालय के अत्यन्त पर्वतों में एक बड़ा छिद्र है। श्री शिवजी से धनुर्विद्या की शिक्षा लेकर परशुरामजी ने स्वामी कार्त्तिकेय के साथ स्पर्धा करके एक ही बाण से हिमालय के एक क्रौञ्च नामक उच्च शिखर को—मिट्टी के पिण्ड के समान उधेड़ कर उत्तर से दक्षिण को आने का मार्ग बना दिया था। इसके मध्य मानस-सरोवर से हंस, इस तरफ यहां आ सकते थे। इसी से उसको हंस द्वार और परशुरामजी के यश का मार्ग, यहां कहा गया है। देखिये —

"एतद्द्वार महाराज मानसस्य प्रकाशते।
वर्षमस्य गिरेर्मध्ये रामेण श्रीमता कृता"॥
(मत्स्य पुराण)

"साथ त्रिदससदारानविश्वलविहितदाप्रतन्त्रप्रमारा—
वीर क्रौञ्चस्य भेदात्कृतधरणितलापूर्वहंसावतार"॥
(मालती माधव २१७)

"परशुरामपराक्रमस्मृतिहंसा इव"। (हर्ष चरित)

वायु पुराण में इस छिद्र का स्वामी कार्त्तिकेय द्वारा शक्ति के प्रहार से किया जाना लिखा है—

मू०—गत्वाचोर्ध्वं दशमुखभुजच्छ्वासितप्रस्थसन्धेः
कैलासस्य त्रिदशवनितादर्पणस्यातिथिः स्याः ।
शृङ्गोच्छ्रायैः[१] कुमुदविशदैर्यो वितत्य स्थितः खं
राशीभूतः प्रतिदिनमिव[२] त्र्यम्बकस्याट्टहासः॥६१

" चित्रपुष्पनिकुञ्जस्य क्रौञ्चस्य च गिरेस्तटे ।
देवारिस्कन्दनः स्कन्दो यत्रशक्तिं विमुक्तवान्" ॥
(अ०४१ । ४०—)

महाभारत में भी वनपर्व अ० २२७ में स्कन्द द्वारा ही क्रौञ्चविदारण लिखा है ।

—०—

श्लोक—६१,

अब, क्रौञ्च बिल में से निकल कर आगे कैलास पर मेघ को जाने के लिये कहता हुआ यक्ष, उसके दृश्य की शोभा का वर्णन करता है—

उस क्रौञ्चबिल से निकल कर तू और कुछ ऊचा जाके, बस कैलाश पर्वत पर पहुंच जायगा । यह वह कैलास है—जिसको दशमुखवाले रावण ने बल पूर्वक उठाके हिला डाला था, जिससे उसके शिखरों के सॉंध ढीले पड गये थे । वह स्फटिकमयी होने से सर्वदा चमकता रहता है अतएव देवाङ्गनायें उसीसे दर्पण का काम लेती हैं-उसीमें अपना प्रतिबिम्ब देखा करती

---

१ तुङ्गोच्छ्रायैः, बिल, । २ प्रतिदिश, मिव बिल० म० स० ह० क० इस० सुम० सारो० प्रतिनिश,मिव व० ।

पद्यानुवाद-कैलासाद्री, दश-वदन से सॉंध ढीले हुए का
जा ऊंचा, हो अतिथि, नभ में शृङ्ग फैले हुए का।
है देव-स्त्री-मुकुर सम जो स्वच्छ पद्म-प्रकाश
मानो हूआ प्रतिदिन जमा, शम्भु का अट्टहास॥६१॥

हैं। उसके कुमुद के समान शुभ्र कान्तिवाले विस्तृत शृङ्ग, आकाश में दूर दूर तक फैले हुए हैं, उन-शृङ्गों से वह ऐसा सुहावना मालूम होता है, मानों त्रिलोचन-भगवान् शङ्कर का प्रतिदिन किया हुआ अट्टहास इकट्ठा होकर उसका ढेर लग रहा है।

दशमुखभुजोच्छ्वासित—पूर्व काल म रावण ने अपने भाई कुबेर से पुष्पक-विमान छीनने के लिये अलका-पुरी पर चढ़ाई की थी, उस समय उसने कैलास को उठाके अलका का सर्व-नाश करने की चेष्टा की थी। तब कैलास हिल उठने से उसके पाषाण-शृङ्गों के जोड ढीले पड गये थे। इस पुराण-प्रसिद्ध इतिहास का इस पद से सूचन है। देखिये! इस प्रसङ्ग का माघ ने कैसा अद्भुत वर्णन किया है—

"समुत्क्षिपन् यः पृथिवीभृतां वरं
वरप्रदानस्य चकार शूलिनः।
त्रसत्तुषाराद्रिसुताससंभ्रम—
स्वयंग्रहाश्लेषसुखेन निष्क्रियम्"॥
(शि० १—५०)

मूल—उत्पश्यामि त्वयि तटगते स्निग्धभिन्नाञ्जनाभे
सद्यः कृत्तद्विरद[1]दशनच्छेदगौरस्य तस्य।
[2]शोभामद्रेः स्तिमितनयनप्रेक्षणीयां भवित्री-
मंसन्यस्ते सति हलभृतो मेचकेवाससीव ॥६१॥

भावार्थ—रावण ने जब पर्वतों में श्रेष्ठ कैलास-को उठाया तो उसके हिलने से डर के श्री पार्वतीजी संभ्रम युक्त श्री शिवजी के अङ्ग में जा लगीं, इससे श्रीशङ्कर को बड़ा आनन्द हुआ, आनन्द क्या हुआ, रावण की अत्यन्त आराधना से प्रसन्न होकर भगवान् शूल-पाणि ने जो वरदान उस को दिया था, उस-वरदान-की मानो दक्षिणा रावण ने श्री शिवजी को भेंट की।

त्र्यम्बकस्याट्टहासः—यहां कैलास के गगन-स्पर्शी स्वच्छ श्वेत कान्ति के शृङ्गों में श्री शिवजी के एकीभूत अट्टहास की उत्प्रेक्षा की गई है। इससे हिमालयान्तर्गत-कैलास की अत्यन्त उच्चता और शुभ्रता सूचन की गई है। अत्यन्त शुभ्रता को हास्य की समता दी जाती है, देखिए—
" शरदिन्दुकुन्दघनसारनीहारमृणालमरालसुरगजनीरक्षीर-
गिरिशाट्टहासकैलासकाशनीकाशमूर्त्या रचितदिगन्तपूर्त्या
कीर्त्याभितः सुरभितः "। (दशकुमार चरित)

दर्पण—कैलास, स्फटिक वा रजत-मयी होने से बिम्बग्राही है, इसी से दर्पण रूप कहा है।

---

१ रदन, ज० विद्यु०। २ लीलामद्रे, जै० व०।

पद्यानुवाद-बैठेगा जा निकट उसके श्याम तू कज्जलाभी
वो हस्ती का रद सद्-कटा-गौर, मैं सोचता कि-
होगी शोभा स्थकित-दृग से दर्शनीया वहां वो
जैसे कंधे हल-धर अहो ! वस्त्र-नीला धरा हो ॥६२॥

श्लोक—६२,

इस श्लोक में कैलास के शिखर में लगे हुए श्याम-मेघ के दृश्य का वर्णन है —

तू-चिक्ने और पिसे कज्जल के समान-अत्यन्त श्याम वर्ण है। और वह [कैलास]-तुरत के कटे हाथी के दांत के टुकडे के समान-गौर, सो तू जब उसके शिखर के समीप बैठेगा, तब मैं सोचता हूं, कि कैलास की शोभा, कंधे पर नीलाम्बर धारण किये हुए हलधर [श्री बलरामजी] के समान स्थिर-दृष्टि से एक टक देखने योग्य बड़ी ही सुन्दर हो जायगी— गौरवर्ण के कैलाश शृङ्ग पर तुम्हा श्याम रंग वाले के बैठने से ऐसी मनोहर शोभा होगी मानो गोरे रंग के हलधर जी के कंधे पर काले रंग का दुपट्टा रक्खा हो।

अंसन्यस्ते, इत्यादिः—श्रीबलरामजी का गौर-वर्ण है, उनका नील-वर्ण का दुपट्टा धारण करना प्रसिद्ध है, देखिए —

"किं न पश्यसि दुग्धेन्दुमृणालसदृशाकृतिम् ।
बलभद्रमिमं नीलपरिधानमुपागतम्" ॥

(श्री विष्णुपुराण)

अलङ्कार—यहां नीलाम्बर-धारी श्रीबलभद्र की, कैलाश-शृङ्ग के समीपस्थ मेघ की उपमा दी गई है। गीत-गोविन्द में श्री हलधर के नीलाम्बर को मेघ की उपमा दी है, वह भी देखिए —

"वहसि वपुषि विशदे वसनं जलदाभं । हलहतिभीति
मिलितयमुनाभम्। केशवधृतहलधररूप जय जगदीश हरे" ॥

महाकवि भारवि ने भी हिमालय वर्णन में इस वर्णन का अनुकरण किया है --

"तमतनुवनराजिश्यामितोपत्यकान्तं,
नगमुपरि हिमानीगौरमासाद्य जिष्णुः ।
व्यपगतमदरागस्यानुसंस्मार लक्ष्मी—
मसितमधरवासो बिभ्रतः सीरपाणेः" ॥

(किरा० ४-३८)

अर्थात् उस—हिमालय—पर पहुंचकर—उसकी शोभा को देखकर, अर्जुन को उतरे हुए मद-राग वाले नीलाम्बर-धारी हलधर की शोभा का स्मरण हो आया। बात यह थी कि हलधर गौर-वर्ण थे और नीलाम्बर धारण करते थे, -हिमालय भी बर्फ से अत्यन्त शुभ्र वर्ण, श्यामल कान्ति वाली वन-राजी से उनके समान ही शोभा पा रहा था। यहां कवि ने वर्ण से गौर हिमालय की श्री बलभद्र के साथ और श्याम-वनस्थली की नील-वस्त्र के साथ समता कल्पना की है, किन्तु नीचे से निस्तिन्ति और आकाश से [ऊंचा जाके] पतले, हाथी के दान्त जैसे उज्वल कैलास-शृङ्ग से चिपटे हुए श्यामवर्ण के मेघ के दृश्य पर महाकवि कालिदास के वर्णन में—कंधे पर रक्खे हुए नीलाम्बर युक्त हलधर की उपमा में—जैसा उचित सादृश्य-प्रतीत होकर आनन्दानुभव होता है, तादृश भारवि के वर्णन में नहीं। यही महाकवि कालिदास की कल्पना में विचित्रता है।

सद्यः कृत्तद्विरददशनः—इसमें कैलास की शुभ्रता को हाथी के तुरत के कटे दांत की उपमा दी गई है, भवभूति ने वियोगिनी मालती के शुभ्र कपोलों को भी यही उपमा दी है—

"अभिनवकरिदन्तच्छेदकान्तः कपोलः"।

(माल० अङ्क १)

मूल—[1]हित्वा तस्मिन् भुजगवलयं शम्भुना दत्तहस्ता
क्रीडाशैले यदि च[2] विचरेत् पादचारेण गौरी।
भङ्गीभक्त्या विरचितवपुः स्तम्भितान्तर्जलौघः
सोपानत्वं व्रज [3]पदसुखस्पर्शमारोहणेषु ॥६३॥

श्लोक—६३,

अब, वहां-कैलास पर श्रीशिवजी के साथ विचरती हुई श्रीपार्वतीजी की समयोचित सेवा करने के लिये मेघ को यह कहता है--

उस क्रीडा-शैल (कैलास) पर पार्वतीजी के साथ जब भुजगभूषण--श्रीशङ्कर विचरण किया करते हैं तब अपने हाथ से सर्प के कङ्कण को उतार डालते हैं, ऐसे-सर्प-कङ्कण रहित हाथ को श्री पार्वतीजी अपने हाथ से थामकर यदि श्री चरणों से टहलती हों तो तू अपने-बद्दलों-से जल न टपका कर-जल को रोककर-सोपान [अर्थात् जीने] की तरह बन जाना, जिससे तेरे ऊपर चरण रखकर, जाने से उनको मार्ग की अनुकूलता या सुखानुभव हो—इस सेवा से-श्री गौरीशङ्कर के चरण-स्पर्श करके तू अपने जन्म की सफलता प्राप्त करना ।

हित्वा भुजगवलयं—श्रीशिवजी के हाथों में सर्पों के आभूषण रहते है, उन आभूषणों-से श्रीपार्वतीजी को भय होता है, इसलिये श्री

---

१ तस्मिन् हित्वा, जै० सु० ; हत्वा नीलं, व० । २ विहरेत्, जै० विल० य० ई० । ३ कुरुमणितटारोहणायाग्रयायी, नं० विद्यु० सारो० सु० मल्लि० मा० ; कुरुमणितटारोहणायाग्रचारी, जै० ।

पद्यानुवाद-त्यागा हुआ अहि-वलय को शम्भु-हस्तावलम्बा—
होवें क्रीडा-गिरि विचरती पाद से जो कि अम्बा।
अन्तर्वारी-दृढ़-तनु बना रम्य-सोपान होना
जावें जैसे रख चरण, वे स्पर्श से मोद को पा ॥६३॥

शिवजी जब पार्वती जी का स्पर्श करते हैं, तब सर्प के कङ्कण को हाथ से निकाल देते हैं। इस कथन से श्री पार्वतीजी का स्त्री-स्वभावानुसार मधुर भाव, और उनकी सुकुमारता तथा श्रीशङ्कर का उनपर प्रगाढ़ प्रेम सूचन किया गया है। स्त्री-जनों के प्रति कोमल वृत्ति, प्रेम और सद्भाव के इस प्रकार के उदाहरण हमारे ग्रंथों में प्राय मिलते हैं। इस श्लोक में कवि ने जो भाव ध्वनित किया है उससे स्पष्ट ही कालिदास के समय में नारी भावों का प्रचलित होना ज्ञात होता है। किन्तु जिस तरह अब—प्राय पश्चिमीय समाज में इसका शुष्क अनुकरण पर साधारण रिवाज की तरह सर्वत्र देखा जाता है, वैसा उस समय भी हमारे यहां न था, किन्तु जहां पर सत्य प्रेम और प्रगाढ़ परिचय होता था वहीं एतादृश भाव प्रकट किया जाता था। देखिए! विक्रमोर्वशीय-नाटक में राजा और उर्वशी का परस्पर आन्तर्य-प्रेम होने पर भी, उर्वशी जब रथ में से उतरती है, वहां कवि राजा से रथ का स्पर्श मात्र ही करवाता है, इस प्रकार की कुछ भी चेष्टा प्रदर्शित नहीं कराता, क्योंकि उस समय तक वे-दोनों ही अपरिचित और प्राथमिक अवस्था में थे।

क्रीडाशैल—कैलास का नाम है। कैलास श्री शिवजी का क्रीडा-शैल भी है कहा है—

'कैलासः कनकाद्रिश्च मन्दरो गन्धमादनः।
क्रीडार्थं निर्मिताः शम्भोर्देवैः क्रीडाद्रयोऽभवन्'॥

मूल—तत्रावश्यं [1]वलयकुलिशोद्धट्टनोद्गीर्णतोयं
नेष्यन्ति त्वां सुरयुवतयो यन्त्रधारागृहत्वम्।
ताभ्यो मोक्ष[2]स्तव यदि सखे घर्मलब्धस्य न स्यात्
क्रीडालोलाः श्रवणपरुषैर्गर्जितैर्भाययेस्ताः[3]॥६४॥

श्लोक—६४,

इस श्लोक में कैलास में देवाङ्गनाओं की मेघ के साथ क्रीडा वर्णन है—

हे मित्र! वहां [कैलास में] देवताओं की रमणियां बडी खिलवाड हैं, वे अवश्य ही अपने हीरों के कङ्कणों की कोर से तुझे घिसकर तुझमें से जलकी धारा निकाल, निकाल कर फंवारा बनाकर क्रीडा करेंगी। घर्म [गरमी] में तुझे पाकर—ऐसे विनोद में आसक्त होके—यदि वे तेरा पिंड न छोड़ें तो उन खिलाडिनों को तू कर्ण कठोर अपनी घोर-गर्जना से डराना उनको यों डराकर अपना पीछा छुडा लेना।

यन्त्रधारागृह—इसका अर्थ पिचकारी नहीं, किन्तु फंवारा है, जिसको अंग्रेजी में शावरबाथ कहते हैं। पिचकारियों की क्रीडा तो प्राय होलिकोत्सव पर हुआ करती है। ग्रीष्म में तो फवारे ही आनन्द-दायक होते हैं। इनका ही वर्णन ग्रीष्म काल में अन्यत्र किया गया है देखिए—

---

१ कुलिशवलय, सारो० सुम० जनितसलिलोद्गारमन्तःप्रवेशात् व०। २ यदि तव, जै०। ३ भीषये, जै०; भापये सारो० सुम०।

पद्यानुवाद-तेरे को ही घिस वलय की कोर से छोड़ धारा
खेलेंगी वे सुर-तिय वहां यों बनाके फँवारा ।
छोड़ें पीछा यदि न घन ! पा [1]घर्म में तो भगाना
हैं वे क्रीडा-चपल उनको गर्जना से डराना ॥६४॥

"यन्त्रप्रवाहैः शिशिरैः परीतान् रसेन धौतान्मलयोद्भवस्य ।
शिलाविशेषानधिशय्य निन्युर्धारागृहेष्वातपमृद्धिमन्तः" ॥
(रघुवंश-१६-४९)

" मुच्यन्तां यन्त्रमार्गाः प्रसरतु परितो वारिधारागृहेषु " ।
(प्रबोध चन्द्रोदय)

"बिन्दुत्क्षेपान् पिपासुःपरिपतति शिखी भ्रान्तिमद् वारियन्त्र"।
(मालविकाग्निमित्र २ १२)

घर्मलब्धस्य—इसका अर्थ, ग्रीष्म ऋतु में तुझको पाकर । यही बहुत से टीकाकारों ने किया है । विद्युल्लताकार ने कैलास में ग्रीष्म का ताप का कथन अनुचित मानकर इसका अर्थ, काम-ताप, किया है ।

---

१ पाठान्तर—ग्रीष्म में ।

मू०—हेमाम्भोजप्रसवि सलिलं मानसस्याददानः
[1]कुर्वन्कामं क्षणमुखपटप्रीतिमैरावतस्य[2]।
[3]धुन्वन्कल्पद्रुमकिसलयान्यंशुकानीव[4] वातै-
र्नानाचेष्टैर्जलद ललितैर्निर्विशेस्तं[5] नगेन्द्रम् ॥६५॥

श्लोक—६५,

अब, मेघ को कैलास पर नाना प्रकार की ललित क्रीड़ाओं से आनन्द लेने को कहता हुआ यक्ष कैलास की रम्यता वर्णन करता है—

हे मेघ! वहां पर सोने के कमलों को उत्पन्न करने वाला मानसरोवर है उसके जल को अच्छी तरह तू पान करना। ऐरावत हाथी के मुख पर अपनी बूंदों की श्री [हाथी के मुख पर डालने का भूषण] उढ़ाना, और मन्दारों [कल्पवृक्षों] के नवीन कोमल पल्लवों को—महीन वस्त्र [ध्वजा] के समान—उड़ाना। इत्यादि अनेक प्रकार की चेष्टाओं से मनोरमणीय क्रीडा करता हुआ तू उस-कैलास-पर्वत पर अपनी इच्छानुसार—बे रोक टोक घूमना।

---

१ वामाद , पिल० व० त्रिपु० स० ह०। २ ऐरावणस्य, जै० सारो० व०। ३ धुन्वन् वातैः सजलपृषतैः कल्पवृक्षांशुकानि छायाभिन्नस्फटिक विशदं, व० विच० स० ह० सारो०। ४ स्ववातैः, ज०। ५ पर्वतं तं, सारो० व०।

पद्यानुवाद-लेना हेमोत्पल-जनक सो नीर भी मान का तू-
देना, ऐरावत-वदन पे प्रीति से श्री-उढ़ा तू-
मन्दारों के दल, पवन से वे ध्वजासी उड़ा तू-
नाना क्रीडा-ललित करना यों उसी शैल जा, तू॥६५॥

ऐरावत--ऐरावत का अलका में आना, श्रीशिव पूजा के लिये
ए हुए इन्द्र के साथ, अथवा यह यथेच्छ विचरने वाला है, इसलिए
ा गया है।

धुन्वन्, इत्यादि--यहां मन्दार वृक्षों के पवन द्वारा कम्पित पत्तों
आगत जनों के सन्मानार्थ ध्वजाओं की कल्पना की गई है, जैसा कि
ारसंभव में कहा है--

"यत्र कल्पद्रुमैरेव विलोलविटपांशुकैः।
गृहयन्त्रपताकाश्रीरपौरादरनिर्मिताः"॥ (६-४१)

निविशेस्त नगेन्द्रम्--कैलास, यक्ष के रहने का प्रदेश होने से मेघ
लिये मित्र का स्थान है। अथवा मेघ की और पर्वत की स्वाभाविक
त्रता प्रसिद्ध है, इसी भाव से यहां पर इच्छानुसार विहार करने का
धन है।

अलङ्कार--यहां उपमा और उदात्त का अङ्गाङ्गी भाव सङ्कर है।

मू०—तस्योत्सङ्गे प्रणयिन इव स्रस्तगङ्गादुकूलां[1]
न त्वं दृष्ट्वा न पुनरलकां ज्ञास्यसे कामचारीन्।
या वः काले वहति सलिलोद्गारमुच्चैर्विमाना[2]
मुक्ताजालग्रथितमलकं कामिनीवाभ्रवृन्दम्॥६६॥

श्लोक—६६,

इस श्लोक में कैलास की गोद में अलका-नगरी के विलक्षण दृश्य की शोभा के वर्णन से कवि, यक्ष द्वारा मेघ को सोत्कण्ठ कराता हुआ पूर्व-मेघ समाप्त करता है—

हे इच्छानुसार विचरण करने वाले! प्रियतम के समान उस कैलास के अङ्क [गोद] में उसको देखकर—जिसका गङ्गा रूपी दुकूल [रेसमी वस्त्र] खिसल कर गिरा हुआ है—क्या तू न जान लेगा ? नहीं, अवश्य ही जान जायगा कि यह अलका है। उसके ऊंचे विमानों पर (सतखने महलों पर) जब वर्षा समय में बूंदों को टपकाती हुई मेघ माला आच्छादित हो जाती हैं, उस समय वह-मुक्ताजाल से गूथे अलकों वाला मान छोड़ी हुई अनुकूला कामिनी के समान बड़ी सुहावनी मालूम होती है। अर्थात् वर्षा कालिक अलका के दृश्य

---

१ दुगूला व० । २ विमानै, विल० सारो०सुम० म० स० रा० ह० क० विय० ।

पद्यानुवाद-देखेगा तू प्रिय-सम लगी जोकि कैलास-अङ्क—
छोड़ें गङ्गा-वसन, अलका जान लेगा निशङ्क।
† धारें हुए घन-बरसते वो विमाना विभाती
मोती-गूंथी-अलक युत ज्यों कामिनी हो सुहाती॥६६॥

को तू ऐसा देखेगा, जैसे खिसली हुई सफेद साड़ी वाली केशों में मोतियों की माला गूंथे हुए विलासवती कामिनी, अपने प्रियतम के अङ्क [गोद] में बैठी शोभायमान हो रही हो।

यहां ऊंचे और गौर-वर्ण के कैलास की नायक रूप से और उसके उत्सङ्ग [गोद] में बसी हुई अलका की स्वाधीन पतिका नायिका रूप से कल्पना है। निकट में स्वच्छ रुपहरी जल का श्रीमन्दाकिनी का प्रवाह बहता है, वह, प्रिय-स्पर्शजनित रसलीनता से खिसल कर गिरा हुआ अलका रूपी नायिका का श्वेत रेसमी वस्त्र है। अत्यन्त ऊंचे भवनों के शिखर ही, उसके मस्तक रूप हैं। श्याम वर्ण के मेघ-समूह ही उस अलका रूप कामिनी की अलकावली के स्थान पर हैं। और उनमें से गिरते हुए वर्षा के बिन्दु ही, काले-केश पाश में गूंथी हुई मोतियों की माला रूप हैं। कालिदास के अत्यन्त रमणीय वर्णनों में का यह वर्णन, उनकी सर्वांग-रमणीय कल्पना शक्ति का अप्रतिम उदाहरण है।

---

† पाठान्तर—वर्षा में वो जल टपकते मेघ धारे विमाना। मोती गूंथी अलकबिखरी कामिनी सी विमाना।

अलङ्कार—यहां गंगा में सागी का रूपक है, वह, अलका में कामिनी की उपमा दी गई है, उसका अङ्ग होने से अङ्गाङ्गी भाव सङ्कर है।

या वः काले, इत्यादिः—इसमें —

" सुरतामदविच्छिन्नाः स्वर्गस्त्रीहारमौक्तिकाः।
पतन्तीवाकुला दिक्षु तोयधाराः समन्ततः" ॥

इस-वर्णन की शरणि का अनुसरण किया हुआ भासित होता है।

आठ की संख्या के श्लोक में यक्ष ने मेघ को कहा था, कि 'मेरे द्वारा प्रथम सुन तू मार्ग गन्तव्य तेरा'। उसी के अनुसार मार्ग कथन करने के पश्चात् इस श्लोक में अलका का संक्षिप्त वर्णन करके पूर्व मेघ समाप्त किया गया है।

पूर्व मेघ समाप्तः।

मूल—विद्युत्वंतं ललितवनिताः सेन्द्रचापं सचित्राः
सङ्गीताय प्रहत[1]मुरजाः [2]स्निग्धगम्भीरघोषम्।
अन्तस्तोयं मणिमयभुवस्तुङ्गमभ्रंलिहाग्राः
प्रासादास्त्वां तुलयितुमलं यत्र तैस्तैर्विशेषैः॥१॥

श्लोक—१,

पूर्व-मेघ में अलका के मार्ग का वर्णन समाप्त हो चुका, अब जैसा, कि पूर्व मेघ के आठवें श्लोक में यक्ष ने कहा था—

मेरे द्वारा प्रथम सुन ! तू मार्ग गन्तव्य तेरा,
उसके पीछे रुचिर सुनना मेघ ! सन्देश मेरा।

इसी के अनुसार वह अपना सन्देश कहने के लिये, अलका का वर्णन, उसके अन्तर्गत अपने भवन के चिन्ह और अपनी प्रिया की तत्कालिक दशा आदि, सन्देश के प्रथम वक्तव्य प्रसङ्गों को कहने की इच्छा से पूर्व-मेघ के अन्तिम पद्य में संक्षेप से किया हुआ अपने निवास-स्थान-कुबेर की राजधानी-अलका का सविस्तर वर्णन प्रारम्भ करता है—

हे मेघ ! अलका के देव-भवन वहां अपनी शोभा से सर्वथा तेरी होड करने के योग्य हैं-तेरे ही सदृश शोभायमान हैं, किसी भी बात में वे तेरे से कम नहीं। तू बिजली से भूषित है, वे [अलका के भवन] भी रूप, वेश, विलासादि से-बिजली ही की समान-परम सुन्दरी रमणियों से विभू-

---

१ मुरवा, जै० विद्यु०; मुरजा, सारो०। २ स्निग्धपर्जन्यघोषम्, व० विद्यु०।

पद्यानुवाद-विद्युत् ऐन्द्री-धनु सहित तू, वे स-कान्ता स-चित्र
हैं तू धीर-ध्वनित, घन ! वे वाद्य-सङ्गीत युक्त ।
है ऊँचा तू स-जल, मणि भू युक्त अभ्रंकशा वे
देखेगा तू भवन उसके तुल्य तेरी प्रभा के ॥ १ ॥

पित हैं। तू चित्र विचित्र रङ्गों वाले मनोहर इन्द्र-धनुष से शोभित है, वे भी अनेक रङ्गों के अङ्कित चित्रों से तादृश सुशोभित हैं। तू मधुर-गम्भीर ध्वनि वाला है, वहां सङ्गीत में मृदङ्गों की वैसे ही ध्वनि होती रहती है। तू स-जल होने से कान्तिमान है, वे भी मणिमयी [रत्न जड़ित] भूमि वाले होने से तादृश प्रकाशमान हैं। तू आकाश में अपनी ऊंचता से बड़ा अच्छा मालूम होता है, वे भी अभ्रलिहाग्र हैं अर्थात् आकाश को छूने वाले शिखरों से बहुत सुन्दर प्रतीत होते हैं।

अलङ्कार—यहां बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से पूर्णोपमा है।

सङ्गीताय, इत्यादिः—इससे वहां निरन्तर नृत्य, गीत, वाद्य के प्रयोग होना सूचन किया गया है। कुमारसम्भव में औषधि प्रस्थ के वर्णन में भी यही भाव है, देखिए—

"शिखरासक्तमेघानां व्यज्यन्ते यत्र वेश्मनाम् ।
अनुगर्जितसन्दिग्धाः करणैर्मुरजस्वनाः" ॥ (६-४०)

नैषध में इस वर्णन का अनुकरण इस प्रकार किया गया है—

"दधदम्बुदनीलकण्ठतां वहदत्यच्छसुधोज्ज्वलं वपुः ।
कथमृच्छतु यत्र नाम ते क्षितिभृन्मन्दिरमिन्दुमौलिताम्"॥
(२-८२)

मूल—हस्ते लीलाकमल[1]मलके बालकुन्दानु[2]विद्धं
नीता [3]लोध्रप्रसवरजसा [4]पाण्डुतामानने श्रीः।
चूडापाशे नव[5]कुरबकं चारु कर्णे शिरीषं
[6]सीमन्ते च त्वदुपगमजं यत्र नीपं वधूनाम्॥२॥

श्लोक—२,

जहां [अलका में] यक्ष रमणियों को सभी ऋतुओं के फूल शृङ्गार के लिये सर्वदा प्रस्तुत हैं। अतएव उनके हाथों में विलास के लिये कमल रहते हैं, अलकों में कुन्द पुष्प की कलियां लगी हुई रहती हैं, मुख पर लोध्र-पुष्पों के पराग से पाण्डुच्छवि—सुवर्ण के तुल्य कुछ पीलापन ली हुई कान्ति सुहाती है, वेणी (बँधे हुए केश कलाप) में नवीन कुरबक के पुष्प गूँथे रहते हैं, कानों में शिरीष के पुष्प और मांग में (केशों के बीच की रेखा में) तेरे आने पर उत्पन्न होने वाले (वर्षा ऋतु में फूलने वाले) नीप (कदम्ब) पुष्प शोभायमान रहते हैं।

इन पुष्प आभूषणों से अलका की देवाङ्गनाओं की अनुपम कोमलता और नागरिकता सूचन की गई है। इन—कमल आदि क्रमशः पृथक् पृथक् ऋतुओं में होने वाले—पुष्पों के एक ही काल में वर्णन से यह दिखता है, कि अलका में सब ऋतु, क्रम छोड़ के प्रत्येक ऋतु में अपने अपने पुष्प देती हैं। देखिए—

कमल—यह शरद-ऋतु का पुष्प है। कहा है—"शरत्पद्म नलवणा। कमल को हाथ में रखना यह स्त्रियों का स्वाभाविक विलास है।

---

१ अलक, विक्र० सारा० व० सु० म० स० रा० ह० प०, अलका, विद्यु० २ विद्धा, विद्यु०। ३ राभ सुर सारा० व०। ४ आननश्री, जै० विक्र० विद्यु० सारो० सु०। ५ कुरुबक, विक्र० सारो० सु०। ६ सीमन्तेऽपि विक्र०

पद्यानुवाद—हाथों में हैं कमल, अलकें कुन्द से हैं सुहाती
लोध्री-रेणू लग, वदनकी पाण्डु-कान्ती विभाती।
हैं वेणी में कुरबक नये, कर्ण में हैं शिरीष
कान्ताओं के विलसित जहां माँग में पुष्प नीप ॥२॥

कुन्द—इस पुष्प का मुख्य समय तो शिशिर ऋतु है। किन्तु जिस प्रकार शरद ऋतु के सिवा वसन्तादि में भी कमल उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार हेमन्त में कुन्द भी होता है, शाकुन्तल में कहा है—

"भ्रमर इव विभाते कुन्दमन्तस्तुषारम्"।

अतएव यहां इनको हेमन्तीय ही माने गये हैं। मल्लिनाथ ने मूल के 'बाल' शब्द के विशेषण से कुन्द का हेमन्त में प्रादुर्भाव और शिशिर में परिपक्व भाव माना है। किन्तु इन पुष्पों के प्रादुर्भाव और परिपक्व भाव में इतना समय अपेक्षित नहीं, एतावता कविका अभिप्राय, इस-बाल-शब्द से यहां कुन्द-कली या छोटे पुष्पों का प्रतीत होता है, जैसा कि आगे कहा जायगा—"*प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः*"। इस पद्य में भी प्रसव शब्द से कुन्द का कोमल नवीन या छोटा पुष्प ही कहा गया है। कुन्द कली का अर्थ ग्रहण करने में यहां वाक्यार्थ में सरसता भी अधिक आजाती है, क्योंकि अलकों में कुन्द की कलियों की शोभा अधिक होती है।

लोध्र—इन पुष्पों का मुख्य समय शिशिर ऋतु है। यहां भी ये ऋतु क्रम से शिशिर-सम्बन्धीय ही माने गये हैं। किन्तु लोध्र हेमन्त में भी होते हैं, ऋतु संहार में इनका हेमन्त में वर्णन है, देखिये—

"नवप्रवालोद्गमपुष्परम्यः प्रफुल्ललोध्रः परिपक्वशालिः।
विलीनपद्मः प्रपतत्तुषारो हेमन्तकालः समुपागतोऽयम्" ॥

मूल— [1]यत्रोन्मत्तभ्रमरमुखराः[2] पादपा नित्यपुष्पाः
हंसश्रेणीरचितरसना नित्यपद्मानलिन्यः ।
केकोत्कण्ठा भवनशिखिनो नित्यभास्वत्कलापा
नित्यज्योत्स्नाः[3] प्रतिहततमोवृत्तिरम्याःप्रदोषाः॥३

ये पुष्प कुछ पीले रंग के और पुष्कल पराग पूरित होते हैं। पीले रंग का इनका पराग लगाने से मुख सौन्दर्य, विशेष मादक बन जाता है। कुमारसंभव में भी कहा है ।

" कर्णार्पितो लोध्रकषायरूक्षे गोरोचनापत्रनितान्तगौरे " ॥

इस वर्णन से अनुमान होता है, कि पश्चिमीय-देशों की युवतियां, जैसा कि इस समय एक प्रकार का श्वेत और सुगन्धित चूर्ण [पौडर] मुखपर लगाती हैं, शायद ऐसी प्रथा हमारे यहां भी कालिदास के समय में प्रचलित हो ।

कुरवक—यह पुष्प वसन्त में होते हैं, देखिए । रघुवंश का वसंत वर्णन—

" उपवनश्रिय के रचना किये मधु नये नखपत्र विशेष से ।
कुरवका रव कारण हैं महा मधुलिहान महान मधुप्रदा ॥
(हमारा समश्लोकी भाषान्तर सर्ग ६-२९)

शिरीष—यह पुष्प ग्रीष्म में होते हैं। शाकुन्तल में ग्रीष्म का वर्णन देखिए —

" अवतंसयन्ति दयमाना. प्रमदा शिरीषकुसुमानि " ।

---

१ यस्यां मत्त, सारा० । २ भ्रमरनिकरा, ने० । ३ ज्योत्स्नाप्रतिहत, ने० सारा० सुम० ।

पद्यानुवाद—भृङ्गाली से मुखरित जहां वृक्ष हैं नित्य-पुष्पा
हंस-श्रेणी-लसित-रसना-पद्मिनी नित्य-पद्मा
पिच्छाभा से युत गृह-शिखी नित्य-उत्कण्ट-घोषा
है ज्योत्स्ना से विगत-तमकी नित्य-रम्या प्रदोषा॥२॥

ये अत्यन्त कोमल और गोलाकार कर्ण-फूल जैसे होते हैं, इसी से इनको विलासिनी स्त्रियां कानों में कर्ण-आभूषणों के स्थान पर पहनती हैं।

कदम्ब—इसका समय वर्षा ऋतु का है। रघुवंश में वर्षा काल के वर्णन में कहा है—

"गन्धश्च धाराहतपल्लवानां कदम्बमर्धोद्गतकेशरञ्च"।
(१३-२७)

अलङ्कार—यहां, कार्य-निबन्धना अप्रस्तुतप्रशंसा है। अलका की देवाङ्गनाओं की विलास प्रियता और कोमलता रूप प्रस्तुत-कारण का वर्णन करना कवि को अभीष्ट था, उसके लिये अप्रस्तुत कार्य रूप, इनके पुष्प-आभूषणों का वर्णन है।

श्लोक—३,

इस श्लोक में काल-नियम से वर्जित [सर्वदा] अलका में सब ऋतुओं की सम्पत्ति का वर्णन है—

जहां [अलका में] सभी वृक्ष, सर्वदा [केवल वसन्त ही में नहीं किन्तु ऋतु नियम को छोड़ कर] पुष्पों से युक्त रहने के कारण, उन्मत्त-भ्रमरों से शब्दायमान रहते हैं। पद्मिनी-केवल शरद ही में नहीं किन्तु नित्य ही कमलों से युक्त रहने के कारण, शब्दायमान हंसों की पंक्ति रूप रसना [किङ्किणी] से

मूल-आनन्दोत्थं नयनसलिलं यत्र नान्यैर्निमित्तै
नान्यस्तापः कुसुमशरजादिष्टसंयोगसाध्यात्।
[1]नाप्यन्यस्मात्प्रणयकलहाद्विप्रयोगोपपत्ति-
र्वित्तेशानां[2] न च खलु वयो यौवनादन्यदस्ति॥४॥

शोभित रहती है। भवनशिखि [विनोद के लिये घरों में पाले हुए मयूर] सदैव अर्थात् केवल वर्षा समय ही में नहीं किन्तु सदा-अपने शोभायमान-पिच्छभार युक्त केका शब्द करते हुए उत्कण्ठ [ऊपर को गर्दन किए] रहते हैं। प्रदोषा [रात्रियां] नित्य अर्थात् केवल शुक्ल पक्ष में ही नहीं कृष्ण पक्ष में भी चन्द्रमा की चांदनी से, अन्धकार-रहित होकर रमणीय होती है।

अलङ्कार—यहां तुल्ययोगिता है। प्रस्तुत वृक्षादिकों का नित्य पुष्पित आदि होने रूप एक धर्म कथन है।

नित्यज्योत्स्ना—अलका के निकट के उपवनों में भगवान् चन्द्र शेखर शिव का निवास रहने से वहां नित्य चन्द्र-प्रकाश रहना कथन किया गया है। जैसा कि पूर्व-मेघ के ७ की संख्या के श्लोक में "बाह्योद्यानस्थितहरशिरश्चन्द्रिका धौतहर्म्या" कहा गया है। महाकवि भारवि ने इस भाव का अनुसरण करते हुए चन्द्र-शेखर की चन्द्र-कला के प्रकाश से हिमालय की वनस्थली में सर्वदा कृष्णपक्ष की रात्रियों में चांदनी की शोभा कथन की है—

स्नपितनवलतातरुप्रवालैरमृतलवस्नुतिशालिभिर्मयूखैः।
सततमसितयामिनीषु शम्भोरमलयतीह वनान्तमिन्दुलेखा" ॥
(किरा० ५-४३)

—(०)—

---

१ नान्यत्र, म० सारो० सु०। २ न खलु च, जै० सारो० सु०।

पद्यानुवाद—आनन्दाश्रू विन, यन ! जहां अन्य अश्रू कहीं न
संयोगान्ती–स्मर-रुज विना, ताप भी दूसरी न ।
क्रीडा ही की कलह तज, वे दूर होते कभी न
है यक्षों के वयस, न कभी अन्य, तारुण्य-हीन॥४॥

श्लोक—४

इस श्लोक में अलका के निवासियों का विलक्षण सौख्य वर्णन है—

जहां [अलका में] आनन्द-जनित ही अश्रुपात हैं, अन्य अर्थात् शोक-जनित आंसू किसी के भी नहीं गिरते । स्मररुज [काम-ताप] जोकि संयोगान्ती है अर्थात् प्रियजन के मिलने पर जो स्वयं नष्ट हो जाता है, उसके सिवा अन्य व्याधि —दारिद्र आदि-का सन्ताप भी नहीं हैं । क्रीडा के कलह के सिवा वियोग भी नहीं है—प्रेम के मधुर कलह के समय ही मात्र मानवती स्त्रियों का वियोग होता है, अन्य कारण से नहीं । और यक्षों के वयस [अवस्था] भी केवल तारुण्य के सिवा दूसरी नहीं है—वे स्थिर-यौवन है उनको बुढापा कभी आता ही नहीं ।

कुमार संभव के औषधिप्रस्थ-वर्णन में भी यही भाव है—

"यौवनान्तं वयो यस्मिन्नान्तक: कुसुमायुधात् ।
रतिखेदसमुत्पन्ना निद्रासंज्ञाविपर्ययः" ॥ (६-४४)

मूल—यस्यां यक्षाः सितमणिमयान्येत्य हर्म्यस्थलानि
ज्योतिश्छाया[1]कुसुमरचितान्युत्तमस्त्रीसहायाः।
आसेवन्ते मधु [2]रतिफलं कल्पवृक्षप्रसूतम्
त्वद्गम्भीरध्वनिषु [3]शनकैः पुष्करेष्वाहतेषु ॥५॥

अलङ्कार—यहां, परिसंख्या है।

श्लोक—५

इस श्लोक में अलका के यक्षों का मदिरा पान वर्णन है—

अलका के महलों की स्फटिक-मणि की छत बड़ी स्वच्छ और चमकीली है। अतएव रातमें जब उनपर तारा गणों की छाया गिरती है, तब वे तारागणों के प्रतिबिम्ब से प्रतिबिम्बित होकर ऐसी शोभित हो जाती है, मानो फूल बिछे हुए हैं, वहां अपनी परम सुन्दरी स्त्रियों के साथ बैठे हुए और हे मेघ! तेरे समान गम्भीर गर्जना वाले पुष्कर-मृदङ्ग-आदि बाजों को सुनते हुए यक्षगण, कल्प वृक्षों से उत्पन्न होने वाले रति फल नामक मधुर मद्य का पान किया करते हैं।

---

१ कुसुम रचना, जे०व०। २ रतिरसम्, विल० भ० स० ह०।
३ मधुर, बे०।

पद्यानुवाद—बैठे हुए स्फटिक-मणिकी, यक्ष, हर्म्य-स्थली पे
होती है जो कुसुमित सदा बिम्ब-तारावली से।
पीते, कान्ता-युत, रति-फला-मद्य कल्पद्रुमों की
तेरे जैसी ध्वनि-मृदु जहां हो रहीं पुष्करों की॥५॥

यहां नृत्य, वाद्य, गीत और विलासवती स्त्रियां आदि मद्य पान के साधन कथन करके यक्षों का विलासीपन सूचन किया है। कुमारसम्भव में भी ऐसा ही वर्णन है—

"यत्र स्फटिकहर्म्येषु नक्तमापानभूमिषु।
ज्योतिषां प्रतिबिम्बानि प्राप्नुवन्त्युपहारताम्" ॥ (६-४२)

रतिफल—यह मद्य कामोद्दीपक और शीतल तथा मधुर कहा गया है। इसका लक्षण यह है—

"तालक्षीरसितामृतामलगुडोन्मत्ताक्षिकालाह्वया
दर्विन्द्रद्रुममोरटेक्षुकदलीगुग्लूमसूनैर्युतम्।
इत्थं चेन्मधुपुष्पभंग्युपचितं पुष्पद्रुमूलावृतम्
क्वाथेन स्मरदीपनं रतिफलाख्यं स्वादु शीतं मधु"॥
(मदिरार्णव)

अलङ्कार—यहां, तारागणों के प्रतिबिम्ब में पुष्पों की उत्प्रेक्षा है। अथवा तारागणों की छाया में रूपक भी प्रतीत होता है। अतः सन्देह-सङ्कर है।

मूल—मन्दाकिन्याः सलिलशिशिरैः सेव्यमाना मरुद्भि
मन्दाराणा[1]मनुतटरुहां छायया वारितोष्णाः।
अन्वेष्टव्यैः कनकसिकतामुष्टिनिक्षेपगूढैः
संक्रीडन्ते मणिभिरमरप्रार्थिता यत्र-कन्या ॥६॥

श्लोक—६,

इस श्लोक में श्रीमन्दाकिनी के तट पर खेलती हुई अलका की मुग्ध-यक्ष कुमारिकाओं का वर्णन है —

अलका में यक्षों की कन्या अत्यन्त रूपवती है, उनके लिये स्वर्ग के देवता भी अभिलाषा किया करते हैं, वे श्री मन्दाकिनी के जल-कणों से मिले अत्यन्त शीतल पवनों के स्पर्श सुख को लेती हुई, तथा तट पर लगे हुए मन्दार वृक्षों की छाया से अपने ताप को दूर करती हुई, सुवर्णमयी मदाकिनी के तट की-बालू [रेती] से भरी हुई मुट्ठियों में मणियों को छिपाकर फिर उनको खोजने का खेल किया करती है।

अन्वेष्टव्ये, इत्यादिः—यह लड़कियों के खेलने का पूर्व-कालिक गुप्त-मणि नामक खेल है, कहा है —

"रत्नादिभिर्वालुकादौ गुप्तैर्द्रष्टव्यकर्मभिः।
कुमारीभिः कृता क्रीडा नाम्ना गुप्तमणि' स्मृता" ॥
(शब्दार्णव)

---

[1] तट वन, जै०।

पद्यानुवाद—स्वर्गंगा के जल कण-मिला ले रहीं वायु जो कि
मन्दारों की तट-गत जहां छांह से ताप खोती—
खोजें हेमी-रज-रख मणी मुष्टि में, वे सु-रम्या—
क्रीडा-प्रेमी अमर-गण से प्रार्थिता यक्ष-कन्या ॥६॥

मन्दाकिनी—श्री गङ्गा जी तीनों लोकों में बहती है। स्वर्ग की गंगा जी का मन्दाकिनी नाम है, जैसा कि देवर्षि नारद जी ने भगवान् श्री कृष्ण की स्तुति में वर्णन किया है —

"यस्यामल दिवि यशः प्रथितं रसायां
भूमौ च ते भुवनमङ्गल दिग्वितानम्।
मन्दाकिनीति दिवि भोगवतीति चाधो
गङ्गेति चेह चरणाम्बु पुनाति विश्वम्" ॥
(श्रीमद्भाग० १०- ०-४४)

अर्थात् हे जगत् के मंगल करने वाले ! स्वर्ग, रसातल और पृथ्वी पर दिशाओं में फैला हुआ आपके चरण-प्रक्षालन का जल अर्थात् श्री गंगा रूप आपका निर्मल-यश, देवलोक में मन्दाकिनी, रसातल में भोगवती, और पृथ्वी पर श्री गंगा नाम से सारे विश्व को पवित्र कर रहा है।

मन्दार—यह वृक्ष मन्दाकिनी के तट पर बहुत होते हैं। यह और पारिजातक, सन्तान, कल्पवृक्ष, तथा हरिचन्दन, देव-वृक्ष हैं।

मूल-नीवीबन्धोच्छ्वसितशिथिलं यत्र [१]बिम्बाधराणां
[२]क्षौमं रागादनिभृतकरेष्वाक्षिपत्सु प्रियेषु।
अर्चिस्तुङ्गा[३]नभिमुखमपि प्राप्य रत्नप्रदीपान्
ह्रीमूढानां भवति [४]विफलप्रेरणा चूर्णमुष्टिः ॥७॥

श्लोक—७

इस श्लोक में रागोन्मत्त यक्ष-दम्पतियों की सम्भोग शृङ्गार चेष्टा का वर्णन है —

अलका के भवनों में तेल के दीपक नहीं जलाये जाते, किन्तु रत्नों के स्वयं प्रकाश मय दीपक होते हैं, जब, बिम्ब-फल जैसे रक्त अधरों वाली कामिनियों के अधोवस्त्र काम विवश स्वय ढीले हो जाते हैं, उन्हें काम के आवेश से प्रियतम चपल हाथों से खेंचते हैं, तब वे लज्जा से-सर्वाङ्ग प्रकट हो जाने के कारण-भोली होकर उन रत्न-मणि-मयी दीपकों को बुझाने के लिये उन पर कुंकुम आदि चूर्ण की मुट्ठी भर के फेंकती हैं, किन्तु रत्न के प्रकाश-मय दीपकों के पास वह [चूर्ण] पहुँच कर भी उनका फेंकना निष्फल हो जाता है-वे रत्न के दीपक भला कैसे बुझ सकते हैं अतएव उनको बुझाने की चेष्टा व्यर्थ हो जाती है।

नीवीबन्धोच्छ्वासित-स्त्रियों के कटि के नीचे पहनने के वस्त्र के बाधने को डोरी को नीवी और उसकी गाठ को ग्रंथी कहते हैं। प्रियजन के

---

१ यक्षाङ्गनाना, विल० सारो० सु० भ० स० रा० ह० क०। २ वास, विन० भ० स० रा० ह०। ३ अभिमुखगतान, विल० भ० स० रा० ह०। ४ विफलप्रेरण, सारो० म०, विफलप्रेरित, सु०।

अनुवाद—नीवी-ग्रन्थी-शिथिलित, जहां चीर बिम्बाधरों के—
खेंचे जाते चपल-कर से, काम-रागी-प्रियों के।
वे भोली ह्री-विवश, मणि के दीप चाहें बुझाना
हो जाता है विफल उनका चूर्ण-मुष्टी गिराना ॥७॥

स्पर्श-सुख से काम वश हुई स्त्रियों के अध वस्त्र की ग्रंथी स्वयं शिथिल हो जाती है, रति-रहस्य में काम विवश स्त्रियों का लक्षण कहा है —

'प्रच्छन्नौ व्रजतस्तनौ प्रकटतां श्रोणीतटे दृश्यते।
नीवी च स्खलति स्थितापि सुदृढ कामेङ्गित योषिताम्" ॥

रत्न प्रदीप—रत्नों के प्रकाश को बुझाने का मिथ्या प्रयत्न करना यह उनका भोलापन, अथवा उस प्रयत्न को मिथ्या जानकर भी इस प्रकार की चेष्टा से उत्तम स्त्री स्वभाव सिद्ध लज्जाभाव प्रकट करके उनका अपने प्रियों को उत्सुक करना सूचन किया गया है। इस प्रसंग का वर्णन माघ ने भी किया है —

"रतौ ह्रिया यत्र निशाम्य दीपान् जालागताभ्योऽधिगृहं गृहिण्यः।
बिभ्युर्बिडालेक्षणभीषणाभ्यो वैडूर्यकुड्येषु शशिद्युतिभ्यः" ॥
(शिशु० ३-४५)

अर्थात् क्रीडा के समय लज्जा-वश दीपक हटा देने के पश्चात् जहां—द्वारिका में—कुलाङ्गनायें, जालियों में से घर के भीतर आती हुई चांदनी के प्रकाश से—बिल्ली के भयङ्कर-नेत्रों के समान—चमकनेवाली दिवालों में जड़ी हुई वैदूर्य-मणियों से डरती थीं। सच तो यह है, कि महाकवि कालिदास के वर्णन के आगे यह—माघ की कल्पना नितान्त नीरस प्रतीत होती है।

अलङ्कार—यहां विशेषोक्ति है। चूर्ण-मुष्टी रूप कारण से दीपक बुझने रूप कार्य का अभाव कथन है।

मूल—नेत्रा नीताः सततगतिना [1]यद्विमानाग्रभूमी-
रालेख्यानां [2]सलिलकणिकादोषमुत्पाद्य सद्यः।
शङ्कास्पृष्टा इव जलमुचस्त्वा[3]दृशो जालमार्गै-
र्धूमोद्गारानुकृतिनिपुणा जर्जरा निष्पतन्ति ॥८॥

श्लोक— ८,

इस श्लोक में अलका के एक प्राकृतिक विचित्र दृश्य का वर्णन करता हुआ यक्ष,मेघ से उपहास करता है.—

हे मेघ! उस [अलका] के विमानों की [ऊंचे सतखने भवनों की] अग्रभूमिओं में [छत पर बनी हुई चन्द्र-शालाओं में] पवन के वेग से न कि अपनी इच्छानुसार तेरे जैसे बद्दल चले जाते हैं, वहां बनी हुई चित्रकारियों को, वे अपनी जल की बूंदों से बिगाड़ डालते हैं। फिर इस अनुचित कार्य से अपने को अपराधी समझ कर शङ्का युक्त से होके—भयभीत से होकर वे चतुरता से धूएँ के समान अपना रूप बनाके सिकुड़ कर जालियों के मार्ग में से निकल जाते हैं। अर्थात् उनका यह आचरण ठीक वैसा ही होता है जैसे किसी का सिखाया हुआ कोई पुरुष राज गृह में छुपा हुआ जाकर वहां कुछ अपराध

---

१ ये विमाना, विल०। २ स्वजलकणिका, जै० प्रा० सु०; सजलकणिका, बिल०, निजजलकणैं, ई०। ३ स्वादृशा यत्र जालैः, जै० विल० ई० सारो० व०; त्वादृशा यन्त्रजालै, विद्यु० सु०।

पद्यानुवाद—तेरे जैसे घन, भवन में वायुकी प्रेरणा से
जा, देपी हो सलिल-कण से चित्रकारी मिटाके।
धूआं रूपी बन, फिर जहां चातुरी हैं दिखाते
मानो होके सभय भज, वे जाल के मार्ग जाते॥८॥

करके भयभीत होकर अपने असली रूप को बदल कर किसी दूसरे मार्ग से भजता है।

नेत्रानीता।--वर्षा काल में बादल बहुत नीचे उतर आने से पर्वतों के ऊपर के ऊँचे भवनों के झरोखों में से वे धूएं के आकार में आर पार जाते आते रहते हैं, इस प्राकृतिक दृश्य के वर्णन में कवि ने यह सूचन किया है, कि बुद्धिमान् जन भी सङ्ग-दोष से अपने प्रेरक के वश में आकर अनुचित कार्य में प्रवृत्त होकर अपना अनिष्ट कर लेते हैं। कहा भी है—

"धीरोऽत्यन्तदयान्वितोऽपि सुगुणाचारान्वितो वाऽथवा
नीतिज्ञो विधिवाददेशिकपरो विद्याविवेकोऽथवा।
दुष्टानामतिपापभावितधियां सङ्ग सदा चेद्भजे-
त्तद्बुद्ध्या परिभावितो व्रजति तत्साम्यं क्रमेण स्फुटम्॥
(अध्यात्म रामायण सर्ग २ ८२)

यह उक्ति मन्थरा का प्रेरित की गई महारानी कैकेई के विषय में है।

अलङ्कार—यहां सापह्नव वस्तूत्प्रेक्षा है।

कविवर माघ ने भी इस वर्णन का अनुकरण दिखाया है—

कुतूहलेनेव जवादुपेत्य प्राकारभित्त्या सहसा निषिद्धः।
रसज्ञरोदीद् भृशमम्बुवर्षव्याजेन यस्या बहिरम्बुवाहः॥"
(३ ४१)

मूल– यत्रस्त्रीणां प्रियतम [1]भुजालिङ्गिनोच्छ्वासिताना
मङ्गग्लानिं सुरतजनितां तन्तुजालावलम्बाः।
त्वत्संरोधापगमविशदै[2]श्चन्द्रपादैर्निशीथे
व्यालुम्पन्तिस्फुटजललवस्यन्दिनश्चन्द्रकान्ताः॥६॥

अर्थात् द्वारका म प्रवेश करने को जाता हुआ मेघ, उसकी प्राकार भित्ती से रोका जाकर—बडी ऊंची दीवारों से टकराकर—बाहर खड़ा खड़ा अपनी गर्जना से चिल्ला चिल्ला कर और जल की बूंदों के बहाने से आंसू डालकर रोया करता है। इस वर्णन में वस्तुत कुछ काव्य-चमत्कृति नहीं प्रतीत होती है।

श्लोक—६,

इस-श्लोक म अलका की स्त्रियों की सम्भोग-निवृत्ति का वर्णन है—

अलका के भवनों के झरोखों के चिक के पड़दों की डोरियों में और पलङ्ग के वितान-मसहरी-में चन्द्रकान्त मणियां लटकी रहती हैं, उनपर आधीरात के समय, तेरा आवरण टूटजाने पर-बद्दलों की छाया रहित-चन्द्रमा के किरण गिरने पर, उनसे शीतल जल के कण टपकने लगते हैं, तब वे, प्रिय तमों की भुजाओं का अत्यन्त आलिङ्गन पाके थकी हुई रम णियों के सुरत-जनित श्रमको झट दूर कर देती हैं।

---

१ भुजो च्छ्वासितालिङ्गिताना,नं,जे०मिल० विनु० भुजोच्छ्वासितालिङ्गि नानां, सारो० मा० भ० स० रा० द०। २ इन्दुपादैर्निशीथे, मै०; प्रेरिताश्चन्द्र पादै विश्व० सु०; श्रोतिताश्चन्द्रपादै, व०; भ० रा०।

पद्यानुवाद—हैं जालों में ग्रथित मणियां चन्द्रकान्ता जहां, सो-
पा रात्री में विगत-घनकी चन्द्र-रश्मी-सुधा को-
चू के धीरें सलिल-कन से केलिकी श्रान्ति खोतीं-
कान्ताओं के प्रियतम-भुजा-गाढ़-आलिङ्गनों की ॥६॥

अलङ्कार—यहा चन्द्रकान्त मणि के गुण से सुरत-श्रान्ति मिटाने रूप गुण कथन है, अत उल्लास है।

चन्द्रकान्ता—एक जाति का मणि होती है। चन्द्रमा की किरणों का स्पर्श होने पर उनमें से जल टपकता है। ये अब नहीं देखी जाती हैं। परन्तु जब कि सूर्यकान्त, जिसको अंग्रेजी में 'मग्नेफायर' कहते हैं [एक प्रकार का आतसी शीशा] इस समय देखा जाता है, जिस पर सूर्य का घाम गिरने से उसके नीचे रक्खी हुई रुई में अग्नि प्रगट हो जाती है, तो उसी प्रकार चन्द्रकान्त का होना भी सभव है। जैसे अब खस की टट्टी आदि में ग्रीष्म का ताप दूर किया जाता है, उसी तरह प्राचीन काव्यों में चन्द्रकान्ता के उपयोग का वर्णन बहुधा देखा जाता है। यहा चन्द्रकान्त के वर्णन के साथ स्त्रियों के विहार के प्रसङ्ग की योजना करके कवि ने वर्णन को रस-पूर्ण बना दिया है। चन्द्रकान्त का वर्णन प्राय सभी काव्यों में है। माघ ने रैवतक पर्वत के वर्णन में लिखा है —

"सायं शशाङ्ककिरणाहतचन्द्रकान्त-
निष्यन्दिनीरनिकरेणकृताभिषेकाः।
अर्कोपलोल्लसितवन्हिभिरन्हितप्ता-
स्तीव्रमहाव्रतमिवात्र चरन्ति वप्राः" ॥ (४-५८)

अर्थात् रात्रि में चन्द्रमा की कान्ति से चुचाती हुई चन्द्रकान्त-मणियों

मूल— १अक्ष्य्यान्तर्भवननिधयः२ प्रत्यहं रक्तकण्ठै-
रुद्गायद्भिर्धनपतियशः किन्नरैर्यत्र सार्धम्।
वैभ्राजाख्यं विबुधवनितावारमुख्यासहायाः
-बद्धालापा बहिरुपवनं कामिनो निर्विशन्ति१०॥

की जल-धारा से सिञ्चित, और दिन में सूर्यकान्त-मणियों जनित ताप से सन्तप्त होकर, रैवतक-गिरि के वृक्ष मानो बड़ी उग्र तपस्या कर रहे हैं।

नैषध में श्रीहर्ष ने दमयन्ति के नजर-बाग में इनका वर्णन किया है देखिए —

" विधुकरपरिरम्भादात्मनिष्यन्दपूर्णैः
शशिदृषदुपक्लृप्तैरालवालैस्तरूणाम्।
विफलितजलसेकप्रक्रियागौरवेण
व्यरचि स हृतचित्तस्तत्र भैमीवनेन " ॥

अर्थात् दमयन्ति का नजर बाग, बड़ा ही मनहरण था, वहां चन्द्रमा की कान्ति के सबंध से स्रवीभूत होने वाली चन्द्रकान्त मणियों के बने हुए वृक्षों के जलाधार पात्रों [थमलों] ने जल सेचन के कार्य को व्यर्थ कर दिया था, अर्थात् चन्द्रकान्त के थमलों से स्वयं जल सींचने का कार्य सिद्ध हो जाता था, वहां मालियों को जल सींचने का परिश्रम न करना पड़ता था।

कुमारसम्भव में गन्धमादन की, चन्द्रकान्त मयी पर्वतीय भूमि का वर्णन है, वह भी देखिए —

---

१ अक्षय्यान्त, सारो०सु०। २ भुवन, सारा०। ३ बद्धापान, सारा०सु०।

पद्यानुवाद-पाके भारी क्षय-रहित वे द्रव्य-सम्पत्तियों को
गाने वाले धनद-यश के साथ ले किन्नरों को
प्रेमालापी, विबुध-गणिका-सङ्ग में; यक्ष-कामी
सेवें जावें उपवन जहां नित्य वैभ्राज नामी ॥१०॥

"चन्द्रपादजनितप्रवृत्तिभिश्चन्द्रकान्तजलबिन्दुभिर्गिरिः ।
मेखलातरुषु निद्रितानिमान् बोधयत्यसमये शिखण्डिनः ॥"
(८ ६७)

इसमें चन्द्रमा द्वारा टपकते हुए जलकणों से वर्षा के भ्रम से प्रावृट ऋतु के बिना ही सोते हुए मयूरों का जागृत होना, कहा गया है।

कविवर मङ्खक का अपूर्व-वर्णन भी देखिए —

"येऽश्रान्तशशभृत्सङ्गद्रवच्चन्द्राश्मशीकरैः ।
व्यनक्ति भगवत्पादपातानन्दाश्रुदुर्दिनम्" ॥
(श्रीकण्ठ चरित ४ ३५)

इसमें सर्वदा चन्द्र-शरीर के सङ्ग से द्रवित चन्द्रकान्त-मणियों के जल-कणों में, श्रीशिव-चरण-स्पर्श-जनित आनन्द में कैलास के अश्रुधाराओं की उत्प्रेक्षा की गई है।

---(०)---

श्लोक—१०,

इस श्लोक में अलका के यक्षों का उपवन-विहार वर्णन है —

अलका में अखण्ड द्रव्य सम्पत्तियों वाले यथेच्छा व्यय से द्रव्य का भोग करने वाले कामी जन, देवताओं की गणिका-

मूल— [1]गत्युत्कम्पादलकपतितैर्यत्र मन्दारपुष्पैः
पत्रच्छेदैः[2] कनककमलैः[3] कर्णविभ्रंशिभिश्च[4]।
मुक्ताजालैः[5] स्तनपरिसरच्छिन्नसूत्रैश्च[6] हारै-
र्नैशो मार्गः सवितुरुदये सूच्यते कामिनीनाम्॥११॥

अप्सराओं के सङ्ग प्रेमालाप करते हुए, धनेश्वर [कुबेर] के यश को गान करने वाले किन्नरों को साथ ले के वैभ्राज नाम के उपवन में जाके आनन्द विहार किया करते हैं।

वैभ्राज—यह चैत्ररथ नामक उपवन का दूसरा नाम है, इसकी रक्षा के लिये विभ्राज नाम का एक यक्ष रक्खा हुआ है, जिससे इसका दूसरा नाम वैभ्राज भी है—"विभ्राजेन गणेन्द्रेण ज्ञात वैभ्राजमाख्यया"। (शम्भु-रहस्य)।

अलङ्कार—यहा उदात्त है।

श्लोक—११

इस श्लोक में अलका की अभिसारिकाओं का वर्णन है—

और वहां (अलका में) अभिसारिका नायिकायें रात्रि में अपने प्रियतमों से मिलने को जाया करती हैं। वेगगति में

---

१ गत्योत्कम्पात्, ई०। २ क्रमच्छेदैः, विल, चित्र०, क्रमच्छेदैः, पत्रच्छेद सारो० सु०। ३ नलिनैः, विल०। ४ विभ्रमिभिश्च, सारो० सु०। ५ मुक्ता लग्न, सारो०। ६ स्तनपरिचित, जे०; मुक्ता नन्नस्तनपरिमलैरिन्धन, सारो० म०।

पद्यानुवाद—पाके कम्पा चरल-गति, से जो गिरे कर्ण-कञ्ज—
छूटे हैं जो अलक पर से पुष्प-मन्दार-पुञ्ज—
मुक्ता जाल, स्तन-लग तथा हार जो टूट जाते
कान्ताओं का निशि-पथ जहां प्रात में वे बताते †॥११॥

जाती हुई उन अभिसारिकाओं के कम्पायमान होके अलकों में से मन्दार [कल्पवृक्ष] के फूल मार्ग में गिर जाते हैं। कानों पर से सुवर्ण कमलों के पत्र-खंड, छूट पड़ते हैं केश-पाश में से मोतियों के जाल निकल पड़ते हैं और विशाल-स्तन मंडल से टकरा कर हार टूटकर बिखर जाते हैं। ये प्रातःकाल में उन–[अभिसारिकाओं] का रात्रि में जाने का मार्ग-सूचन किया करते हैं—जहां प्रभात में कमल खंड आदि मार्गों में गिरे हुए देख पड़ते हैं, उनसे जाना जाता है, कि इन रास्तों से रात्रि में अभिसारिकायें गई है।

यहां इस वर्णन से अलका की रमणियों की प्रिय-समागम में उत्सुकता और तन्मयता सूचन की गई है। जैसा कि ऋतु संहार में हमारे कवि ने वर्षा-कालिक नदियों के अभिसार-वर्णन में कहा है —

" निपातयन्त्यः परितस्तटद्रुमान्
प्रवृद्धवेगैः सलिलैरनिर्मलैः।
स्त्रियः प्रकामा इव जातविभ्रमाः
प्रयान्ति नद्यस्त्वरितं पयोनिधिम् "॥

अलङ्कार—यहां कार्य-निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है। अभिसारिकाओं की उत्सुकता रूप कारण प्रस्तुत है, उसके शीघ्र-गमन से कर्ण-पुष्प गिरना आदि कार्य, कथन किये गये हैं।

† पाठान्तर—हैं बताते।

मूल—मत्वा देवं धनपतिसखं यत्र साक्षादसन्तं
प्रायश्चापं न वहति भयान् मन्मथः षट्पदज्यम्।
[1]सभ्रूभङ्गप्रहितनयनैः [2]कामिलक्ष्येष्वमोघै-
स्तस्यारम्भश्[3]चतुरवनिताविभ्रमैरेवसिद्धः ॥ १२॥

श्लोक—१२

इस श्लोक में अलका की युवतियों के विलास-पूर्ण विश्वमोहक कटाक्षों का वर्णन है —

काम रिपु भगवान् श्री शङ्कर, कुबेर के परममित्र हैं-अत एव वे अलका में साक्षात् [पञ्चकृत्योपयुक्त पञ्चब्रह्मात्मक वपु से, न कि प्रतिमारूप से] निवास करते हैं, यह जानकर कामदेव वहां [अलिका में] उनके भय से अपना भृङ्गों की प्रत्यञ्चा का धनुष नहीं धारण करता—क्योंकि वह शिवजी के कोप से एकबार भस्मावशेष हो चुका है, तब से वह उनसे बड़ा भयभीत रहता है। पर कामदेव के बाणों की अलका में गम्य न होने पर भी उसके कार्य में वहां कुछ रुकावट पैदा नहीं होती। बात यह है कि कामीजनों को निशाने बनाकर सुचतुर युवतियों के भ्रू विलास युक्त नेत्रों से चलाये हुए अव्यर्थ [कभी न चूकने वाले] कटाक्ष रूपी बाणों से ही वहां कामदेव के धनुष का कार्य सिद्ध हो जाता है—कामदेव भी अपने धनुष से बाण छोड़ कर कामीजनों को घायल ही तो किया करता है, यही कार्य वहां वनिताओं के तादृश कटाक्षों से हो जाता है, फिर उसके कार्य में त्रुटि ही क्या रह गई।

---

१ सभ्रूभङ्ग। ज० मु० महि०। २ कामिलक्ष्ये, विमु०। ३ चतुर, विश० भ० रा० द० इ०।

पद्यानुवाद—साक्षात् शम्भू धनपति-सखा का जहां वास जान
पाके भीती भ्रमर-गुण का चाप लेता न काम।
भ्रू भङ्गी से दृग-शर चला, लक्ष्य कामी बनाती
ऐसे उनका चतुर-युवती कार्य पूरा चलाती*॥१२॥

साक्षाद्वसन्तं—भगवान रुद्र कुबेर के मित्र हैं, इसीसे अलका के बगीचों में वे निवास करते हैं, जैसा कि पूर्व मेघ में "बाह्योद्यानस्थित-हरशिरश्चन्द्रिकाधौतहर्म्या" कहा गया है।

विभ्रमैरेवसिद्धः—यहां कटाक्षों में काम बाण के समान शक्ति कथन की है। यही बात श्रीहर्ष ने दमयन्ति के कटाक्ष-वर्णन में दिखाई है —
"नेयं मृदुः कौसुमचापयष्टिः स्मरस्य मुष्टिग्रहणार्हमध्या।
तनोति नः श्रीमदपाङ्गमुक्तां मोहाय या दृष्टिशरौघवृष्टिः"॥
(नै० ७-२८)

अर्थ-(राजा नल की उक्ति है) मुट्ठी में ग्रहण करने योग्य कटि वाली-मुट्ठी में आ सके ऐसी सूक्ष्म कटि वाली-यह दमयन्ती, बड़ी कोमल कामदेव के पुष्प-मयी धनुष की कमान है [धनुष की कमान भी मुट्ठी ही में ग्रहण की जाती है] जो कि मेरे चित्त को काम के वश करने के लिये अपने शोभायमान कटाक्षों से छोड़ी हुई कमल सदृश दृष्टि रूप बाणावली की वर्षा करती है, अर्थात् कामदेव, हम जैसों को वश में करने के लिये अपनी पुष्पबाणावली की वर्षा करता है, तथैव यह भी अपने कटाक्ष रूप बाणों से हमको वश कर रही है। वस्तुतः श्रीहर्ष का भी यह वर्णन बड़ा चित्ताकर्षक है।

षट्पदज्या—कामदेव के फूलों के धनुष के भौंरों की प्रत्यञ्चा [डोरी] है, देखिए कुमार सम्भव में भस्मावशेष कामदेव के प्रति रति के विलाप में इसका कैसा हृदयङ्गम वर्णन है —

---

* पाठान्तर—निभाती।

मूल—वासश्चित्रं मधु नयनयोर्विभ्रमादेशदक्षं
पुष्पोद्भेदं सहकिसलयैर्भूषणानां [१]विकल्पान्।
लाक्षारागं चरणकमलन्यासयोग्यं च [२]यस्या
मेकः सूते सकलमबलामण्डनं कल्पवृक्षः ॥१३॥

"अलिपङ्क्तिरनेकशस्त्वया गुणकृत्ये धनुषो नियोजिता।
विरुतैः करुणस्वनैरियं गुरुशोकामनुरोदितीव माम्"॥
(४ १५)

अर्थात् तेरे द्वारा अनेक बार धनुष की प्रत्यञ्चा बनाने में लगाई गया यह भौंरों की पात मुझे अत्यन्त शोकाकुल रोती देख कर मानो मेरे साथ अपने करुणा-पूरित गुञ्जार शब्दों से रो रही है।

अलङ्कार—यहां, अलका की स्त्रियों के कटाक्षों का अभ्यन्तर से कथन होने से पर्यायोक्ति है, अथवा पूर्वार्द्ध की हेतूत्प्रेक्षा का, उत्तरार्द्ध में कहा हुआ पञ्चम प्रतीप अङ्ग होने से अङ्गाङ्गीभाव सङ्कर है।

श्लोक—१३,

इस श्लोक में अलका की कामिनियों को सब प्रकार के श्रृङ्गारों का कल्प वृक्ष से अनायास प्राप्त होना वर्णन है—

अलका में एक और भी विचित्रता है, वहां चित्र विचित्र वस्त्रों को, नेत्रों को विभ्रमों की शिक्षा देने में कुशल ऐसे मद्य को अर्थात् नेत्रों को विलासी बनाने वाली मदिरा को, नव विकसित पुष्प और पत्रों को, अनेक प्रकार के भूषणों को तथा चरण कमलों में लगाने योग्य लाक्षा राग को और अङ्गरागादि स्त्रियों की सौन्दर्य-सम्पादक सभी वस्तुओं को एक कल्पवृक्ष ही दे देता है–उनके लाने के लिये कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता, केवल इच्छा मात्र ही से कल्पवृक्ष से मिल जाती हैं।

पद्यानुवाद—चेतोहरी- मधु, नयन के विभ्रमों का विकासी
लाक्षा भी जो पद-कमलकी राग-शोभा बढ़ाती।
नाना जाती पट, दल जहाँ पुष्प, आभूषणों को
देदेता है सुर-तरु सभी कामिनी-मण्डनों को॥१२॥

मधु—मदिरा पान से नत्रों में हावभाव उत्पन्न होते हैं इससे यहां उसको भी भूषण रूप माना गया है। देखिए कुमार सम्भव में भस्मावशेष कामदेव के प्रति रति के शोकोद्गार —

"नयनान्यरुणानि घूर्णयन् वचनानि स्खलयन्पदे पदे।
असति त्वयि वारुणीमदः प्रमदानामधुना विडम्बना॥
(४—१२)

अर्थात् नेत्रों को रक्त करके घुमाने वाला और वचनों को पद पद पर स्खलन करने वाला मदिरा का मद [नशा] अब, तुम्हारे बिना स्त्री-जनों के लिये केवल विडम्बना मात्र हो गया है, कुछ भी प्रमोद जनक नहीं रहा।

लाक्षा—सुरख रंग का विलेपन, जिसको स्त्रियां, हाथ और पैरों को रक्त करने के लिये लगाया करती हैं, जैसा कि इस समय मेंहदी और महावर आदि लगाने का स्त्रियों में रिवाज है।

सकलमबलामण्डन—स्त्रियों के सौन्दर्य को बढ़ाने वाले मुख्य चार प्रकार के भूषण हैं, जैसा कि रत्नाकर में कहा है —

"कचधार्यं देहधार्यं परिधेयं विलेपनम्।
चतुर्धा भूषणं प्राहुः स्त्रीणामन्यच्च दैशिकम्"॥

इन सब की यहां कल्पवृक्ष से ही प्राप्ति कथन की गई है।

मू०—तत्रागारं[1] धनपतिगृहानुत्तरेणास्मदीयं[2]
दूराल्लक्ष्यं सुरपतिधनुश्चारुणा[3] तोरणेन ।
यस्योपान्ते[4] कृतकतनयः कान्तया वर्धितो मे
हस्तप्राप्यस्तबकनमितो बालमन्दारवृक्षः ॥१४॥

यहां तक अलका का वर्णन है। इसमें अत्यन्त रमणीय स्थानसम्पत्ति, तदनुकूल शोभन समय, अवस्था, कामोद्दीपक जल स्थल-विहार का उल्लास, रतिश्रम-शमनोपाय चातुर्य तथा लोकोत्तर कामिनी रूप, वेश, लावण्य इत्यादि मे अलका की अपूर्व सम्भोग सम्पत्ति प्रदर्शित की गई है। इस प्रकार रसात्मक प्रसङ्ग के साथ सृष्टि सौन्दर्य का मिश्रण करके कवि ने अलका का यह ऐसा मन हरण वर्णन किया है, कि जिसकी तुलना योग्य दूसरा वर्णन, संस्कृत-साहित्य में भी विरले ही मिलते हैं।

श्लोक—१४,

अब यहां से मेघ को यक्ष अपने घर के चिन्हों को बताता हुआ उसका वर्णन प्रारम्भ करता है —

वहीं—अर्थात् मैं जिसका वर्णन कर रहा हूं, उसी विचित्र अलका पुरी में, धनद [कुबेर] के महल से उत्तर की तरफ मेरा घर है—वह घर, जिसके इन्द्र धनुष के समान शोभनीय [बड़े ऊंचे अनेक रङ्ग की मणियों से जटित] महराबदार

---

१ अत्रागार, विल० । २ गृहाद्, व० त्रिन० म० रा० द० सारो० महि० सु० । ३ स्वदमरधनु, चै०, तदमरधनु, व० महि० । ४ यस्यायान, जै० त्रिव० सारो० महि० सु० विद्यु० । पूर्वर्धित कान्तया, ज०

पद्यानुवाद—मेरा वासस्थल, धनद से है वहां उत्तरीय
दीखे शोभा सुर-धनुष सी दूर से तोरणीय।
मत्कान्ता से सुत-सम बढ़ा पास मन्दार उसके-
है छोटा सा नमित, मिलते हाथ से पुष्प जिसके॥१४॥

दरवाजे दूर ही से दिखाई पड़ते हैं, उसके निकट ही—जिसे मेरी कान्ता ने कृत्रिम पुत्र की भांति पोषण किया है—एक छोटा सा मन्दार-वृक्ष है, वह पुष्पों के गुच्छों के भार से इतना झुका हुआ है, कि उसके पुष्प गुच्छ सहज ही हाथ से ले लिये जा सकते हैं—उसके फूल लेने में कुछ भी परिश्रम नहीं होता।

इसमें कालिदास ने महाकवि भास के—इस वर्णन के भाव का रूपान्तर से व्यक्त किया मालूम होता है।

'आपृच्छ पुत्रकृतकान् हरिणान् द्रुमांश्च'

(प्रतिमा ना ५-११)

कृतक तनय—कुमार संभव में भी श्रीपार्वती जी का लताद्रुमों पर ऐसा ही वात्सल्य भाव सूचन किया है—

"अतन्द्रिता सा स्वयमेव वृक्षकान् घटस्तनप्रस्रवणैर्व्यवर्धत।
गुहोऽपि येषां प्रथमाप्तजन्मना न पुत्रवात्सल्यमपाकरिष्यति"॥

(५-१४)

अर्थात् पार्वतीजी ने आलस्य को छोड़कर घट रूपी स्तनों के बहे हुए पय से—पुत्र के समान—वृक्षों को बढ़ाया। प्रथम उत्पन्न होने के कारण जिन

मूल—वापी चास्मिन्मरकतशिलाबद्धसोपानमार्गा
हैमैश्छन्ना[1] विकचकमलैः[2] स्निग्धवैदूर्यनालैः[3]।
यस्यास्तोये कृतवसतयो मानसं संनिकृष्टं
नाध्यासन्ति[4] व्यपगतशुचस्त्वामपि प्रेक्ष्य[5] हंसाः॥
१५॥

वृक्षों के पुत्र-विषयक-प्रेम को स्वामिकार्तिकेय भी दूर न कर सकेंगे। रघुवंश क ११-३६ म भी इसकी कुछ।समानता है।

बालमन्दार—यहा बाल शब्द से छोटा होके भी पुष्पित होना कथन करके उसके पालन विषय में यक्ष ने अपनी स्त्री का अत्यन्त प्रेम और चातुर्य सूचन किया है।

श्लोक-१५,

इस श्लोक में यक्ष अपने घर में बनी हुई बावडी का वर्णन करता है—

इस—पूर्वोक्त चिन्ह वाले मेरे घर में एक बावडी भी-ग्रीष्म काल में जल क्रीड़ा के लिये—बनाई हुई है, जिसकी मरकत [हरे रंग के पन्ने की] मणियों की शिलाओं से बनी हुई सोपान [सीढ़ी] हैं, और जिसमें वैदूर्य [लहसुनिया मणि

---

१ स्फोता, जै० विद्यु०; स्यूता, व०। २ कमलमुकुले, विल० म० ह० व० विद्यु०। ३ दीर्घ वैदुर्य,जै० विद्यु०;स्निग्धवैदूर्य,मल्लि० व० सु०। ४ न ध्यास्यति जै० 'विल० शारो० मल्लि० व० सु० विद्यु० भ० रा० ह० क०। ५ प्राप्य, जै०।

पद्यानुवाद—है वापी भी मरकत-मयी रत्न-सोपान वाली
छाये हेमोत्पल खिल जहां नाल-वैदूर्य-शाली।
होके वासी जल पर वहां हंस हैं हर्ष पाते
वर्षा में भी अति-निकट के मानसी को न जाते ॥१५॥

और बिल्ली की आँख के जैसे रंग की होती है] की सुन्दर नाल वाले सुवर्ण के कमल सर्वदा छाये रहते हैं। उसके जलकी निर्मलता और मधुरता का इसी से अनुमान हो सकता है कि उस पर निवास करने वाले हंस, तुझे देख कर भी-वर्षा-काल आया जान कर भी-शोक-रहित होकर, अत्यन्त समीप के मानससरोवर को याद नहीं करते-वर्षा-काल के गदले जल से क्लेश मानकर अन्यत्र से हंस मानस-सरोवर को चले जाते हे पर उसका जल वर्षा समय में भी स्वादिष्ट और शीतल बना रहने से मानस सरोवर को वे भूल जाते हे मन से भी कभी याद नहीं करते।

अलङ्कार—यहां विशेषोक्ति है। हंसों के मानस सरोवर के गमन रूप-कार्य का, वर्षा काल का आगमन रूप कारण होने पर भी उसका न होना कथन है।

मूल— [1]तस्यास्तीरे [2]रचितशिखरः पेशलैरिन्द्रनीलैः
क्रीडाशैलः कनककदली[3]वेष्टनप्रेक्षणीयः।
मद्गेहिन्याः प्रिय इति सखे चेतसा कातरेण
प्रेक्ष्योपान्तस्फुरिततडितं[4] त्वां तमेव स्मरामि १६॥

श्लोक—१६,

इस श्लोक में बावडी के तट पर बनाये हुए क्रीडा-पर्वत का वर्णन है—

उस-बावड़ी-के किनारे पर सुनहरी केलों की हार वथ पीले रंग की वृक्षावली से घिरा हुआ, नीलमणि के शिखर वाला-श्याम रंग का देखने योग्य-बडा ही रमणीय-मेरा क्रीडा-शैल है अर्थात् मनो-विनोद के लिये बनवाया हुआ कृत्रिम पर्वत है। हे मित्र! वह मेरी प्रिया का अत्यन्त प्रिय है, अतएव आस पास चमकती हुई [पीले रंग की] बिजली के साथ तुझ [श्याम वर्ण वाले] को देख कर मुझे याद आता है, मेरा धैर्य छूटता है—उसका भी दृश्य तेरे ही समान शोभा युक्त होने से उसका स्मरण हो आने पर उसके अङ्ग मुग्ध एकान्त के अनेक विहार आदि याद आ जाने से चित्त बडा कातर होता है।

---

१ यस्या, विल० म० रा० ह० व०। २ पिहित, जै० त्रिपु०; निचित व०। ३ वेष्टन, विज० ह० मद्वि० ४ स्फुटित, जै०।

पद्यानुवाद—वापी ही के निकट कदली हैम घेरा हुआ वो
मेरा क्रीडा-गिरि-शिखर है, रत्न नीले जडा जो।
हा! प्यारे! मैं, सहित-बिजली देखता हूं तुझे तो
है प्यारी का प्रिय अति, अतः याद आता मुझे सो॥१६॥

क्रीडाशैल—सूक्ष्म, सूक्ष्म जल की लहरियों के टकराने का मधुर-शब्द सुनने को, सुनहरी कमलों के पराग से सुगन्धित शीतल वायु का सेवन करने को, जल के समीप में मधुर-कूजित मधु-मदोन्मत्त हंस, सारस और भ्रमर आदि के स्वच्छन्द विहार देखने को और उनके शब्द सुनने के विनोद का अनुभव करने को क्रीडाशैल की रचना बावड़ी के समीप कथन की गई है। श्री हर्ष ने भी क्रीडाशैल का वर्णन किया है—

"वैदर्भीकेलिशैले मरकतशिखरादुत्थितैरंशुदर्भैः"।
(नै० २-१०५)

चेतसा कातरेण—इस पद से स-हर्ष खेद सूचन किया है, अनुवाद में इसके लिये 'हा!' शब्द का प्रयोग है। इसका लक्षण यह है—

" वस्तूनामनुभूतानां तुल्यश्रवणदर्शनात्।
श्रवणात्कीर्तनाद्वापि सानन्दाभोर्यथा भवेत्" ॥ (रसाकर)

अलङ्कार—यहां स्मरण है।

मूल—रक्ताशोकश्चलकिसलयः केसरश्चात्रकान्तः[१]
प्रत्यासन्नौ कुरवकवृतेर्माधवीमण्डपस्य।
एकः सख्यास्तव सहमया वामपादाभिलाषी
काङ्क्षत्यन्यो[२] वदनमदिरां[३] दोहदच्छद्मनास्याः[४] ॥१७॥

श्लोक—१७,

यक्ष, अपने घर के ओर भी मनोहर-चिह्न बतलाता है—

वहां-क्रीडा पर्वत के समीप मेरे भवन की पुष्पवाटिका में-कुरबक नाम के वृक्षों की बाड [मेंड] से चारों ओर घिरा हुआ एक माधवी लता का मण्डप है उस [कुञ्ज] के पास एक हिलते हुए सुरख पत्तों वाला अशोक है और एक मनोरमणीय बकुल-मोरछलो-का वृक्ष है। दोहद—ऋतु के बिना ही फूलने-के बहाने तेरी सखी अर्थात् मेरी प्रिया से उन दोनों में से एक [अशोक] तो उसके वाम-पाद को स्पर्श करने की मेरा ही जैसे अभिलाषा कर रहा है और दूसरा [बकुल] उसके मुख की मदिरा का उत्कण्ठित है—जिस तरह में अपनी प्रिया के मुख की मदिरा का और चरण के स्पर्श का अभिलाषी हो रहा हूं, उसी तरह पुष्प का काल पाकर शोभायमान होने की इच्छा से बकुल उसके मुख के मधु के लिये तरस रहा है, और अशोक उसका बाँयाँ पैर छूने को।

यहा मूल में "रक्त" और "कान्त" शब्द औचित्य प्रदर्शक हैं।

चलकिसलयः—इस कथन से चरण स्पर्श के लिये हाथ जोड़ना व्यञ्जित किया गया है।

---

१ केसरस्तत्र, विल० म० स० ६०। २ वाञ्छत्यन्य, महि०। ३ मदिरा, जै०। ४ दोहद, जै०।

पद्यानुवाद—वासन्ती के कुरवक-घिरे-कुञ्ज के पास जो कि—
देखेगा तू सु-वकुल, चलित्-रक्त-पत्री-अशोक।
चाहें दोनों मम-सहित वे दोहदों के बहाने
मत्कान्ता से मुख-मधु तथा पाद बाँयाँ छुआने ॥१७॥

वामपादाभिलाषी—वाम -पाद स्त्रियों का काम-स्थान होने से ऐसा कथन है।

माधवी—वसन्तमें होने वाला लता का नाम है। कुछ लोग इसको चमेली मानते हैं, किन्तु चमेली की तो मुख्य ऋतु शरद है। वसन्त में तो पात चमेली होती है जिसके वासन्ती, अतिमुक्त, पुण्ड्रक भी नाम हैं।

दोहद—वृक्षादिकों को असमयमें फलित और पुष्पित करने वाली वस्तु को कहते हैं —

"तरुगुल्मलतादीनामकाले कुशलैः कृतम्।
पुष्पाद्युत्पादकं द्रव्यं दोहदं स्यात्तु तत्क्रिया"। (शब्दार्णव)

अशोक-वृक्ष युवती के पाद-ताडन से और वकुल उसके मुख की मदिरा के कुल्ले से ऋतु बिना ही फूल जाता है। देखिए—

"पादाहतः प्रमदया विकसत्यशोकः।
शोकं जहाति वकुलो मुखसीधुसिक्तः"।
(महिमसिंह गणि टीका)

किन, किन वृक्षों को क्या, क्या दोहद आवश्यक है, सो कहा है —

"स्त्रीणां स्पर्शात् प्रियङ्गुर्विकसति वकुलः सीधुगण्डूषसेकात्
पादाघातादशोकस्तिलककुरवकौ वीक्षणालिङ्गनाभ्याम्।

मूल—तन्मध्ये च [1]स्फटिकफलका काञ्चनीवासयष्टि-
मूले बद्धा[2] मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः।
तालैः [3]शिञ्जावलयसुभगैर्नर्तितः[4] कान्तया मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद्वः ॥१८॥

"मन्दारो नर्मवाक्यात्पटुमृदुहसनाच्चम्पको वक्त्रवातात्।
चूतो गीतान्नमेरुर्विकसति च पुरो नर्तनात् कर्णिकारः"
(सञ्जीवनी-टीका)

अ-काल में पुष्प-पत्र उत्पन्न करने के लिये ही दोहद का उपाय निकाला गया है। प्राय काव्यान्तरों में भी इसका वर्णन है, देखिए—

"अकुसुमितमशोकं दोहदापेक्षया वा
प्रणिहितशिरसं वा कान्तमार्द्रापराधम्"।
(मालविका अ०)

"मदकलितकामिनीगण्डूषसीधुसेकपुलकितवकुलेषु।
अशोकताडनारणितनूपुरसहस्रमुखरेषु" ॥
(कादम्बरी)

रघुवंश और कुमारसंभव में भी इसका वर्णन है।

अलङ्कार—यहां सापन्हव-उत्प्रेक्षा और सहोक्ति इन अलङ्कारों की संसृष्टि है।

---

१ स्फुटिक, सारो० मदि० मु०। २ नद्धा, व०। ३ शिञ्जद्वलय, विश० व० स० इ० क० मदि० व० विमु० मु०। ४ कान्तया नर्तितः, जै० विला०।

YAKSHA'S ABODE. यक्षगृह.

हिन्दी मेघदूत विमर्श, उत्तर मेघ, श्लोक-१८

Lakshmi Art Bombay, No 5

पद्यानुवाद–दोनों वृक्षों-गत स्फटिक की एक चौकी सुहाती
जिस्की हैमी-छड़ मणि-जड़ी बांस की सी जनाती।
बैठे तेरा सुहृद उसपे साँझ में आ कलापी
मेरी प्यारी वलय-रव दे ताल, जिस्को नचाती ॥१८॥

श्लोक—१८

इस-श्लोक में यक्ष, अपनी प्रिया के पाले हुए मयूर का वर्णन करता है—

उन दोनों—अशोक और मोरछली के वृक्षों-के बीच में स्फटिक मणिकी एक चौकी है। जिसके नीचे हरी-पन्ने की-मणियों से जड़ा हुआ सुवर्ण का स्तम्भ लगा है, जोकि नवीन हरे बांस की छड़ जैसा जान पड़ता है। उस-चौकी-पर संध्या के समय तेरा मित्र नीलकण्ठ [मयूर] आकर बैठता है, जिसको मेरी कान्ता अपने शब्दायमान कङ्कण से हथेली की मनोहर ताल दे दे कर नचाया करती है।

ताले.—इस वर्णन से अपनी स्त्री का चातुर्य्य और विलास सूचन किया है। इस भाव को भवभूति ने बड़ी हृदय-हारी रचना में दिखाया है—

" भ्रमिषु कृतपुटान्तर्मण्डलावृत्ति चक्षुः
प्रचलितचतुरभ्रूताण्डवैर्मण्डयन्त्या ।
करकिसलयतालैर्मुग्धया नर्त्यमानं
सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि "

(उत्तर रा० ३-१८)

अलङ्कार—यहा उदात्त है।

मूल—एभिः साधो [1]हृदयनिहितैर्लक्षणैर्लक्षयेथा[2]
द्वारोपान्ते लिखितवपुषौ शङ्खपद्मौ च दृष्ट्वा।
क्षामच्छायं[3] भवनमधुना मद्वियोगेन नूनं
सूर्यापाये न खलु कमलं पुष्यति स्वामभिख्याम्[4]॥१६॥

श्लोक—१६,

यक्ष, अपने मन्दिर का मनोहर वर्णन करके अब दृढ़ता के लिये उसका और भी एक असाधारण चिन्ह बतलाता है—

हे चतुर! इन-पूर्वोक्त सब-चिन्हों को अच्छी तरह याद रखकर और दरवाजे पर-दोनों तरफ-शङ्ख तथा पद्म लिखे हुए देख कर तू मेरा भवन पहिचान लेना, पर वह भवन अब मेरे बिना अवश्य ही शोभा-हीन हो रहा होगा—पति परायणा पातिव्रत्य में स्थित मेरी प्रिया अब मेरे वियोग में कुछ भी उत्सव न मनाती होगी, इससे जो-घर-निरन्तर आनन्द-सुधा-स्रोत की लहरियों से मुखरित रहता था, वही अब नितान्त स्तब्धता में परिणित हो जाने से तादृश शोभा-सम्पन्न न रहा होगा। कमल यद्यपि बहुत सुन्दर होता है पर सूर्य के बिना अपनी शोभा कभी नहीं बढ़ा सकता-ठीक यही दशा मेरे घर की भी इस समय हो रही होगी।

---

१ मनसि, मल्लि०। २ लक्षणीयं, व०। ३ मन्दच्छाय, त्रिल० म० रा० १० क०। ४ अभिधा। मल्लि० सारो० सु०।

पद्यानुवाद—ऐही सारे स्मरण रख के चिह्न, मेरा सु-सद्म
जानेगा तू लख फिर वहां द्वार पे शङ्ख-पद्म।
होगा कान्ती-मलिन अब तो मित्र! मेरे विहीन
निश्चै, पाता दिन-कर विना कञ्ज, शोभा कभी न १६

अलङ्कार—यहां वैधर्म्य से प्रतिवस्तूपमा है। पूर्ण सरस्वती ने विद्युल्लता-टीका में और मल्लिनाथ ने भी दृष्टान्तालङ्कार माना है। किन्तु यहां उपमेय और उपमान वाक्य में जुदा-साधारण-धर्म कथन नहीं, एक ही धर्म, शब्द-भेद से कथन है। अर्थात् भवन को 'क्षामच्छाय' अर्थात् क्षीण-शोभा वाला कहा गया है, और कमल को अभिख्या अर्थात् शोभा, प्राप्त न होना कथन किया है, यहां केवल शब्द भेद है। और दृष्टान्त में तो बिम्ब प्रतिबिम्ब-भाव होता है। एतावता इस अल्पज्ञ के विचार में यहां दृष्टान्त अलङ्कार नहीं हो सकता।

शङ्खपद्मौ—घर के दरवाजे पर शङ्ख और पद्म का चित्र लिखना बड़ा शुभ है। धन के नौ निधि हैं, उनमें के ये दो निधि हैं। भगवान् की आवरण-पूजा में पञ्चम आवरण में इनकी पूजा भी होती है, इनके नाम ये हैं:—

"महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ।
मुकुन्दकुन्दनीलश्च खर्वश्च निधयो नव"॥

मूल—गत्वा सद्यः कलभतनुतां शीघ्रसम्पातहेतोः[1]
क्रीडाशैले प्रथमकथिते रम्यसानौ निषण्णः
अर्हस्यन्तर्भवनपतितां कर्तुमल्पाल्पभासं
खद्योतालीविलसितनिभं विद्युदुन्मेषदृष्टिम्॥२०॥

यहां तक, यक्ष के भवन का वर्णन है। महाकवि कालिदास ने जिस प्रकार प्राकृतिक दृश्यों की रमणीयता को अपने शब्द-चित्रों द्वारा प्रत्यक्ष अङ्कित करके दिखाई है, उसी प्रकार अपने इस अत्यन्त मनोहर काल्पनिक दृश्य को भी प्रत्यक्ष के समान शब्द चित्र में अङ्कित करके दिखा दिया है।

श्लोक—२०,

अब, यक्ष, अपने भवन के चिह्न बताके उसके पीछे का कर्तव्य, मेघ को कहता है —

यहां शीघ्र प्रवेश करने के लिये-हाथी के बच्चे के समान-छोटा रूप बनाके—क्योंकि तेरे इस बड़े रूप से कदाचित् वह डर जायगी—तू मेरे प्रथम बताये हुए उसी क्रीडा शैल के सुन्दर शिखर पर बैठ जाना [इतने लंबे मार्ग चलने से थक

१ तत्परित्राणहेतोः विल० म० रा० ह०।

पद्यानुवाद—होके छोटा कलभ-सम तू शीघ्र होना प्रवेश
मेरे क्रीडा-गिरि-पर उसी बैठके मृदु देश।
धीरे धीरे घन! भवन में विज्जु-दृष्टि-प्रकाश
खद्योतालो सदृश, करना योग्य है अल्प-भास॥२०॥

जाने के कारण वहां कुछ विश्राम लेकर] तू जुगनू [पटबी-जनों] की पंक्ति के समान-बहुत मंदी मंदी बिजली रूपी अपनी दृष्टि डालना अर्थात् जिस प्रकार किसी को तलास करने के लिये ऊंचे बैठकर धीरे धीरे अत्यन्त दीर्घ दृष्टि डाली जाती है, उसी प्रकार उस महल में मेरी प्राणेश्वरी किस स्थान पर है? सो देखने के लिये उस क्रीडा-पर्वत के शिखर पर बैठा हुआ तू अपनी मंदी सी बिजली चमकाना।

कलभतनुतां—मेघ का रूप अत्यन्त बड़ा होने से उसी रूप से वहां प्रवेश असम्भव है, इसलिये भी कलभ [हाथी के बच्चे] के समान छोटा रूप बनाने को कहा है।

अल्पाल्पभास—अत्यन्त मन्द-प्रकाश करने के कथन का भाव यह है, कि स्त्रियां स्वभाव ही से कोमल चित्त होती हैं, फिर मेरी पत्नी तो वियोग से अत्यन्त भीरु हो रही होगी, सो अचानक जोर की बिजली के प्रकाश से डरकर उसका मूर्छित हो जाना सम्भव है।

अलङ्कार—यहां रूपक और उपमा अलङ्कारों की संसृष्टि है।

मूल—तन्वी श्यामा [१]शिखरदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्येक्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये[२] सृष्टिराद्येवधातुः[३] ॥२१

श्लोक—२१,

अब पूर्वोक्त सूक्ष्म दृष्टि से देखते हुए वहां मेघ के दृष्टिगत होने वाली स्त्री रत्नरूप, अपनी कान्ता का यक्ष, दो श्लोकों में वर्णन करता है :—

वहां—कृशाङ्गी, श्यामा, शिखर के समान दांतों वाली, पके बिम्ब फल के समान होठों वाली, पतली-कटि वाली, डरी हुई हरिणी के जैसे नेत्रोंवाली, गहरी-नाभि वाली, स्थूल नितम्ब भार के कारण मन्द गति से चलने वाली, और विशाल स्तन भार से कुछ झुकी हुई—उसके रूप लावण्य के विषय में अधिक न कहके यही कहना योग्य होगा कि— विधाता ने मानो स्त्रियों की सृष्टि में प्रथम उसी की रचना की है, ऐसी रमणी जो तेरे दृष्टि गत हो [इसके आगे का वाक्य अगले श्लोक में है, उसमें अन्वय लगेगा।]

तन्वी—कुछ कृश अङ्गों वाली क्यों कि अत्यन्त स्थूल और अति कृश होना अशुभ चिन्ह है। अथवा "तन्वी च नवयौवना"।

---

१ शिखरिदशना, न० जै०, सारो० प्रा०ई०। २ विषया, जै०। ३ आद्यैव, विल० महि०।

पद्यानुवाद—श्यामा, क्षामा-कटि, मृगि-दृगी-निम्न-आवर्त-नाभी
है बिम्बोष्ठी शिखरदशना कोमलाङ्गी कृशा भी ।
श्रोणीभारालस-गति तथा है कुचों से झुकी सी
कान्ताओं में प्रथम-रचना जो वहां है विधी की ॥२१

श्यामा—तरुणवयस्का, कहा है —"अप्रसूता भवेच्छ्यामा" । अथवा शीतकाल में उष्ण और ग्रीष्म में शीतल, कुन्दन के समान वर्ण वाली स्त्री को भी श्यामा कहते हैं —

" शीते सुखोष्णसर्वाङ्गी ग्रीष्मे या सुखशीतला ।
तप्तकाञ्चनवर्णाभा सा स्त्री श्यामेति कथ्यते " ॥

शिखरदशना—पकी-अनार के बीज जैसी कान्ति वाले माणिक्य-मणि-को शिखर कहते हैं, उसके समान दांतो वाली । यह लक्षण, स्त्री की भाग्य- शालीनता सूचक और उसके पतिका आयुष्य बढाने वाला सामुद्रिक में माना गया है —

" स्निग्धा समानरूपाः सुपंक्तयः शिखरिणः श्लिष्टाः ।
दन्ता भवन्ति यासां तासां पादे जगत्सर्वम् " ॥

" ताम्बूलरसरक्तेऽपि स्फुटभासः समोदयाः ।
दन्ताः शिखरिणो यस्याः दीर्घं जीवति तत्प्रियः " ॥

पक्वबिम्बाधरोष्ठी—पके बिम्ब-फल के समान रक्त होठ वाली । यह लक्षण स्त्रियों को धन पुत्र, आदि सुख देने वाला है —

मूल-तां [१]जानीथाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं
दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम्।
[२]गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु [३]बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां[४] पद्मिनींवान्यरूपाम्२२

"ओष्ठौ च निर्व्रणौ स्निग्धौ नातिस्थूलौ न रोमशौ।
रक्तौ बिम्बफलाकारौ धनपुत्रसुखप्रदौ"॥

मध्येक्षामा—कृशोदरी। सिंह के समान पतली कटि वाली। देखिये! नैषध में दमयन्ती की कटि की कैसी सूक्ष्मता वर्णन है —

"मग्ना सुधायां किमु तन्मुखेन्दो—
र्लग्नास्थिता तत्कुचयोः किमन्तः।
चिरेण तन्मध्यममुष्य तस्य
दृष्टिः कृशीयः स्खलनाद्भिया नु" (७-५)

चकितहरिणीप्रेक्षणा—डरी हुई हरिणी जैसा विशाल, चञ्चल, और श्यामल भोली दृष्टिवाला। पद्मिनी के लक्षण के प्रस्ताव में रतिरहस्य में कहा है —

"चकितमृगदृशाभे प्रान्तरक्ते च नेत्रे"॥

निम्ननाभि —गम्भीर नाभिवाली। यह लक्षण कामसूत्र में काम की अधिकता सूचक माना है।

---

१ जानीया जै० सु० निल० भ० स० रा० ह० क० महि० सारो० व० विद्यु०। २ गाढोत्कण्ठा, जै० व० विद्यु०। ३ बाला जाता, ज० विद्यु०। ४ मथिता पद्मिनीवान्यरूपा, जै० विद्यु०।

पद्यानुवाद—उसको ही तू भमित-नयनी अन्य मत्प्राण जान
है वो मेरे रहित इकली चक्रवाकी समान।
उत्कण्ठा में दिन यह बड़े काट मुर्झा गई सी—
हुई होगी शिशिर-नलिनी-तुल्य अन्याकृती सी॥२२

श्रोणीभारादलसगमना:—कटि के पीछे के भाग को श्रोणी या नितम्ब कहते हैं। स्थूल नितम्बों के भार को न सह सकने से विलास-पूर्वक मन्द, मन्द गमन करने वाली।

स्तोकनम्रास्तनाभ्यां.—कुचों के भार से कुछ झुकी हुई कमर वाला, अर्थात् कटि पतला होने से विशाल स्तन-मण्डल के बोझ से झुकी हुई कटि वाला। यह भी पद्मिनी का लक्षण है।

सृष्टिराद्येव धातु.—विधाता की प्रथम रचना की हुई। इससे उसका सर्वोत्तम सौन्दर्य सूचन किया है, क्योंकि प्रथमनिर्माण-में शिल्पकारी जन अत्यन्त प्रयत्न और अपनी सम्पूर्ण शिल्प-कला का उपयोग किया करते हैं। श्रीहर्ष ने भी इस भाव को लेकर लिखा है—

"पुराकृतिस्त्रैणमिमां विधातुमभूद्विधातुः खलु हस्तलेखः।"
(नै० ७-१५)

अलङ्कार—यहां लुप्तोपमा और उत्प्रेक्षा अलङ्कार की संसृष्टी है।

श्लोक—२२,

अब, यक्ष कहता है, कि पिछले श्लोक में वर्णन की हुई उस रमणी को ही तू मेरी हृदयेश्वरी जानना:—

उसी प्रमित वचना को—पिछले श्लोक में कहे हुए लक्षणों वाली और मेरे वियोग में कम बोलने वाली को—तू मेरा दूसरा प्राण समझ लेना—उसे ही प्राण के समान प्रिय मेरी हृदयेश्वरी तू जान लेना। मैं सर्वदा उसके साथ रहने वाला—उसका साथी अब दूर आपड़ा हूं अतएव—वह चकवे से बिछुड़ी हुई चकवी के समान—इकली, उत्कण्ठित होकर मेरे विरह में बड़े भारी प्रतीत होने वाले इन दिनों को बिताती हुई, मैं सोचता हूं कि—शीत की सताई हुई कमलिनी के समान—रूपान्तर प्राप्त हो गई होगी—उसके सुन्दर लावण्य-मय शरीर की अत्युज्वल कान्ति क्षीण होकर अब उसका पूर्वोक्त अलौकिक रूप न रहा होगा।'

चक्रवाकीमिवैकाम्—इस में चक्रवाकी की समानता से, सर्वदा साथ रहने वाले-स्वप्न में भी दूर न होने वाले यक्ष ने यौवन के प्रारम्भ में अपना वियोग हो जाने से उसकी अत्यन्त विकलता दिखलाई है।

गाढोत्कण्ठां—उत्कण्ठा का लक्षण यह है —

रागेष्वलब्धविषये वेदना महती तु या।
संशोषणी तु गात्राणां तामुत्कण्ठां विदुर्बुधाः"।

शिशिरमथितां:—शीत-पीड़ित कमलिनी की उपमा से कवि ने यक्ष-स्त्री की सुकुमारता और दुःख की असहनता सूचन की है। देखिए! रघुवंश के अज-विलाप में यही उपमा कैसे करुणागर्भित भाव से दी गई है—

"अथवा मृदुवस्तु हिंसितुं मृदुनैवारभते प्रजान्तकः।
हिमसेकविपत्तिरत्र मे नलिनी पूर्वनिदर्शनं मता"।

इसका अनुवाद—करता मृदु-वस्तु नष्ट भी मृदुही से जगतान्त-काल भी।
हिम से हत पद्मिनी हुई यह दृष्टान्त समक्ष, पूर्व भी॥

रामायण-रसायन-परायण कवीन्द्र कालिदास ने इस श्लोक में

वाल्मीकीय के एक अत्यन्त हृदयाकर्षक पद्य का भाव प्रदर्शित किया है, वह पद्य यह है—

" हिमहतनलिनीव नष्टशोभा व्यसनपरंपरया निपीड्यमाना।
सहचररहितेव चक्रवाकी जनकसुता कृपणां दशां प्रपन्ना" ॥
(सुन्दर काण्ड, १६-३०)

अर्थात् शीत की मारी हुई कमलिनी की भांति शोभाहीन—अपने सहचर के बिना चकवाकी के समान—इकली, भगवान् श्री रामचन्द्र के वियोग दुःख से अत्यन्त-सन्तापित होकर भगवती जनक-नन्दिनी बड़ी ही शोचनीय दशा को प्राप्त हो गई।

देखिए ! इस वर्णन का भाव कैसा ठीक यहां लिया गया है। महाकवि कालिदास के काव्यों के बहुत से वर्णनों के भाव, प्रायः अनेक कवियों ने अपने अपने ग्रथों को सु-शोभित करने के लिये, वा अपनी प्रतिभा चातुरी का महत्व प्रकट करने के लिये व्यक्त किये हैं, किन्तु उन्होंने प्रायः उन भावों को कालिदास की तरह वर्णन न करके अपनी तरफ से परिवर्तन करके—कुछ अदल बदल कर के—दिखाये हैं। पर ऐसा करने में न तो वे उन भावों के यथार्थ वर्णन करने में ही कृत-कार्य हुए और न वे काव्य-मार्मिकों की दृष्टि में अपनी भावापहरण-लीला के छिपाने में। यह बात इस-ग्रंथ में दिये हुए काव्यान्तरों के अवतरणों को भी ध्यान-पूर्वक देखने से स्पष्ट मालूम हो सकती है। किन्तु महाकवि कालिदास ने महर्षि वाल्मीकजी के वर्णन किए हुए भावों का अनुकरण बड़ी योग्यता से किया है, जिस से आदि कवि के वर्णन के भावों में कुछ भी त्रुटि नहीं हुई है। इस बात का उदाहरण एक ऊपर वाला पद्य भी है, इन्होंने प्रायः इसी प्रकार श्रीराम-चरित्र में के आदि कवि के वर्णित भावों का अनुसरण किया है।

अलङ्कार—यहां पूर्णोपमा है।

मूल—नूनं तस्याः, प्रबलरुदितोच्छूननेत्रं[1] प्रियाया[2]
निश्वासानामशिशिरतया भिन्नवर्णाधरोष्ठम्।
हस्तन्यस्तं[3] मुखमसकलव्यक्ति लम्बालकत्वा-
दिन्दोर्दैन्यं त्वदनुसरणक्लिष्टकान्तेर्बिभर्ति ॥२३॥

श्लोक—२३,

अब यक्ष, अपनी प्रिया की, पिछले श्लोक में कही हुई अन्याकृति को सोचता हुआ, उसका स्पष्ट वर्णन करता है—

अर्थ—मेरे वियोग में दिन रात रोते रोते-उसके नेत्रों पर अवश्य ही सूजन आ गई होगी, तत्ते और लंबे-विरह के-श्वासों को लेते लेते उसके अधरोष्ठ भी-रक्तता और स्निग्धता को छोड़कर-रूखे हो गये होंगे-अतएव कंघीचोटी किये बिना-लटकती हुई लंबी केशों की लटों के कारण अच्छी तरह न दिखाई पड़ने वाला मेरी प्रिया का हाथ पर रक्खा हुआ वैसा [सूजे नेत्र और रूखे होठों वाला] मुख, तुझ से पीछा किये गये—बद्दलों से घिरे हुए—कान्ति-हीन चन्द्रमा की दीनता को धारण किये होगा—जिस तरह चलायमान पतले मेघ के आवरण से निस्तेज चन्द्रमा मलीन मालूम होता है, कभी कुछ अंश छिप जाता है, कभी खुला हो जाता है, धुंधला

---

१ वत्सून नेत्रं, सारो० । २ बहुना, जै० व० । ३ हस्तेन्यस्त, त्रिल० ।

पद्यानुवाद–†निश्चै उसके बहु-रुदन से नेत्र सूजा हुआ हो !
निश्वासों की अति-तपन से होठ सूखा; प्रिया का–
छूटे केशों-गत मुख-ढका ,हाथ पे वो धरा सो–
धारै होगा जलधर-घिरे-चन्द्र की दीनता को ॥२३॥

दिखाई पड़ता है। उसी तरह उसका मुख भी लटकती हुई अलकों के कारण कान्ति-क्षीण और मलीन दीख पड़ता होगा।

हस्तन्यस्तं—मुख को हाथ पर रख लेना यह चिन्ता-सूचक है। देखिये किसी कवि ने कैसा अच्छा कहा है :—

"अधिकरतलतल्पं कल्पितस्वापकेली
परिमिलननिमीलत्पाण्डिमा गण्डपाली।
सुतनु कथय कस्य व्यञ्जयत्यञ्जसैव
स्मरनरपतिलीलायौवराज्याभिषेकम्" ॥

इस वर्णन में श्री रामचरित्र के :—

"बाष्पाम्बुपरिपूर्णेन कृष्णवक्त्राक्षिपक्ष्मणा।
वदनेनाप्रसन्नेन निश्वसन्ती पुनः पुनः ॥

---

† पाठान्तर—निश्चै उसके अति रुदन से नेत्र सूजा हुआ जो–
हुए रूखे-अधर युत भी तप्त निश्वास पा वो–
लंबे केशों गत मुख, धरा हाथ पे होयगा सो–
धारें तेरे अनुगत अहो! चन्द्र की दीनता को॥

मू०—आलोके ते निपतति [1]पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं [2]विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा [3]मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि [4]रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥२४

प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम्" ॥
(वा० रा० ५० १५। ३६-३७)

इस पद्य का भाव लिया गया है।

अलङ्कार—यहाँ निदर्शना है। मुख को मेघावृत-चन्द्रमा की समता धारण करना कथन है।

श्लोक—२४,

... तीन श्लोकों में विरहिणी-स्त्री के साधारण लक्षणों की, अपनी ... करता हुआ यक्ष कहता है:—

... देव पूजा में तत्पर—मेरे शीघ्र समाग... लगी हुई ...

... शिव-पार्वती ...

से नि ...

पद्यानुवाद—होगी तेरे नयन-पथ वो देव-देवी मनाती
किम्वा मेरी विरहित-छवी भाव ही से बनाती।
या होगी यों मधुर-वयनी पूछती सारिका को
"थी भर्ता की प्रिय सुरसिके! याद आते न या वो"॥२४॥

दशा में अत्यन्त दुर्बल मुझे अनुमान करके इस अवस्था।का]
मेरा चित्र बनाने का प्रयत्न करती हुई, अथवा—वियोग-जनित
अश्रु प्रवाह के कारण चित्र लेखन का कार्य अशक्त हो जाने
से उसे छोड दूसरे विनोद में प्रवृत्त होकर—पिंजरे में बैठी
मधुर भाषिणी मेना को "हे रसिके! तू स्वामी को बडी
प्यारी थी, कहतो अब कभी तुझे वे याद भी आते हैं"? इस
प्रकार पूछती हुई, तेरे दृष्टि-गत होगी।

मत्सादृश्य—वियोग में प्रिय-जन का चित्र-दर्शन, एक तरह का
मन बहलाना है। इससे चित्र-दर्शन की अभिलाषा होना वियोगियों का
सहजस्वभाव है। विक्रमोर्वशीय में भी देखिये —

"न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां।
मम नयनयोरुद्धाष्पत्वं सखे न भविष्यति"॥

मूल—आलोके ते निपतति [1]पुरा सा बलिव्याकुला वा
मत्सादृश्यं [2]विरहतनु वा भावगम्यं लिखन्ती।
पृच्छन्ती वा [3]मधुरवचनां सारिकां पञ्जरस्थां
कच्चिद्भर्तुः स्मरसि [4]रसिके त्वं हि तस्य प्रियेति॥२४॥

प्रभां नक्षत्रराजस्य कालमेघैरिवावृताम्" ॥
(वा० रा० ; ० १५ । ३६-३७)

इस पद्य का भाव लिया गया है।

अलङ्कार—यहाँ निदर्शना है। मुख को मेघाछन्न-चन्द्रमा की समता को धारण करना कथन है।

श्लोक—२४,

अब, तीन श्लोकों में विरहिणी-स्त्री के साधारण लक्षणों की, अपनी प्रिया में तर्कना करता हुआ यक्ष कहता है :—

वह, या तो देव पूजा में तत्पर—मेरे शीघ्र समागम की कामना से श्री शिव-पार्वती की पूजा में लगी हुई—या मेरी विरहित दशा की कृशता पाई हुई प्रतिमा अनुमान करके [अर्थात् अपने ऊपर मेरा अत्यन्त प्रेम, वह जानती है इससे वियोग·

---

१ पुरे, विल०। २ विरहतनुता, मिल०। ३ मधुरवचन, जै०। ४ निभृते। मिल० व० स० रा० ह०।

पद्यानुवाद—होगी तेरे नयन-पथ वो देव-देवी मनाती
किम्वा मेरी विरहित-छवी भाव ही से बनाती।
या होगी यों मधुर-नयनी पूछती सारिका को
"थी भर्ता की प्रिय सुरसिके! याद आते न या वो"॥२४॥

दशा में अत्यन्त दुर्बल मुझे अनुमान करके इस अवस्था का] मेरा चित्र बनाने का प्रयत्न करती हुई, अथवा—वियोग-जनित अश्रु-प्रवाह के कारण चित्र-लेखन का कार्य अशक्त हो जाने से उसे छोड़ दूसरे विनोद में प्रवृत्त होकर—पिंजरे में बैठी मधुर भाषिणी मैना को "हे रसिके! तू स्वामी को बड़ी प्यारी थी, कहतो अब कभी तुझे वे याद भी आते हैं"? इस प्रकार पूछती हुई, तेरे दृष्टि-गत होगी।

मत्सादृश्यं—वियोग में प्रिय-जन का चित्र-दर्शन, एक तरह का मन बहलाना है। इसीसे चित्र-दर्शन की अभिलाषा होना वियोगियों का सहजस्वभाव है। विक्रमोर्वशीय में भी देखिये—

"न च सुवदनामालेख्येऽपि प्रियामसमाप्य तां।
मम नयनयोरुद्वाष्पत्वं सखे न भविष्यति"॥

मूल—उत्सङ्गे वा मलिनवसने सौम्य निक्षिप्य वीणां
मद्गोत्राङ्कं विरचितपदं गेयमुद्गातुकामा
[1]तन्त्रीमार्द्रां नयनसलिलैः सारयित्वा कथंचि-
द्भूयो भूयः [2]स्वयमपि कृतां मूर्च्छनां विस्मरन्ती॥२५॥

श्लोक—२५,

अथवा, मलिन-वसना [भूमि-शयन से या शीघ्र न पलटने से मैले हुए वस्त्रों को पहिने] अपनी गोद में वीणा रख कर मेरा नाम आवे ऐसे पद-किसी राग के रचना किये हुए-उच्च स्वर से गान करने की इच्छा से-मेरे वियोग के आंसुओं से-भीजी हुई वीणा को बड़ी कठिनता से पोंछ कर अपनी की हुई भी—नहीं भूलने योग्य भी—आरम्भ की हुई मूर्च्छना को भूलती हुई (तेरे नयन गोचर होगी) [इस श्लोक का सम्बन्ध पिछले श्लोक के मूल के- "आलोके ते निपततिपुरा" और अनुवाद के "होगी तेरे नयन-पथ वो" इस वाक्य में है।]

मलिन वसना—इस पद से उसका पातिव्रत्य धर्म सूचन किया है, धर्मशास्त्र में लिखा है —

---

१ तन्त्रीरार्द्रां, विल० स० हा० रा० जै० प० त्रिवु। २ स्वय मधिकृताम्, जै० विवु०।

Forgetfulness on account of separation

विरहानुभूतविस्मृति

हिन्दी मेघदूत विमर्श, उत्तर मेघ, श्लोक-२५

पद्यानुवाद—या बैठी वो मलिन-वसना अङ्क में वीण लीये-
मत्सम्बन्धी-पद रच नये चाहती गान कीये।
भीजी-वीणा दृग-सलिल से, कष्ट से पोंछती या
की हूई भी फिर, फिर वही मूर्च्छना भूलती हा॥२५

"आर्तार्ते मुदिता हृष्टे प्रोषिते मलिना कृशा।
मृते म्रियेत या पत्यौ सा स्त्री ज्ञेया पतिव्रता" ॥

अर्थात् जो स्त्री पति के दुःख में दुखी, आनन्द में आनन्दित, विदेश जाने पर मलिन और कृश, तथा मरने पर मर जाती है, वह पतिव्रता है।

वीणा—विरहीजनों को वीणा भी चित्त को सान्त्वना देने का एक उपाय है, महाकवि शूद्रक ने कहा है:

"उत्कण्ठितस्य हृदयानुगुणा वयस्या
सङ्केतके चिरयति प्रवरो विनोदः।
संस्थापना प्रियतमा विरहातुराणां
रक्तस्य रागपरिवृद्धिकरःप्रमोदः ॥
[मृच्छकटक ना० ३-३]

सारयित्वा—इस पद का अर्थ, यहां मल्लिनाथ के मत का लिखा गया है। वल्लभ, सुमति, सारो० आदि में इसका अर्थ 'वीणा के तारों को खेंच कर ठीक करके' ऐसा लिखा है।

मूर्च्छना—स्वरों के चढ़ाने उतारने के क्रम को कहते हैं:—

" स्वराणां स्थापना सान्ता मूर्च्छना सप्त सप्तहि " ॥
(सङ्गीत रत्नाकर)

विस्मरन्ती—बारम्बार आरम्भ की हुई मूर्च्छना को भूल जाना, यह मूर्च्छा की दशा सूचन की गई है, कहा है:—

मूल—शेषान्मासान् [1]विरहदिवसस्थापितस्यावधेर्वा
विन्यस्यन्ती भुवि गणनया देहलीदत्तपुष्पैः[2]।
[3]सम्भोगं वा हृदय[4]निहितारम्भमास्वादयन्ती[5]
प्रायेणैते [6]रमणविरहेष्वङ्गनानां विनोदाः॥२६॥

"वियोगायोगयोरिष्टगुणानां कीर्तनात्स्मृते ।
साक्षात्कारोऽथवा मूर्च्छा दशधा जायते तथा॥
(रस रत्नाकर)

इस श्लोक में कवि ने सुख वैभव में रही हुई, कोमल हृदया यक्षाङ्गना की वियोग अवस्था का बहुत ही हृदय भेदक चित्र अङ्कित किया है।

श्लोक—२६,

अथवा, मेरे वियोग की एक वर्ष की अवधि [मियाद] के कितने दिन बीत चुके और अब कितने दिन बाकी है ? यह गणना करने के लिये देहली पर चढाये हुए फूलों को उठा उठा कर पृथ्वी पर रखती हुई, या मेरे संयोग की अभिलाषा में—ध्यानस्तिमित लोचन होकर—मेरे आलिङ्गनादि व्यापारों का रसानुभव करती हुई वह (तेरे दृष्टि गोचर होगी) उसके

---

१ गमनदिवसे, त्रिख० सारो० मद्दि०सु० व० म० रा० ह० क०। विरह दिवन, सु०। २ मुक्तपुष्पै, जै० सारो० विल० म० रा० ह० क० सु० मद्दि०। ३ सयोग, जै० सु० त्रिल० सारो० म० रा० ह० फ०, मत्सयागं, मद्दि० विसु०। ४ रचिता जै०। ५ सादयन्ती मद्दि० त्रिल० म० रा० ह० सु० सारो०। ६ रमणविरहे हि. विख० म० ह०।

पद्यानुवाद— किम्वा वाकी-दिवस गिनने मत् वियोगावधी के-
पृथ्वी में ले कुसुम रखती वे धरे देहली के।
या मेरे ही रमण-सुख को ध्यान से ले रही, वो
प्रायः क्रीडा प्रिय-विरह में हैं स्त्रियों की यही तो ॥२६

विषय में ये कल्पनायें करने का कारण यह है कि प्रायः वियोगिनी स्त्रियां इसी तरह के विनोदों से अपने मन को पति-वियोग के कठिन दिनों में बहलाया करती हैं [पिछले २४ की संख्या के श्लोक से इस श्लोक के तीसरे चरण तक वाक्य पूरा हुआ है, इससे यहांतक एक ही अन्वय है]

देहलीदत्तपुष्पैः—मङ्गल-कामना के लिये स्त्रियां कुसुम, पुष्पादि से अपने घर के दरवाजे की देहली की पूजन किया करती हैं। यह रिवाज बहुधा दक्षिण में अब भी प्रचलित है। इन्हीं फूलों का देहली पर से उठाके पृथ्वी पर रखना यहां कहा गया है।

संभोगंआस्वादयन्ती—इस से, वियोगिनी की सङ्कल्पावस्था कथन की गई है। कहा है—

"सङ्कल्पो नाथविषये मनोरथउदाहृतः"।

अलङ्कार—यहां चौथे पाद में अर्थान्तर न्यास है, इससे, दूर-स्थित यक्ष को अपनी प्रिया की वर्णन की हुई चेष्टाओं का किस तरह मालूम हुआ ? इस शङ्का का परिहार किया गया है।

मूल—सव्यापारामहनि न तथा [१]पीडयेन्मद्वियोगः[२]
शङ्के रात्रौ गुरुतरशुचं निर्विनोदां सखं
मत्सन्देशैः सुखयितुमलं[३] पश्य साध्वीं निशीथे
तामुन्निद्रामवनिशयनां [४]सौधवातायनस्थः ॥२७॥

श्लोक—२७,

हे मित्र! दिन में तो इस प्रकार देव पूजा, चित्र लेखन आदि कार्यों में लगी हुई रहने से तेरी सखी को मेरे वियोग की पीडा वैसी अधिक न सताती होगी, किन्तु मैं सोचता हूं, कि नीरव रजनी में–एकान्त पाकर तादृश विनोद के बिना—उसे अत्यन्त दुःख होता होगा–अतएव, आधी रात के समय निद्रा हीन पृथ्वी पर लेटी हुई उस पतिव्रता को मेरा सन्देश देकर सुखी करने के लिये मेरे महल की खिडकी में बैठ कर तू देखना।

साध्वीं, अवनिशयनां—इन पदों से उस–प्रोषित पतिका–की पातिव्रत्य धर्म में निष्ठता दिखाकर, आधी रात में स्त्री जाति, फिर प्रिया गिनी से मिलने में कुछ शङ्का न करने के लिये मेघ को सूचन किया गया है।

१खेदयत व०। २ विप्रयोग, विन० ई० सारो० सु० मदि० व० विद्यु०। ३ सुखयतुमत, जै० १०। ४ शयना सद्मवातायनस्थ, जै० मदि०, शयना राग्रवातायनस्थ, सारो० सु० व० विद्यु० म० रा०।

पद्यानुवाद—होती होंगी दिवस न तथा, कार्य में यों, व्यथायें
देती होंगी दुख अति उसे निर्विनोदी-निशायें।
सन्देशे से मुदित करने बैठ-यारी सती को
छोड़े-निद्रा भुवि-पर पड़ी देखना यामिनी को॥२७॥

शङ्केरात्री—वियोगियों को रात्रि बड़ी भारी कठिनता से कटती है, देखिए! विक्रमोर्वशीय में राजा पुरुरव अपनी वियोगावस्था का ऐसा ही वर्णन करता है—

"कार्यान्तरितोत्कण्ठदिनं मयानीतमनतिकृच्छ्रेण।
अविनोददीर्घयामा कथं नु रात्रिर्गमयितव्या"।

इसीसे यहां रात्रि में सन्देश सुना के उसको धैर्य देने को कहा गया है।

सुखयितुमल—वियोग में धैर्य देके सुखी करना, मित्र, दूत आदि का धर्म है। मेघ के साथ मित्र और दूत दोनों सम्बन्ध मान कर यक्ष ने उससे अपनी स्त्री को सुखी करने को कहा है।

उन्निद्रां—इस पद से निद्रा का त्याग कहके वियोगिनी की जागरावस्था सूचित है।

मूल—आधिक्षामां विरहशयने [१]संनिषण्णैकपार्श्वाम्
प्राचीमूले तनुमिव कलामात्रशेषां हिमांशोः
नीता रात्रिः [२]क्षणइव मया सार्धमिच्छारतैर्या।
तामेवोष्णैर्विरह[३]महतीमश्रुभिर्यापयन्तीम् ॥२८॥

श्लोक २८,

अब चार श्लोकों में यक्ष अपनी वियोगिनी स्त्री की पूर्वकथित अवस्था का विशेषता से वर्णन करता है —

विरह की मानसिक-पीड़ा से दुबली होकर वियोगावस्था के योग्य वृक्षों के पत्ते आदि पृथ्वी पर डालकर एक करवट से पड़ी हुई वह तुझे—पूर्व दिशा की जड़ में प्रति दिन क्षीण होकर कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा की बची हुई एक मात्र कलाके समान—दीख पड़ेगी । जिस रात्रि को वह मेरे साथ-संयोग समय में-यथेच्छ भोग विलासों से एक क्षण के समान विताती थी, उसी [रात्रि] को अब मेरे वियोग में बड़ी भारी युग के समान बड़ी कठिनता से तप्त-अश्रुधाराओं को बहाती हुई काटती होगी।

---

१ सन्निकीर्णैक, विल० म० रा०इ० व० । २ क्षणमिव, जै० मडि० विल० सारो० सु० भ० रा० इ० । ३ जनितै, विल० सारो० मडि० ; पतितै, सु० ; यापनेष्य व० ।

पद्यानुवाद—लेटी शय्या कर विरह की एक पार्श्वा कृशा को
प्राची में ज्यों कृश-शुचि-लगी एक चान्द्री-कला हो ।
जाती थी जो क्षण सम निशा, साथ मेरे, सुखी, सो-
तत्ते आंसू-युत विरह के दुःख से काटती को ॥२८॥

इस श्लोक का और इसके आगे के और तीन श्लोकों का, पिछले श्लोक के मूल के 'पश्य' और अनुवाद के 'देखना तू' में अन्वय लगाना चाहिये ।

कलामात्रशेषां—इस वाक्य में शेष रही हुई एक चन्द्रकला की उपमा से उसके अङ्गों का स्वाभाविक कोमलत्व और अत्यन्त कृशता पाकर भी शोभायमान लावण्य सूचन किया है । तथा वियोगिनी की कार्श्यावस्था सूचन की है। इस में भी भगवती जनक नंदिनी की विरहावस्था-वर्णन के :—

" ददर्श शुक्लपक्षादौ चन्द्ररेखामिवामलाम् " ।

(वा० रा० सु० १५-१६)

इस पद्यार्द्ध का भाव है । मालती की विरहावस्था के वर्णन में कविवर भवभूति ने भी इसी वर्णन का अनुसरण किया है—

" निकामं क्षामाङ्गी सरसकदलीगर्भसुभगा
कलाशेषामूर्तिः शशिन इव नेत्रोत्सवकरी " ।

(मालती मा० २)

नीता रात्रिः क्षण इव—संयोगी दम्पत्तियों की रात्रि क्षणमात्र-बहुत जल्दी-व्यतीत हो जाती है, देखिए ! संयोगावस्था में क्षण-मात्र प्रतीत होने वाली रात्रि का भवभूति ने कैसा चित्ताकर्षक वर्णन किया है—

मूल—पादानिन्दोरमृतशिशिराञ्जालमार्गप्रविष्टा-
न्पूर्वप्रीत्या गतमभिमुखं[1] संनिवृत्तं तथैव[2]।
चक्षुः[3] खेदात्सलिलगुरुभिः पक्ष्मभिश्छादयन्तीं
साभ्रेऽह्नीव स्थलकमलिनीं न प्रबुद्धां न सुप्ताम्॥२६॥

"किमपि किमपि मन्दं मन्दमासक्तियोगा—
दविरलितकपोलं जल्पतोरक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भाव्यापृतैकैकदोष्णा-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्"॥
(उत्तर० रा० १-२७)

किन्तु वियोग में इसके विपरीत होता है, जैसा कि बाल वियोगिनी यक्षाङ्गना का महाकवि कालिदास ने इस पद्य में हृदय भेदक चित्र अङ्कित किया है।

अलङ्कार—यहां उपमा और विरोध अलङ्कारों की संसृष्टी है।

—o—

श्लोक—२६,

मेरे संयोग के समय उसको अमृत के समान शीतल चन्द्रमा की किरणों से बड़ा आनन्द प्राप्त होता था, अतएव अब भी उन्हें खिड़कियों की जालियों में से घर के भीतर

---

१ अभिमुखगत, मल्लि० स०। २ तदैव, व०। ३ खेदाच्चक्षु, मल्लि० सु० विद्यु०।

पद्यानुवाद–जालों में से अमृत-सदृशा चांदनी देख आती
जाती दृष्टी, प्रथम-सुखदा जान, पै लौट आती-
पाके पीडा, सजल-पलकों से उसे ढांकती के
साभ्रान्हों में स्थल-कमलिनी हो न सोती जगी ज्यों
॥२६॥

आई हुई देख कर पहिलो प्रीति से-पूर्वानुभूत आनन्द की आशा से-उनपर मेरी प्रिया की दृष्टि जाती होगी, परन्तु अब मेरे वियोग के कारण उन-चन्द्र किरणों-से उलटा सन्ताप पाकर वह-दृष्टि-उसी क्षण लौट आती होगी, उस-लौटी हुई दृष्टि-में जब विरह जनित दु खाश्रु भर जाते होंगे उस समय कभी तो वह आखें ढक लेती होगी और कभी फिर खोल देती होगी तब वह न सोती सी और न जागती सी-बदलौटे दिन की-उस स्थल कमलिनी के समान मालूम होती होगी, जो कि सूर्य के प्रकाश का अभाव होने से न तो अच्छी तरह खिली ही होती है और दिन होने के कारण न सर्वथा मुंदी ही रहती है।

पादानिन्दो, इत्यादि—चन्द्रमा की चादनी का, संयोगियो को शीतल और वियोगियो को सन्ताप कारक होने रूप परस्पर विरोधी गुण प्रसिद्ध है। वियोगियो का चन्द्रमा से बडा विद्वेष रहता है, इस प्रसङ्ग की वियोगिनी दमयन्ती की कटूक्ति देखिए—

" निपततापि न मन्दरभूभृता त्वमुदधौ शशलाञ्छन चूर्णितः ।
अपि मुनेर्जठरार्चिषि जीर्णतां बत गतोऽसि न पीतपयोनिधेः॥"
(नैषध ४ ५१)

अर्थात् हे शशलाञ्छन ! चन्द्रमा !! जिस समय मन्दराचल ने समुद्र को मथन किया था, उस समय तू भी चूर्ण न हो गया, अथवा जब अगस्त्य मुनि ने समुद्र का पान किया, तब उनकी जठराग्नि में भी तू न गल गया— किसी भी तरह तेरा नाश हो जाता तो बेचारे वियोगियों का तेरे सन्ताप से तो पिंड छुट जाता ।

किन्तु जो संयोग और वियोग दोनोंही से रहित हैं, उनको तो न चन्द्रमा शीतल ही मालूम होता है और न गरम, इसीपर एक कवि ने कहा है —

"येषां वल्लभया सह क्षणमिव क्षिप्रं क्षपा क्षीयते
तेषां शीतकरः शशी विरहिणामुल्केव सन्तापकृत् ।
अस्माकन्तु न वल्लभा न विरहस्तेनोभयाभावतो ।
राजा राजतु दर्पणाकृतिरसौ नोष्णो न वा शीतलः" ॥

बात यह है, कि चन्द्रमा जिस तरह वियोगियों को तापकारक होकर दुःख का कारण होता है, उसी प्रकार संयोगियों को आनन्द-कारक प्रतीत होने पर भी शीघ्र व्यतीत हो जाने से तादृश सुख का कारण नहीं हो सकता, किन्तु इन दोनों-संयोग वियोगात्मक—वृत्तियों से रहित हैं उनको न तो सुख की अभिलाषा से उसमें अनुराग जनित प्रतीक्षा ही होती है और न दुःख के भय से विरोध, अतएव उन्हीं को उसका यथार्थ स्वरूप ज्ञात हो सकता है। इसी से विषयासक्ति-रहित जनों को ही सुख प्राप्त होने की श्री भगवद् गीता में आज्ञा है —

" रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिंद्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति" ॥

निष्कर्ष यही है, कि विषयो में आसक्ति होना ही सभी उपाधियों का मूल है ।

इस पद्य में विषय-विद्वेष नाम की छठी काम-दशा का सूचन है ।

साम्रान्होय, इत्यादि—यहां, साश्रु पलकों से आच्छादित नेत्रों को, बदलोटे दिन की कमलिनी की समानता दिखाकर कवि ने अपनी लोकोत्तर उपमा-चातुरी का परिचय दिया है । स्थल कमलिनी, की उपमा, भू-शायिनी नायिका की समानता दिखाने के लिये दी गई है । स्थल कमलिनी पङ्क के बिना पृथ्वी पर उत्पन्न होती है । भट्ट ने भी कहा है —

" न पङ्कादुद्भूतिर्न जलसहवासव्यसनिता
वपुर्दग्ध कान्त्या स्थलनलिनरत्नद्युतिमुषां " ।

अलङ्कार—यहां विरोधाभास और उपमा अलङ्कारों की संसृष्टि है ।

श्लोक—३०,

तैल आदि लगाये बिना ही केवल शुद्ध-सादे-जल मात्र के स्नान से उस को लम्बे बालों की लटें, सूखी और कड़ी होकर कपोलों पर लटक आई होंगी । बारम्बार दुःख को

मूल—निःश्वासेनाधरकिसलयक्लेशिना विक्षिपन्तीं
शुद्धस्नानात्परुषमलकं नूनमागण्डलम्बम्[१]।
[२]मत्संयोगः [३]कथमुपनमेत्स्वप्नजोपीति निद्रा-
माकाङ्क्षन्तीं नयनसलिलोत्पीडरुद्धावकाशाम् ३०.

उसासों से उसके—नव पल्लव के समान—कोमल अधर, रूखे हो जाने से अत्यन्त पीडित रहते होंगे जब वह लम्बी उसासें लेती होगी तब उसके मुख पर लटकती हुई, वे तादृश लटें बिखरती रहती होंगी। वह रात दिन बहुत ही चाहती होगी कि किसी भी तरह क्षण भर नींद आ जाय तो-प्रत्यक्ष न सही-स्वप्न में ही मेरे पति से (मेरा) समागम हो जाय, पर हाय! तू देखेगा कि निरन्तर बहने वाली अश्रुधारा से नींद भी उसे किसी समय न आती होगी—स्वप्न में भी मेरा समागम अब उसे दुष्प्राप्य हो रहा होगा।

निद्रा—वियोगियों के लिये निद्रा, क्षण मात्र मानसिक संयोग जनित आनन्द कारक होती है। अन्यत्र भी देखिए:—

---

१ मागण्डलम्बि, सारो० सु० महि०। २ मत्संभोग, जै० विल० रा०भ० ह० च० सु० सारो० महि०। ३ कथमुपनयेत्, ई० जै० प्रा० व० भ० रा०। सुखमुपनयेत्, सु० सारो० महि; क्षणमपि भवेत्, विल० ह०।

पद्यानुवाद—शुद्धस्नाता-कठिन-अलकें गण्डपै जोकि आतीं
तप्ती-श्वासें अधर-दुखदा छोड़के सो हटाती।
होवे मेरा क्षण भर कहीं स्वप्न-संयोग भी तो
रोकी हुई दृग-सलिल से नींद यों चाहती को॥३०॥

"हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्"॥
(विक्रमो० ३-१०)

"प्रजागरखिलीभूतस्तस्याः स्वप्ने समागमः"।
(शाकु० २)

उद्धव-सन्देश में इस वर्णन का भाव इस प्रकार है—

"नायं स्वप्नो निशि निशि भवेद्यत्तया संगतिर्मे
पश्यामीदं विधुमुखि निराबाधमास्वादयामि।
किन्तु ज्ञातं त्वयि विजयते काचिदाकृष्टिविद्या
यां सस्मृत्वा हरसि तरसा मामदूराद्वधूनाम्"॥

मूल–आद्ये बद्धा विरहदिवसे या शिखा दाम हित्वा
शापस्यान्ते विगलितशुचा तां[1] मयोद्वेष्टनीयाम्[2]।
[3]स्पर्शाक्लिष्टामयमितनखेनासकृत्सारयन्तीं[4]
गण्डाभोगात्कठिनविषमामेकवेणीं करेण ॥३१॥

श्लोक—३१,

मेरे वियोग के पहिले दिन—जिस दिन मैं उससे बिछुडा उस दिन—पुष्प और मोतियों की मालाओं के विना उसकी, जो वेणी बाधी गई थी और जो शाप के अन्त में—एक वर्ष की अवधि बीत जाने पर—मुझ शोक रहित से खोली जायगी, वह वेणी वडी कठिन और विषम हो गई होगी–अतएव उसके छू जाने से मेरी प्रिया को वडा क्लेश होता होगा और उसे वह कपोलों पर से अपने हाथों के बढ़े हुए नखों से बार बार सरकाती रहती होगी।

शिक्षा—जिन स्त्रियो के पति विदेश में हो उनको नख कटाना कंघी चोटी कराना, और पुष्प आदि का शृङ्गार करना निषध है। यह धर्म यहा सूचन किया गया है। कहा है—

---

१ सा, त्रिल० सारो० व० महि० सु० ह०। २ मयाद्वेष्टनाया महि० विल० ह० सु० सारो०; मया मोचनीया, व०। ३ अपमित, सारो०। ४ सारयती,

पद्यानुवाद–मालाओं को तज, विरह के आदि बांधी जिसे थी–
मेरे द्वारा विगत-दुख जो शाप-छूटे खुलेगी–
छूजाने से विषम-कवरी दूखती है कड़ी, सो–
गालों पे से कर-नख-बढ़े से हटाती हुई को ॥२१॥

'न प्रोषिते तु संस्कुर्यान्न वेणीं च प्रमोचयेत्'।
(हारीतस्मृति)

माघ ने इसका भाव यों लिखा है—

"तत्र नित्यविहितोपहृतिषु प्रोषितेषु पतिषु सुयोषिताम्।
गुम्फिताः शिरसि वेणयो ऽभवन् न प्रफुल्लसुरपादपस्रजः॥"
(शिशुपा० १४-३०)

असकृत्सारयन्तीं—इससे-वारम्वार वेणी को कपोलों पर से सरकाने के कथन से, चित्त-विभ्रम नामकी काम-दशा सूचन की है।

अलङ्कार—यहां स्वभावोक्ति है।

—:o:—

मूल—सा सन्यस्ताभरणमबला पेशलं[1] धारयन्ती
शय्योत्सङ्गे निहितमसकृद्दुःखदुःखेन गात्रम् ।
त्वामप्यस्रं[2] नवजलमयं[3] मोचयिष्यत्यवश्यं
प्रायः सर्वो भवति करुणावृत्तिरार्द्रान्तरात्मा ॥३२॥

श्लोक—३२,

'उसकी तादृश दशा देखकर तूभी रोने लगेगा' यह बात कथ मेघ को यक्ष कहता है—

उसने सौभाग्य के भूषणों के सिवा—केवल शोभा बढाने वाले और गहनों को—उतार डाले होंगे, शैय्या पर उसे चैन न पड़ता होगा—कभी वह उस पर पड़ जाती होगी, कभी फिर उठ खड़ी होती होगी—अपने कोमल शरीर को वह बड़े ही दु:ख से-भार रूप मानकर-धारण कर रही होगी। मैं उसकी शोचनीय अवस्था का कहां तक वर्णन करूं, यही कहना बस होगा, कि उस विचारी अबला की वह दशा देखकर तेरे भी नव-जल कण रूप आंसू टपकने लगेंगे—तुझे भी वह अवश्य रुला देगी, क्योंकि तू सरस हृदय है, और सरस हृदय वाले जन प्रायः दयालु होते हैं—उनसे दूसरे का दु:ख नहीं

---

१ पेलव, जै० व० विद्यु० ; कोमलं, त्रिव० मद्दि० ह० । २ अश्रु त्रिव०
३ [illegible] स० ह० क० ई० । जलकण, मद्दि० ।

पद्यानुवाद—शोके चिन्ता-ग्रसित अबला छोड़ आभूषणों को
शय्या पे पा कल न, दुखसे धारती गात्रको वो-
तेरे भी सो नव-जल-मयी अश्रु देगी छुटा रे !
प्रायः होते सरस-हृदयी हैं दया-वृत्ति वाले ॥३२॥

देखा जाता, वे दूसरे के दुःख को अपना मानकर स्वयं दुखी होने लगते हैं।

आर्द्रान्तरात्मा—यह पद मूल में और 'सरस हृदयी' यह पद अनुवाद में श्लिष्ट है। इनका मेघ के पक्ष में जल भरा हुआ और दूसरे पक्ष में याचक को वाञ्छित देने वाला-परोपकारी, अर्थ है। आर्द्रता का अर्थ यह है—

" यद्यदस्य प्रियं वेत्ति तस्य तस्याशुकारिनाम् ।
योग्यतामार्द्रतामाहुर्मनः कालुष्यनाशिनीम् " ॥
(दिवाकर)

शिक्षा—यहां 'सन्यस्तामरण' इस पद से पति वियोग में स्त्री को केवल सौभाग्य-सूचक अलङ्कारों के सिवा केवल शोभा बढ़ाने वाले दूसरे आभूषण धारण करना धर्म-शास्त्र में निषेध है, यह धर्म सूचन है। देखिए —

मूल—जाने सख्यास्तव मयि मनः सम्भृतस्नेहमस्मा-
दित्थम्भूतां प्रथमविरहे तामहं तर्कयामि।
वाचालं मां न खलु सुभगंमन्यभावः[1] करोति
प्रत्यक्षं ते [2]निखिलमचिराद्भ्रातरुक्तं मया यत् ॥३३॥

" गतवति दयिते तु क्वापि माङ्गल्यमात्रा-
एयपचितगुरुविभ्रा धारयेन्मण्डनानि" ॥

अलङ्कार—अर्थान्तरन्यास है।

श्लोक—३३

अब मेघ को अपने कथन की सत्यता में यक्ष विश्वास दिलाता है—

तेरी सखी [मेरी प्रिया] का मुझ में जो अत्यन्त अनुराग है—उसका मुझ पर जो अनन्य स्नेह है—उसे में अच्छी तरह जानता हूं, इसीसे प्रथम-विरह में उसकी इस प्रकार की दशा में सोच रहा हूं—मेरा और उसका पहिले कभी वियोग हुआ ही नहीं, केवल यही प्रथम वियोग है, अतएव उसे इस प्रकार की अत्यन्त दुःसह पीडा होना मैं अनुमान

---

१ मन्यमान, सारो० ; । २ सकल, सारो० ।

पद्यानुवाद—है मेरे में रत तव-सखी, प्रेम मैं जानता हूं
इससे ऐसी विरह-पहिले में उसे सोचता हूं।
†बोला मैं हूं न बढ, मुझ को भाग्य-शाली बनाके
होगा तेरे यह सब वहां शीघ्र प्रत्यक्ष, जाके ॥३३॥

कर रहा हूं। मैंने अपने को भाग्यशाली प्रकट करने के लिये तेरे आगे कुछ भी बढ़ा कर नहीं कहा है—बहुत से लोग प्रायः अपने को भाग्य-शाली दिखलाने के लिये अपनी स्त्री का अपने में बड़ा अनुराग प्रकट किया करते हैं। पर मुझे तू ऐसा न समझ, भाई मेरे! जो कुछ मैंने कहा है–वह सब शीघ्र ही तू वहां जाकर प्रत्यक्ष देख लेगा—मेरे कथन के सत्या सत्य का निर्णय वहां जाकर तुझे स्वयं हो जायगा।

प्रथमविरहे—इससे यह सूचन है, कि सदैव सुख में रहे हुए को यकायक दुःख प्राप्त होजाने पर, उसकी अत्यन्त शोचनीय दशा हो जाती है, जैसा कि कहा है

"न तथा बाध्यते कृष्ण प्रकृत्या निर्धनो जनः।
यथा भद्रां श्रियं प्राप्य तया हीनः सुखेधितः" ॥
(महाभारत)

---

† पाठान्तर—याचाली, तू समझ न मुझे मैं न बोला बढ़ा के।

मूल—रुद्धापाङ्गप्रसरमलकैरञ्जनस्नेहशून्यं
प्रत्यादेशादपि च मधुनो विस्मृतभ्रूविलासम्।
त्वय्यासन्ने नयनमुपरि[1] स्पन्दि[2] शङ्के मृगाक्ष्या
[3]मीनक्षोभाच्चलकुवलयश्रीतुलामेष्यतीति ॥३४॥

श्लोक—३४

अब दो श्लोकों में मेघ के पहुंचने पर अपनी स्त्री को होने वाले शकुनों का यक्ष वर्णन करता है—

तेरे यहां जाने पर, मैं सोचता हूं कि मेरी मृगनयनी प्रिया का बांयाँ नेत्र—वह नेत्र, जिसका कटाक्ष का चलाना, मेरे वियोग के कारण लटकती हुई अलकों से, रुका हुआ है, तथा जो, कज्जल के न लगाने से स्निग्ध-सुन्दर-कान्ति रहित सूना हो रहा है और जो मदिरा के न पीने से भ्रुकुटि का विलास भी भूल रहा है—ऊपर से फड़क कर, मछली के चलने से जल में हिले हुए कमल की शोभा की समानता को प्राप्त हो जायगा—उसका फड़कता हुआ नेत्र तुझे ऐसा अच्छा मालूम होगा जैसे सरोवर में मछली के चलने से हिलता हुआ कमल शोभा पाता है।

---

१ मपरि, मद्दि०। २ स्यन्दि, सरो०। ३ मीनक्षोभाकुल, विश्व०, सारो० व०।

पद्यानुवाद–सूनी स्निग्धाञ्जन बिन, लटों से रुका है कटाक्ष
भूली है जो मधु-मद बिना, सर्वथा भ्रू-विलास।
तेरे जाने पर फड़क वो आँख प्राणेश्वरी की–
लेगी शोभा सु-ललित-हिले मीन से कञ्ज की सी॥३४॥

नयनमुपरि—इस पद से कविका अभीष्ट यहा वाम-नेत्र से है, क्योंकि स्त्रियों का वामाङ्ग फड़कना ही शुभ-सूचक है।

अलङ्कार—उपमा है। यहा मीनक्षोभाचल–इत्यादि पद से फड़कते हुए एक ही नेत्र को मछली के हिलाये कमल की उपमा, दी गई है। पवन के वेग से एक ही कमल नहीं किन्तु सरोवर में के और भी कमल हिल जाते हैं, मछली के चलने से ही एक कमल का हिलना सम्भव है। यही उपमा की कल्पना में चातुर्य है। इस में श्री रामचरित्र के—

"प्रस्पन्दतैन नयन सुकेश्या· मीनाहत पद्ममिवाभिताम्रम्"।

इस वर्णन का भाव है।

—:o:—

मूल—वामश्चास्याः[1] कररुहपदैर्मुच्यमानो मदीयै-
र्मुक्ताजालं चिरपरिचितं[2] त्याजितो दैवगत्या।
सम्भोगान्ते मम समुचितो हस्तसंवाहनानां
यास्यत्यूरुः [3]सरसकदलीस्तम्भगौरश्चलत्वम्॥३५

श्लोक—३५

उस समय केवल बाँयां नेत्र ही नहीं किन्तु केले के सरस स्तम्भ के समान उसकी बाँयी जघा भी फड़क उठेगी—वह जघा, जोकि इस समय मेरे नख-क्षतों की शोभा से रहित हो रही है, तथा जिस पर सर्वदा धारण होनेवाली किङ्किणी भी दैव इच्छा से नहीं बँधी हुई है, अर्थात् वियोगावस्था में अन्य भूषणों के साथ किङ्किणी भी त्याग देने से जो शूनी हो रही है, और जिसे सुरतान्त में-श्रमित होकर मेरे हाथों का स्पर्श सुख प्राप्त होता था वह भी अप्राप्य हो रहा है।

यास्यत्यूरू—स्त्री के वाम-जंघा का फड़कना प्रिय-समागम-सूचक है। श्री रामचरित्र में भी लङ्का में श्रीहनुमानजी के पहुँचने पर श्री जनकनन्दिनी की उरू का फड़कना वर्णन है—

---

१ वामो यास्या, व०। २ चिरविरचितं, वि०० सारो० विमु०। ३ कनक विल० स० द० ई० सरस कदलीगर्भ गौर, मै०।

पद्यानुवाद-जो है मेरे नख-पद बिना शून्य, शोभा-विहीन-
दैवेच्छा से चिर-सहचरी-किङ्किणी है बँधी न-
पाती मेरे मदुल करसे मोद, हो श्रान्त, जो थी
होगी जंघा-स्फुरण कदली-स्तम्भसी गौर वो भी॥३५॥

"प्रस्पन्दमानः पुनरूरुरस्या रामं पुरस्तात्स्थितमाचचक्षे" ॥

इसी वर्णन का यहा अनुसरण किया है।

दैवेच्छा—यहा कवि ने दैवेच्छा का प्राबल्य सूचन किया है। वस्तुत दैवेच्छा के आगे मनुष्य के विचार कुछ भी नहीं चल सकते। देखिए! रघुवश के अजविलाप में इसका कैसा हृदय द्रावक वर्णन है—

"स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृत वा विषमीश्वरेच्छया"॥ (६ ४६)

अर्थात्, यदि इस फूलों की माला ही में प्राण हरण करने की शक्ति है तो यह मेरे प्राण क्यों नहीं ले लेती? मेरे भी तो हृदय पर यह रक्खी हुई है। किन्तु नहीं, भगवान् की इच्छा ही से सब कुछ होता है, उस से कहीं विष अमृत रूप हो जाता है, और कहीं अमृत भी विष।

अलङ्कार—यहा उपमा है।

मूल—तस्मिन्काले जलद [1]यदि सा लब्धनिद्रा सुखा स्या-
दन्वास्यैनां[2] स्तनितविमुखो याममात्रं [3]सहस्व।
माभूदस्याः प्रणयिनि [4]मयि स्वप्नलब्धे कथंचित्
सद्यः कण्ठच्युतभुजलताग्रंथि गाढोपगूढम् ॥३६॥

— —

श्लोक—३६

अब, मेघ के पहुँचने के समय अपनी प्रिया की अवस्थान्तर का अनुमान करता हुआ यक्ष मेघ को समझाता है —

हे मेघ! तेरे पहुचने के समय, यदि वह-मेरी पत्नी कदाचित् निद्रा का सुख ले रही हो, तो तू कुछ भी गर्जना न करके—मौन रहकर—एक प्रहर तक उसके समीप बैठ जाना-उसे जगाना मत—क्योंकि बडी कठिनता से स्वप्न में मेरा समागम पाके अत्यन्त प्रेम पूर्वक वह मुझ प्रियतम के गले में अपनी भुजाओं को डालकर आनन्द ले रही होगी, सो ऐसा न हो, कि मेरे गले में लगी हुई उसकी भुजारूपी लताओं की गांठ उसी क्षण छूट जाय-उसका वह स्वप्न सम्भूत सुख भी विनष्ट हो जाय।

लब्धनिद्रा—वियोग की सप्तम आदि अवस्थाओं में निद्रा का नाश माना गया है। अतएव पूर्वोक्त २७ की संख्या में के "तामुन्निद्रा" इस

१ दयिता लब्धनिद्रा यदिस्या, व०। २ तत्रासीन, विल० सारो० स० महि०। भ० ह० द० क०। ३ सहेथा विल० भ० ह० क०। ४ जने, जे०।

पद्यानुवाद—†जो, हो, तन्द्रागत वह सुखी, तो जगाना न क्योंकि—
पाया होगा अति-कठिन से स्वप्न-संयोग को भी।
होके मौनी पहर भर तू बैठना पास ही जो—
छूटे उसकी न भुज-लतिका कण्ठ मेरे लगी सो ॥३६॥

पद से विरोध न समझना चाहिए। अथवा यहां निद्रा पद से निद्रा नहीं किन्तु तन्द्रा का सूचन है। अधिक चिन्ता ग्रस्त या व्याधि पीडितजन की आखें कभी कभी लग जाया करती हैं, उस समय स्वप्न भी हो जाता है, उसको तन्द्रा कहते हैं।

याममात्र—इस पद से नायिका का पद्मिनीत्व सूचन है। पद्मिनी की निद्रा एक प्रहर की होती है, कहा है—

" पद्मिनी यामनिद्रा च द्विप्रहरा च चित्रिणी।
हस्तिनी याम त्रितया घोरनिद्रा च शङ्खिनी ॥"

मल्लिनाथ ने इस 'याममात्र' पद के अर्थ में जो भाव व्यक्त किया है, वह केवल अनुचित ही नहीं, अश्लील भी है।

अलङ्कार—यहां अप्रस्तुत प्रशंसा है। 'उसे क्यों न जगाऊं' यह कार्य प्रस्तुत है, उसका कारण कथन किया गया है।

—:o:—

---

† पाठान्तर—निद्रा में हो तब, यदि सुखी तो न उसको जगाना
हो के मौनी प्रहर भर तू पास ही बैठ जाना
होगी मेरे अति कठिन से स्वप्न-संयोग मग्ना
छूटे उसकी न भुज-लतिका ग्रंथि वो कण्ठ-लग्ना।

मूल–तामुत्थाप्य[१] स्वजलकणिकाशीतलेनानिलेन
प्रत्याश्वस्तां सममभिनवैर्जालकैर्मालतीनाम्।
विद्युद्गर्भः[२] स्तिमितनयनां त्वत्सनाथे गवाक्षे
वक्तुं [३]धीरः स्तनितवचनैर्मानिनीं प्रक्रमेथाः ॥३७॥

श्लोक—३७

अब यक्ष अपनी प्रिया को सन्देश सुनाने को अभिमुख करने के लिये मेघ से कहता है —

उसे सोती हुई को तू अपने जल-कणों से भीगी हुई ठंडी ठंडी पवन से जगाना, उस पवन के स्पर्श से मालती की नवीन कलियों के प्रफुल्लित होने के साथ जब वह स्वस्थ होकर, तुझे बिजली की चमक के बिना खिड़की में बैठा हुआ निश्चल दृष्टि से–टक लगाकर—देखे, तभी तू उस मानिनी से धीर-गम्भीर गर्जना के वचनों से कहना आरम्भ करना–वह गम्भीर-स्वभाववाली मानवती रमणी है, तादृश मनस्विनी स्त्रियां अकस्मात् किसी के वाक्य नहीं सुना करती हैं, अतएव स्वस्थ होकर जब वह तेरे सन्मुख देखे, तब तू उससे इस प्रकार कहना प्रारम्भ करना :—

---

१ प्रोत्थाप्यैनां, जे०। २ विद्युद्गर्भे, जे० व०, विद्युदक्कम्पय, बिल० म० रा० ह० क०, विद्युद्गर्भस्तिमितनयना, सारो०। ३ धीरस्तानतवचन। जं०; धीरस्तनितवचने, सारा०, बिल० मद्दि० व० सु० विद्यु०, धीरध्वनित, म०।

पद्यानुवाद—उसको ठण्डे स्व-जल-कण के वायु से तू जगा के
†पीछे, जाती-कुसुम-कलिका साथ ही स्वास्थ्य पाके—
देखे वारी-स्थित जब तुझे वो, बिना दामिनी से
होके धीर-ध्वनित तब यों बोलना मानिनी से ॥३७॥

शीतलेनानिलेन—शीतल पवन से जगाने को कहके यक्ष ने अपनी प्रिया की प्रभुता और सुकुमारता सूचन की है, भोजराज ने कहा है—

"मृदुभिर्मर्दनैः पादे शीतलर्व्यजनैस्तनौ ।
श्रुतौ च मधुरैर्गीतैर्निद्रातो बोधयेत् प्रभुम्" ॥

विद्युद्गर्भः—वल्लभदेव ने इस पद का बिजली की चमक के सहित, ऐसा अर्थ किया है किन्तु इस अर्थ में आगे के 'स्तिमितनयना' पद से विरोध आता है, क्योंकि बिजली की चमक के सामने एकटक दृष्टि से देखना नहीं बन सकता ।

मानिनी—इस शब्द से शुद्ध-शील के स्वाभिमान वाली अथवा वियोग में अब तक आश्वासन रूप कुशल-सम्वाद न पहुचने से प्रेम के मधुर कोप से कुपित उसे सूचन की है ।

अलङ्कार—यहा सहोक्ति है । मालती के साथ उठाने के कथन से उसकी पुष्प के समान कोमलता सूचन की है ।

---

† पाठान्तर—पीछे जाती कुसुम सग में मानिनी स्वास्थ्य पाके
देखे वारी स्थित जब तुझे वो बिना दामिनी से
धीरे से वो वचन कहना गर्भिता माधुरी से ॥

मूल–भर्तुर्मित्रं [१]प्रियमविधवे विद्धिमामम्बुवाहं
[२]तत्सन्देशै[३]र्हृदयनिहितैरागतं त्वत्समीपम्।
यो वृन्दानि त्वरयति पथि श्राम्यतामध्वगानां
मन्द्रस्निग्धैर्ध्वनिभिरबलावेणिमोक्षोत्सुकानि ३८॥

श्लोक–३८,

हे सौभाग्यवती! मैं तेरे प्राणपति का प्यारा मित्र, उसका सन्देश लेके तेरे समीप आया हुआ मेघ हूं, वह मेघ—जो अपनी मन्द-मधुर गर्जनाओं से मार्ग में थके हुये पथिकों के समूह को–विदेश से लौटते हुये प्रवासियों को अपनी स्त्रियों की बँधी हुई चोटियों को खोलने के लिये उत्कण्ठित करके घर आने को शीघ्र प्रेरण करता है अर्थात् मेरी गर्जना को सुन के प्रवासी जन, धैर्य को छोड़ मार्ग में कहीं विश्राम भी न लेकर बड़े शीघ्र अपने घर आने की इच्छा करने लगते हैं—मुझे तू केवल अपने पति का सन्देश लानेवाला दूत ही न समझ किंतु सम्पूर्ण जगत् को सुख देनेवाला जीवनाधार-जलधर-और वियोगी दम्पतियों को मिलानेवाला परोपकारी भी जान, मैं वियोगिनी स्त्री मात्र को उनके पतियों से मिलाके वियोग का दुःख दूर करने वाला हूं, फिर तू तो मेरे मित्र की

---

१ अभिदधे. ज० । २ तत्सन्देशान्मनसिनिहिताव, विज० म० स० गा० इ० द० विद्यु० । ३ मनसि, जै० सुम० सारो ।

पद्यानुवाद–स्वत्स्वामी का सुहृद, सधवे! तू मुझे जान मेघ
आया तेरे निकट उसका ले सु-सन्देश एक।
मेरी धीर-ध्वनि-मधुर से, श्रान्त हों पान्थ वे भी–
चाहें आना निज-सुमुखि की खोलने शीघ्र वेणी॥३८॥

पत्नी है अतएव मैं तुझे उसका सन्देश देके प्रसन्न करने को आया हूं।

अविधवे—इस सम्बोधन से सन्देश के प्रारम्भ ही में यक्ष ने मेघ के मुख से अपनी कुशलता सूचक वाक्य कहलाया है।

मित्र—इस शब्द से अन्तरङ्ग सम्वाद लाने का सूचक शब्द कहलाया है, श्री महाभारत में कहा है—

"नासुहृत्परमं मिश्रं भारताहर्ति वेदितुम्।
अपण्डितो वापि सुहृत्पण्डितोवाप्यनात्मवान्" ॥

त्वरयति—इस पद्य में श्री वाल्मीकि रामायणोक्त—

'प्रवासिनो यान्ति नराः स्वदेशान्'।

इस वर्णन के संक्षिप्त आशय को कुछ विस्तार से दिखाया गया है। [मे]घ-गर्जना से पथिकों का उत्कण्ठित होना प्रसिद्ध है—

"उत्कण्ठयन्ति पथिकान् जलदा स्वनन्तः (घटकर्पर)

अर्थात् वर्षा काल में गर्जना करते हुए मेघ पथिकों को अपने घर आने को उत्सुक कर देते हैं।

अलङ्कार—यहां अप्रस्तुत प्रशंसा है। कार्य द्वारा अपनी सामर्थ्य के कारण का मेघ ने कथन किया है।

मूल—इत्याख्याते पवनतनयं मैथिलीवोन्मुखी सा
त्वामुत्कंठोच्छ्वसितहृदया वीक्ष्य [1]संभाव्य चैव।
श्रोष्यस्यस्मात्परमवहिता[2] सौम्य सीमन्तनीनां
[3]कान्तोदन्तः सुहृदुपगतः सङ्गमात्किञ्चिदूनः॥३६॥

श्लोक—३६,

इस श्लोक में मेघ द्वारा उपर्युक्त वाक्य को सुन कर यक्ष-स्त्री की स्थिति का वर्णन है—

हे साधो! तेरे यह कहने पर कि "मैं तेरे स्वामी का मित्र, उसका सन्देश लेकर यहां आया हूं" मेरी प्रिया का हृदय, उत्कंठा से परिपूर्ण हो जायगा, वह प्रफुल्लित चित्त होकर अपना मुख ऊँचा उठाकर हर्ष, स्नेह और विश्वास पूर्वक बड़े चाव से तुझे इस प्रकार देखेगी, जैसे श्रीरघुनाथजी का सन्देश लेकर गये हुए हनुमानजी को श्री जनक-नन्दनी ने देखा था। और तेरा बड़ा सत्कार करके तदनन्तर तेरे वाक्य, सावधान होकर—एकाग्रचित्तसे—सुनेगी, क्योंकि मित्र के द्वारा मिले हुए अपने प्रियतम के सन्देश को स्त्रियां, पति मिलने के सुख से कुछ ही कम समझा करती हैं।

---

१ सभाव्य, चिन्त० सारो० महि० व० म० स० ह० रा०। २ परमवहित, जै०। ३ कान्तोपा तातसुहृदुपगम, जै० नियु०, सुहृदुपनत, भ० ह० व०, उपहृत, सारो० महि०।

पद्यानुवाद—ये तेरे वो वचन सुन, हो सावधाना लखेगी—
उत्कण्ठा से, पवन-सुत को मैथिली ज्यों तुझे भी।
आये हुए सुहृद-मुख से कान्त-सन्देश भी को—
†पाके कान्ता, मिथ-मिलन के तुल्य सा मानती वो॥३९

पवनतनय—मेघ को श्री हनुमानजी की समता देके दुष्कर-कार्य के साधन में सामर्थ्य, कार्य में तत्परता, जितेन्द्रियता, और परोपकार आदि दूत के योग्य गुणों से युक्त सूचन करके उसे यक्ष ने प्रोत्साहित किया है। रसाकर में दूत के लक्षण इस प्रकार लिखे हैं—

"ब्रह्मचारी बली धीरो मायावी मानवर्जितः।
धीमानुदारो निशङ्को वक्ता दूतः स्त्रियां भवेत्"॥

मैथिली—मिथिल देश के राजा जनक की पुत्री श्री सीताजी का नाम है। पूर्व काल में गण्डकी और कौशिकी के बीच के प्रदेश को मिथिल देश कहते थे, जिसको अब तिरहुत कहते हैं। इस देश की राजधानी जनकपुर थी जो कि मधुबनी से उत्तर की तरफ अब भी इसी नाम से प्रसिद्ध है। वहां सीता-मढ़ी वा सीतामण्डी नामक स्थान है, जहां पर श्री सीताजी का प्रादुर्भाव हुआ था और सीताकुण्ड भी है, जहां सीताजी ने विवाह के समय मङ्गल-स्नान किया था। उस समय अब का तिरहुत और कुछ भाग नैपाल का भी इसी राज्य के अन्तर्गत होना संभव है।

अलङ्कार—यहां उपमा और अर्थान्तरन्यास की संसृष्टी है।

---

† पाठान्तर—पाके कान्ता-जन, मिलन के तुल्य सा मानती वो॥

मूल—[1]तामायुष्मन्मम च [2]वचनादात्मनश्चोपकर्तुं
ब्रूया [3]एवं तव सहचरो रामगिर्याश्रमस्थः।
अव्यापन्नः कुशलमबले पृच्छति त्वां [4]वियुक्तः
[5]भूतानां हि क्षयिषु करणेष्वाद्यमाश्वास्यमेतत्॥४०॥

श्लोक—४०,

अब यक्ष, सन्देश के प्रथम वक्तव्य वाक्य मेघ से कहता है:—

हे चिरजीवी ! मेरी प्रार्थना से और वियोग-पीड़ित मेरी प्रिया को मेरा कुशल-सम्वाद सुनाके उसको सुखी करने रूप परोपकार से अपनी आत्मा को कृतार्थ करने के लिये तू उसको—सन्देश के आदि ही में—यह कहना कि, तेरा पति रामगिरि के आश्रमों में स-कुशल है, और हे अबले ! तेरे से जुदाई पाया हुआ वह बेचारा तेरी भी कुशल पूछता है। क्योंकि शरीर-धारी जीव मात्र सब काल के ग्रसे हुए हैं—मृत्यु के मूं में रक्खे हुए हैं—अतएव सबसे प्रथम पूछना भी यही योग्य है—कुशल रहने पर फिर भी सुख प्राप्त हो सकता है।

---

१ तामायुष्मान्, व०। २ वचनादात्मना, सारो०महि० व०। ३ इवं, जै० सु० सारो० महि० व०। ४ वियुक्तां, विल० भ० रा० ह० त्रिव०; नियुक्त-,जै०। ५ पूर्वाशास्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव, जै० व० त्रिवु०; पूर्वाभाष्यं सुलभविपदां प्राणिनामेतदेव, मं० ई० महि० सारो० सु० मा०।

पद्यानुवाद—यों उसको तू मम-विनय से और होने कृतार्थ—
"है त्वत् भर्ता कुशल" कहना रामगिर्याश्रमस्थ ।
तेरी भी वो कुशल अबले ! पूछता है वियोगी
है भी काल-ग्रसित-जनको आद्य-पृष्टव्य यों ही॥४०॥

भूतानां हि क्षयिषु, इत्यादि—इस वाक्य से शृङ्गार-रस के प्रसङ्ग में शान्त-रस के विभाव का कथन प्रतिकूल मान के दोष न समझना चाहिये, क्योंकि यह यक्ष का साक्षात् वचन नहीं, किन्तु मेघ का यक्ष-पत्नी के प्रति धीरज बंधाने का वाक्य है। यहां प्राणी मात्र को काल-ग्रसित प्रतिपादन करने का तात्पर्य नहीं। किन्तु कुशल मात्र से अभिप्राय है। इसमें महर्षि वाल्मीकि-वर्णित भगवती जनकनन्दिनी के—

" कल्याणी बत गाथेय लौकिकी प्रतिभाति मे।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि " ॥

(वा०सु ३४-६)

इस कथन का भाव प्रदर्शित किया गया है।

अलङ्कार—यहां अर्थान्तरन्यास है।

मूल—अङ्गेनाङ्गं प्रतनु[1] तनुना गाढतप्तेन तप्तं
[2]सास्त्रेणास्रुद्रुतमविरतोत्कण्ठमुत्कण्ठितेन ।
उष्णोच्छ्वासं[3] समधिकतरोच्छ्वासिना दूरवर्ती
[4]सङ्कल्पस्तैर्विशति विधिना वैरिणा रुद्धमार्गः ॥४१॥

श्लोक—४१,

इस समय विधाता ने विमुख होकर तेरे-पति के आने का मार्ग रोक दिया है—शाप रूपी जंजीर से उसे बांध दिया है—वह प्रत्यक्ष आकर तो मिल ही नहीं सकता, अतएव विवश होकर दूर-देश में पड़ा हुआ वह अपने अङ्गों को तेरे अङ्गों के साथ एकता करके मानसिक-सङ्कल्पों ही से तुझ से मिल रहा है। जिस तरह तू यहां उसके वियोग में शोक से लवे सांस लेकर, विरहाग्नि से अत्यन्त सन्तप्त, कृश और उत्कण्ठित होके आंसू बहा रही है, उसी तरह वह भी तेरे विरह में वहां लम्बे सांस छोड़ता हुआ, सन्तापित, कृश, और

---

१ तनु च, जै० व० विद्यु०; सुतनु विल० । २ सास्रेणाभ्रुद्रव, जै० व० सारो० मद्दि०; सास्रेणाभ्रुद्रव, सु०; सास्रेणाश्रुद्रुत, ई० मा० । ३ दीर्घोच्छ्वास, विल० म० रा० ह० । ४ सकल्पैस्ते, विल० म० रा० ह० क० व० विद्यु० ।

पद्यानुवाद—दीर्घोच्छ्वासी, तपित, कृशभी, सास्रु, सोत्कण्ठता से-
होके तेरे सदृश वह भी अङ्ग-प्रत्यङ्ग-भा से।
रोका रस्ता विधि-विमुख, सो दूर-वासी वहीं से
यों तेरे से अब मिल रहा साम्य-सङ्कल्प ही से॥४१॥

सोत्कण्ठ होकर अश्रु-धारा बहाता हुआ तेरे समान अवस्था को प्राप्त होकर मन के मनोरथों से तुझ से मिल रहा है।

इस पद्य में कवि ने दोनो का समान अनुराग और विरह-वेदना सूचन करने के लिये उनकी तुल्य-अवस्था कथन की है।

विधिना वैरिणा—इस वाक्य से विधाता की क्रूरता पर यक्ष ने करुणा-पूरित शोकोद्गार प्रकट किया है। हनुमान्नाटक में भी देखिए—

"कुत्रायोध्या क्व रामो दशरथवचनाद्दण्डकारण्यमागात्
क्वासौ मारीचनामा कनकमयमृगः कुत्र सीतापहारः।
सुग्रीवे राममैत्री क्व जनकतनयान्वेषणे प्रेषितोऽहं
योऽर्थोऽसंभावनीयस्तमपि घटयते क्रूरकर्मा विधाता"॥

मृ-शब्दाख्येयं यदपि किल ते यः सखीनां पुरस्ता-
त्कर्णेलोलः कथयितुमभूदाननस्पर्शलोभात्।
सोऽतिक्रान्तः श्रवणविषयं लोचनाभ्यामदृश्य[१]
स्त्वामुत्कण्ठाविरचितपदं मन्मुखेनेदमाह ॥४२॥

श्लोक—४२,

जब वह तेरे समीप में था तब सखी-जनों के सामने—उनके सुनते हुए प्रकट भी—कहने योग्य जो बात होती थी उसे भी वह तेरे मुख को छूने के लालच से तेरे कानही में कहता था—बात कहने के बहाने भी तेरे मुख के स्पर्श-सुख का अवसर जो न जाने देता था—वही तेरा प्राणपति अब कानों की गति से दूर और नेत्रों से अदृष्ट हो रहा है इतना दूर जा पड़ा है, कि न तो तेरी मधुर-वाणी ही सुन सकता है और न अब वह तुझे आंखों ही से देख सकता है—अतएव अत्यन्त उत्कण्ठित होकर बनाये हुए कुछ पद्य उसने मेरे द्वारा तुझे कहलाये हैं-वे पद्य मेरे मुख से तू सुन, उसने कहा है कि—

१ मह्र , जै० सारो० विधु०; मगम्य व० ।

पद्यानुवाद—होता था जो यदपि कहने-योग्य आगे सखी के—
छूने तेरा-वदन, कहता था उसे कानही में।
वो, हा नेत्र-श्रवण-पथ से दूर, उत्कण्ठता से
मेरे मूंसे यह पद तुझे है कहाता वहां से ॥४२॥

श्लोक-४३,

अब यक्ष, अपना सन्देश कहना आरंभ करता है। वियोगियों के चित्त बहलाने के लिये प्रधानतया चार विनोद—उपाय—हैं, कहा है—

"वियोगावस्थासु प्रियजनसदृक्षानुभवनम्।
ततश्चित्रं कर्म स्वपनसमये दर्शनमपि"॥
तदङ्गस्पृष्टानामुपनतवता दर्शनमपि
प्रतीकारोऽनङ्गव्यथितमनसां कोऽपि गदितः" ॥

(गुणपताका)

अर्थात् प्रियजन के सदृश वस्तु का देखना, उसका चित्र बनाना या देखना, स्वप्न के समय में उसके दर्शन और उसके अङ्ग के स्पर्श की हुई वस्तु का स्पर्श करना, ये चार वस्तु विरह-व्यथित जनों को कुछ शान्ति देने वाले होती हैं। इन्हीं का क्रमशः यहां वर्णन है इस श्लोक में सदृश-वस्तु देखने के विनोद के विषय में यक्ष कहता है, कि तेरे स्वरूप की समानता भी मुझे अच्छीतरह देखने को कहीं नहीं मिलती है—

हे कोपशीले ! तुझे देखने की लालसा इतनी बढ़ गई है,

मूल-श्यामास्वङ्गं चकितहरिणी प्रेक्षणे[1] दृष्टिपातं[2]
वक्त्रच्छायां[3] शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान्।
उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्[4]
हन्तैकस्मिन्क्वचिदपि[5] न ते [6]चण्डि सादृश्यमस्ति४२

कि मैं निरन्तर तेरे रूप-लावण्य के चिन्तन ही में लगा रहता हूं, तेरे अङ्गों के रूप लावण्य के समान शोभा वाली वस्तुओं को देखकर चित्त कुछ शान्त करने का प्रयत्न करता हूं, किन्तु हाय! वह—तेरे सर्वाङ्ग-लावण्य की समता—भी कहीं एकत्र नहीं देख पाता। श्यामा-लताओं में तेरे अङ्गों की समता मिल अवश्य जाती है, पर एक में नहीं—किसी में कोमलता मिलती है तो किसी में स्निग्धता। डरी हुई हिरनी के काले विशाल और चञ्चल नेत्रों में, तेरे कटाक्षों की समता दीख तो पड़ती है, पर तादृश-भयभीत हिरनी भी सर्वदा दृष्टि-गत नहीं होती। चन्द्रमा में तेरी मुख-कान्ति की समता मिलती है, परन्तु चन्द्रमा का पूर्ण-बिम्ब भी केवल पूर्णिमा ही को कभी मेघ-पटल-रहित होता है तभी दीख पड़ता है। मयूरों

---

१ प्रेक्षित, जै० सारो० सु० विल० मदि० व०। २ दृष्टिपातान्, विल० सारो० मदि० सु०। ३ गण्डच्छाया, विल० म० रा० क० ह०। ४ भ्रूपताका, सारो०। ५ हन्तैकस्थ, जै० विल० सारो० त्रिवु० व० सु० म० रा० क० ह०। ६ भीरु, सारो० सु० मदि० व०।

पद्यानुवाद—श्यामाओं में मृदुल-वपुको, दृष्टि भीता-मृगी में
चन्द्राभा में वदन-छविको, केश बर्हाकृती में।
भ्रू-भङ्गी के चल-लहरि में, देखता मानिनी! मैं
तेरी एकस्थल सदृशता हा! न पाता कहीं मैं॥४३॥

के पिच्छ भार में, तेरे केश-कलाप का लावण्य देखने को मिल जाता है पर सभी मयूर सघन पिच्छ भार वाले नहीं होते। मन्द पवन प्रेरित नदी के सूक्ष्म चञ्चल तरङ्गों में, तेरे भ्रुकुटि विलास के चातुर्य का सादृश्य पाता है, पर वे तरङ्गें भी पवन की अनुकूलता पाकर कभी कभी ही उसकी समता को पहुच सकती हैं। अतएव तेरा सर्वाङ्ग-सादृश्य तो कहां, एकाङ्ग सादृश्य भी कहीं मिलता है तो वह भी सर्वत्र और सर्वदा नहीं किन्तु कही, कहीं और कभी, कभी। अतएव सादृश्य दर्शन जन्य सुख भी अब मुझे यथेष्ट अप्राप्य है।

अलङ्कार—यहां प्रतीप है। और श्यामा लतादिक उपमानो से नायिका के अङ्ग आदि की गुणाधिक्यता प्रतीत होने से व्यतिरेक की ध्वनि भी है। इसमें उसका अनुपम सौंदर्य सूचन किया है इस वर्णन में कवि कोकिल महर्षि वाल्मीकि के —

"पद्मकोशपलाशानि दृष्ट्वा दृष्टिर्हि मन्यते।
सीताया नेत्रकोशाभ्यां सदृशानीति लक्ष्मण"॥

मूल—त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलाया-
मात्मानं ते चरणपतितं यावदिच्छामि कर्तुम्।
अस्त्रैस्तावन्मुहुरुपचितैर्दृष्टिरालुप्यते[१] मे
क्रूरस्तस्मिन्नपि न सहते सङ्गमं नौ कृतान्तः॥४४॥

इत्यादि वर्णन का अनुसरण कवि ने किया हो ऐसा प्रतीत होता है। प्रिय वस्तु के गुणो की अन्य-वस्तु में समता देखकर जी बहलाने का वियोगियो का स्वभाव होता है। देखिए इसी भाव का रघुवंश के अज-विलाप में कैसा हृदय-द्रावक वर्णन है —

"कलमन्यभृतासु भाषितं कलहंसीषु मदालसं गतम्।
पृषतीषु विलोलमीक्षितं पवनाधूतलतासु विभ्रमाः॥
त्रिदिवोत्सुकयाप्यवेक्ष्य मां निहिताःसत्यममी गुणास्त्वया।
विरहे तव मे गुरुव्यथं हृदयं न त्ववलम्बितुं क्षमा"॥
(सर्ग ८-५६ ६०)

भावार्थ—हे प्रिये ? परलोक जाने के लिये यद्यपि तू उत्सुक हो रही थी, तथापि मुझे धीरज बंधाने के लिये, सच ही तू ने अपने मधुर-वचन कोयलों को, मन्दगमन हंसियो को, चञ्चल दृष्टि हरिणियो को और हाव भाव, वायु की हिलाई हुई लताओं को देकर तू अपने गुण यहा छोड गई है, परन्तु तेरे वियोग की अत्यन्त-व्यथा से मेरा हृदय इतना व्याकुल हो रहा है,

---

१ लिप्यते, व, विद्यु।

पद्यानुवाद—गैरू से मैं लिखकर तुझे मानिनी को शिला पे
जोलौं चाहों तव-पद-गिरा हा! मुझे भी लिखा मैं
† रोके दृष्टी, बढ़कर बड़ी अश्रु-धारा असह्य
है धाता को अहह! अपना सङ्ग यों भी न सह्य॥४४॥

कि इसे अवलम्बन देने में ये सभी असमर्थ हैं। महाकवि भवभूति ने भी इस भाव को दूसरी तरह से मालती के वियोग में माधव के मुख से कहलाया है—

"नवेषु लोध्रप्रसवेषु कान्तिर्दृशः कुरङ्गेषु गतिर्गजेषु ।
लतासु नम्रत्वमिति प्रमथ्य व्यक्त विभक्ता विपिने प्रिया मे" ॥

श्लोक—४४,

इस श्लोक में चित्र-दर्शन विनोद के विषय में यक्ष कह रहा है—

हे प्रिये! तेरे वियोग में तेरे चित्र दर्शन से कभी मैं अपना जी बहलाने के लिये, प्रेम में कुछ बहाना निकाल कर मेरे से रूसी हुई तुझ मानवती का चित्र, गैरू आदि के रङ्ग से गिरि-शिलापर लिखता हूं, किन्तु जब तक तुझे मनाने के

---

† पाठान्तर—तौलौं रोके बढ़कर अहो! दृष्टि को अश्रु-धारा
है टेढ़ा हा! विधि न सहता सङ्ग यो भी हमारा।

लिये-तेरे चरणों पर गिरा हुआ अपने को मैं वहां-चित्र में-लिखना चाहता हू, इतने ही में वियोग-दु:ख से बारम्बार आसुओं की बढ़ी हुई धारा बह निकलती है, फलतः मेरी दृष्टि रुक जाती है, अतएव तेरे चित्र के समीप मे अपना चित्र भी नहीं लिख सकता हूं। विधाता बड़ा ही निष्ठुर है जो कि इस प्रकार चित्र में भी अपना [तेरा और मेरा] सङ्ग नहीं सहन कर सकता-अतएव चित्र-दर्शन का आनन्द भी मुझे इस समय नहीं मिलता।

अलङ्कार—यहा विशेषोक्ति है। चित्र-दर्शन जनित आनन्द मिलने का कारण होने पर भी उसका न मिलना सूचन है।

क्रूरस्तस्मिन्—यहा यक्ष का विधाता के प्रति शोकोद्गार रूप उपालम्भ है, अन्यत्र भी कहा है—

"शशिनि खलु कलङ्कः कण्टकाः पद्मनाले
उदधि जलमपेयं पण्डिते निर्धनत्वम्।
दयितजनवियोगो दुर्भगत्वं सुरूपे
धनवति कृपणत्व रत्नदोषी कृतान्तः"॥

अर्थात् चन्द्रमा में कलङ्क, कमल की नाल म काँटे, समुद्र के जल में खारापन, पण्डितों म दरिद्रता, स्नेहीजनो का एक का दूसरे से वियोग, अच्छे रूप वालों के निर्धनता, और धनवानो म कृपणता, देखकर आप पड़ता

है, कि विधाता रत्नों में कुछ न कुछ दोष रख ही देता है, पर विधाता को ऐसा न चाहिये था यह उसका अविचार और कठोरता है।

इस श्लोक के आगे नीचे लिखा हुआ श्लोक कुछ प्रतियों में क्षेपक रूप से मिलता है—

धारासिक्तस्थलसुरभिणस्त्वन्मुखस्यास्य बाले
दूरीभूते प्रतनुमपि मां पञ्चबाणः क्षिणोति।
घर्मान्तेऽस्मिन्विगणय कथं वासराणि व्रजेयु-
र्दिक्संसक्तप्रविततघनव्यस्तसूर्यातपानि॥

इसका अनुवाद—

सींची-भू सा सुरभित, अहो! वक्त्र तेरा न दीखे
छेदें मेरा कृशित--तनु भी काम के बाण-तीखे।
काटूं कैसे अब दिवस ये, हे प्रिये! सोच तू, मैं?
छाई सारी दिशि घन-घटा देख वर्षा ऋतू में॥

वस्तुत यह श्लोक क्षेपक ही जाना जाता है, क्योंकि ४३ की संख्या के श्लोक से यक्ष का सन्देश आरम्भ होता है, वहां से 'श्यामास्वङ्गं' इत्यादि चार श्लोकों में कवि ने विरहीजनों के चार चित्त-विनोद के साधन, क्रमशः वर्णन किये हैं—जैसा कि ४३ की संख्या के श्लोक की टीका की व्याख्या में लिखा गया है, उनके बीच में यह श्लोक प्रसङ्गोपयुक्त नहीं मालूम होता है।

———

मूल—मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया[1] स्वप्नसंदर्शनेषु।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः[2] पतन्ति ॥४५॥

—०—

श्लोक—४५,

इस श्लोक में यक्ष स्वप्न—दर्शन के विषय में कहता है —

हे प्राणेश्वरी! बार, बार अभिलाषा करता हुआ मैं, अत्यन्त कठिनता से कभी स्वप्न में तेरा समागम पाता हूं, तब तुझे दृढ आलिङ्गन करने को—तुझ से अच्छी तरह मिलने करिये—आकाश की तरफ—शून्य स्थल पर—मैं अपने दोनों हाथ फैलाता हूं, उस समय मेरी वैसी दया जनक दशा को देखती हुईं वन की देवियां आंसू डालने लगती हैं उनके मोती के समान वे बड़े बड़े आँसू घटों तक वृक्षों के नवीन पत्तों पर गिरा करते हैं—मेरी वह दशा देखकर वे भी देर तक रोती रहती हैं—हाय! स्वप्न में मेरी भुजायें शून्य स्थल पर जाने से चमक कर निद्रा छूट जाती है, अतएव स्वप्न-सयोग का आनन्द भी अब मुझे नहीं मिलता।

किसलयेषु—वन देवियों के आंसू, वृक्षों के पत्तों पर गिरना,

---

१ सति, व०। २ अश्रुपाता, सारो०।

पद्यानुवाद—पाके तेरा अति-कठिन से स्वप्न-संयोग, मैं जो-
फैलाता हूं भुज नभ तुझे गाढ़-आलिङ्गने को।
ऐसी मेरी स-करुण-दशा देखती वन्य-देवी-
मोती जैसे विटप-दल पे डालतीं अश्रु वे भी॥४४॥

कथन करने का तात्पर्य यह है कि देवता और गुरु आदि महज्जनों के आंसू पृथ्वी पर गिरना बड़ा अशुभ है, कहा है—

" महात्मागुरुदेवानामश्रुपातः क्षितौ यदि।
देशभ्रंशो महाद्दुःखं मरणञ्च भवेद्ध्रुवम् "॥

अलङ्कार—यहां लुप्तोपमा है।

स्थलीदेवतानां—महाकवि कालिदास करुणा रस के वर्णन में सजीव और निर्जीव वस्तुओं में कारुण्य-भाव का आरोप करके इस रस को ऐसी अच्छी तरह से परिपुष्ट करते हैं, कि कैसा ही कठिन-हृदय हो, उस पर भी प्रभाव हुये बिना नहीं रह सकता। देखिए! रघुवंश के अज विलाप में इस भाव का वर्णन—

" विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अभितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥"
(८—४३)

" विलपन्निति कोशलाधिपः करुणार्थग्रथितं प्रियां प्रति।
अकरोत्पृथिवीरुहानपि स्रुतशाखारसबाष्पदूषितान्॥"
(८—७०)

(भावार्थ) अपनी प्रियतमा-इन्दुमति-की अचानक मृत्यु हो जाने पर अज को असीम दुःख हुआ। उसका स्वाभाविक धीरज भी छूट गया।

मूल-भित्वा सद्यः किसलयपुटान्देवदारुद्रुमाणां
ये तत्क्षीरस्रुतिसुरभयो दक्षिणेन प्रवृत्ताः
आलिङ्ग्यन्ते गुणवति मया ते तुषाराद्रि वाताः
पूर्वं[1] स्पृष्टं यदि किल भवेदङ्गमेभिस्तवेति॥४६॥

आंखो से आंसुओं की धारा छुटने लगी। जब बहुत तपाये जाने पर लोहा भी पिघलने लगता है, फिर यदि संताप की अग्नि से तपे हुए शरीर-धारी व्याकुल होकर रोने लगे तो क्या बडी बात है ?

कौसलेश्वर-श्रम का रोना सुनकर मनुष्य ही नहीं वृक्षलता तक रो उठे डालियो से टपकते हुए रस रूपी आंसू बरसवा कर उसने स्थावर वृक्षादिको को भी रुला दिये, तब मनुष्यों की दशा क्या कहें ?

करुणा रस के वर्णन म महाकवि भवभूति ने भी पराकाष्ठा कर दी है, उन्होंने भी पथ्थरों को रुला दिये हैं, वज् के हृदय को भी विदीर्ण कर दिया है, कहा है:—

'अपिग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्'॥
(उत्तर रामच० १)

श्लोक—४६,

इस श्लोक में, अङ्ग-स्पर्श की हुई वस्तु के स्पर्श करने रूप वियोगियो का चौथा चित्त विनोद यह वर्णन करता है —

---

१ पूर्वस्पृष्टं च० f ०।

पद्यानुवाद—आता है जो किसलय तुड़ा देवदारुद्रुमों के
हेमाद्री का पय-सुरभिता उत्तर प्रान्त हो के।
लेता हूं मैं उस पवन को जान यों अङ्क मेरे
आया होगा सुतनु ! मृदु हो अङ्ग के स्पर्श तेरे॥४६

हे गुणवति, हिमालय प्रान्त का वह शीतल पवन—जो देव दारु के वृक्षों की कोंपलों को तोड़ता हुआ अतएव उनके दूध से सुगन्धित होकर शीघ्र ही इस तरफ आता है, उसे मैं अत्यन्त प्रेमपूर्वक आलिङ्गन करता हूं—बड़े चाव से हाथ फैलाकर अपने अङ्गों से स्पर्श करता हूं—यह सोच कर कि उत्तर से आया हुआ यह पवन कदाचित् तेरे अङ्गों को छूकर आया हो, इसीसे तू मेरी उत्कण्ठा का हाल समझ सकती है, कि तेरे स्पर्श की हुई वस्तु का स्पर्श होना भी मैं अपना सौभाग्य समझता हूं, और उसी के सेवन से विरह-सन्तापित अपने अङ्गों को शान्ति देने की चेष्टा करता हूं।

इसमें श्री रामायण के—

" वाहि वात यतः कान्ता तां स्पृष्ट्वा मामपि स्पृश।
यद्गतत्कामयानस्य शक्यमेतेन जीवितुम् "॥

इस श्लोक से भाव लिया गया मालूम होता है।

मूल—संक्षिप्येत[१] क्षण[२] इव कथं दीर्घयामा[३] त्रियामा
सर्वावस्थास्वहरपि कथं मन्दमन्दातपं स्यात्।
इत्थं चेतश्चटुलनयने दुर्लभप्रार्थनं मे
गाढोष्माभिः[४] कृतमशरणं[५]त्वद्वियोगव्यथाभिः॥
४७॥

अलङ्कार—यहां कार्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा है। यहां प्रिया के स्पर्श रूप अमृत की तृष्णा रूपी कारण प्रस्तुत है, उस तृष्णा का पवन-स्पर्श रूपी कार्य कथन किया गया है।

श्लोक—४७,

इस प्रकार विरह-पीडा में शान्ति देने वाले चित्त विनोद के सभी उपाय प्राप्त न होना कथन करके अब यक्ष, अपनी शोचनीय अवस्था का वर्णन करता है—

हे चञ्चलाक्षी! तेरी वियोग-व्यथाओं से मेरा चित्त रात दिन जैसा सन्तापित रहता है, उसकी विकलता का मैं कहां तक कथन करूं, वह निरन्तर यही चाहता है, कि वियोग-जनित-वेदना से निद्रा न आने के कारण बहुत बड़ी प्रतीत होने वाली रात्रियां, किसी भी प्रकार से क्षण के समान

---

१ सं.क्षिप्यन्ते, सारो० मद्दि० सु०; संक्षिप्येरन्, व०। २ क्षणमिव, जै० सारो० विल० सु० मद्दि०। ३ दीर्घयामास्त्रियामा, सारो० मद्दि० व०। ४ गाढो-ष्माभि। विल० मद्दि० जै०। ५ तद्वियोग, ई०।

पद्यानुवाद—कैसे छोटी क्षण-सम, बड़े-यामकी यमिनी हो?
कैसे जावे कट दिवस भी पा न सन्ताप ही को?
ऐसा तेरे विरह-दुख ने दुर्लभ-प्रार्थनार्थी-
कीया मेरा अशरण अहो! चित्त हे चञ्चलाक्षि॥४७॥

छोटी होकर शीघ्र कट जाँय और दिन भी—प्रातःकाल से सायङ्काल तक—किसी भी तरह कम सन्ताप-कारक होके बीत जाँय, पर यह भला किस तरह संभव हो सकता है? न तो इतनी बड़ी रात हीं पलक भर में कट सकती हैं और न दिन ही सर्वदा मन्दातप हो सकते हैं। पर हाय! इस तरह की न होने वाली इच्छा कर, करके मेरा चित्त अशरण हो रहा है—उसे कोई उपाय ही ऐसा नहीं सूझ पड़ता, कि जिसके करने से कुछ शान्ति प्राप्त हो अतएव निरुपाय हो रहा है।

त्रियामा—रात्रि के पहिले प्रहर का पूर्वार्द्ध और पिछले प्रहर का उत्तरार्द्ध, दिन में गिना जाता है। किसी, किसी के मत में वक्त समय सन्ध्या-काल है, इसलिये रात्रि का नाम त्रि-यामा अर्थात् तीन प्रहर वाली है।

अलङ्कार—यहां विरोधाभास है।

इस प्रकार की यक्ष की दशा के कथन में कवि ने मोह-मयी प्रमाद-मदिरा की उन्मत्तता का प्राबल्य सूचन किया है, जैसा कि महानुभाव भर्तृहरि ने कहा है—

मूल— [१]नत्वात्मानं बहु विगणयन्नात्मनैवावलम्बे[२]
तत्कल्याणि त्वमपि नितरां[३] मागमः कातरत्वम्।
कस्यैकान्तं[४] सुखमुपनतं[५] दुःखमेकान्ततो वा
नीचैर्गच्छत्युपरि च दशा चक्रनेमिक्रमेण ॥४८॥

"आदित्यस्य गतागतैरहरहः संक्षीयते जीवितं
व्यापारैर्बहुकार्यभारगुरुभिः कालो न विज्ञायते।
दृष्ट्वा जन्मजराविपत्तिमरणं त्रासश्च नोत्पद्यते
पीत्वा मोहमयीं प्रमादमदिरामुन्मत्तभूतं जगत् ॥"

श्लोक—४८,

अब यक्ष अपनी प्रियतमा को धैर्य बँधाता है:—

हे कल्याणी! मैं अनेक प्रकार के मनोरथ अपने मन में करता हुआ शाप छूट जाने पर तेरे साथ नाना प्रकार के आनन्द करने की आशाओं से अपने चित्त को धीरज देकर जीरहा हूं, अतएव तूभी-वियोग-सन्ताप से और मेरी इस

---

१ नन्वा, ई० प्रा० विल० ज० सारो० व०। २ मात्मना नात्र्यलम्बे, विल० द० सारो०। ३ सुतरां, ई० प्रा० विल० सारो० महि० सु० व० त्रिपु०। ४ कस्यात्यन्तं, ई० प्रा० महि० व० विपु० सु० विल० सारो०। ५ मुपातं, विम० सारो०।

पद्यानुवाद—आशा से मैं दृढ-चित किये धारता प्राण जो कि-
तूभी होना न दुखित यही सोच कल्याणि! क्योंकि-
किस्को होता अति-सुख तथा दुःख किस्को सदा है?
ऊंची नीची चलित-रथ के चक्र की सी दशा है॥४८॥

करुणा जनक दशा को सुनकर—न घबराना क्योंकि, संसार में किस को सर्वदा सुख और सर्वदा दुःख रहता है? न किसी को सुख ही नित्य रहता है, और न दुःख, किन्तु ये दोनों [सुख और दुःख] रथ के पहिये की तरह क्रमशः फिरते रहते हैं—जिस प्रकार फिरते हुए पहिये का कभी नीचे का भाग ऊपर आजाता है, और कभी ऊपर का भाग नीचे चला जाता है एक स्थान पर नहीं रह सकता—उसी प्रकार सुख और दुःख भी सदा किसी के स्थिर नहीं रह सकते, सुतरां जिस प्रकार अकस्मात् इस समय दुःख प्राप्त हो रहा है उसी प्रकार सुख भी प्राप्त हो जायगा घबड़ाने से क्या है।

अलङ्कार—यहां चतुर्थ पाद में अर्थान्तर न्यास है। इसमें सांसारिक दुःखों से परितप्त और हतोत्साहित पुरुषों को कवि ने सार-गर्भित बहुत उत्तम उपदेश सूचन किया है। सुख और दुःख के विषय में हमारे पूर्वाचार्यों ने भी ऐसा ही सदुपदेश दिया है; देखिए—

"चक्रवत्परिवर्तन्ते दुःखानि च सुखानि च"।

(मनुस्मृति)

मूल-शापान्तो मे भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान्मासान्[1] गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगणितं[2] तंतमात्माभिलाषं[3]
निर्वेक्ष्यावः परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु ॥४६॥

अर्थात् दुःख और सुख चक्र के समान फिरते रहते हैं। महाभारत में भी लिखा है:—

"दिनान्यर मयान्तानि उदयान्ता च शर्वरी।
सुखस्यानन्तरं दुःखं दुःखस्यानन्तरं सुखम्" ॥

इस वर्णन में महाकवि भास के:—

"कालक्रमेण जगतः परिवर्त्तमाना
चक्रारपंक्तिरिव गच्छति भाग्यपंक्तिः"।
(स्वप्नवासवदत्ता)

इस पद्य का भाव है। भास ने इस भाव रूपी अमूल्य रत्न को एक साधारण बनावट से जटित किया है, और महाकवि कालिदास ने इसको अपनी स्वाभाविक-चातुर्य से बहुत चित्ताकर्षक हथौड़ी से सुवर्ण में जड़ दिया है।

अश्वघोष ने बुद्धचरित में इस वर्णन का भाव इस प्रकार दिखाया है:—

---

१ मासान्यन्यान्, जै० विद्यु० व० मासानेतान्, विल० म० द०। २ गुणितं, जै० विल० सु० सारो० मदि०। ३ तमेवाभिलाषं, जै०।

पद्यानुवाद—होगा शाप-क्षय, हरि-उठें शेष-पर्यङ्क ही से
बाकी चारों शशिमुखि! बिता मास भी आंख-मीचे
पीछे,वाञ्छा अब बढरही जो वियोगी-दशा में
होंगी परी, मिल शरद की चांदनी की निशा में॥४६॥

" अतोऽपि नैकान्तसुखोऽस्तिकश्चि-
न्नैकान्तदुःखः पुरुषः पृथिव्याम् "।

इस प्रकार के विचारों की प्रत्येक प्रजा में परम्परागत एकता दिखाने के लिये मिस्टर विलसन् साहब ने प्लूटार्क के निम्नलिखित वाक्य उद्धृत किये हैं—

The wheel of life is ever on the ground while one side up, the other on the ground.

नत्वात्मानं इत्यादि—इस प्रथम पाद का भाव भवभूति ने बड़ी ही स-रस मधुर और हृदय ग्राहिणी रचना से वर्णन किया है, देखिये—

' उद्दामदेहपरिदाहमहाज्वराणि
सङ्कल्पसङ्गमविनोदितवेदनानि।
त्वत्स्नेहसंविदवलम्बितजीवितानि
किं वा मयापि न दिनान्यतिवाहितानि "॥
(मालती-माधव ६-१३)

श्लोक—४६,

विरह वेदना में सुख से निराश होती हुई प्रिया के सूखते हुए आशांकुरों को अब यक्ष, प्रेम-मय वाक्यामृत से सिञ्चन करता है.—

हे प्रिये ! विष्णु भगवान् के शेष-पर्यङ्क से उठने पर—देवोत्थान के पीछे—मेरे शाप की अवधि का अन्त हो जायगा—अब से केवल चार ही महीने बाकी हैं—इन चार महीनों को भी तू किसी तरह आंख मूंद कर बितादे। शाप की अवधि समाप्त हो जाने पर शरद ऋतु की निर्मल चांदनी खिली हुई-अत्यन्त मनो-रमणीय-रात्रियों में हम दोनों का फिर मिलाप हो जायगा। इस समय विरह-अवस्था में अपने दोनों के मन में जो, जो अनेक प्रकार की अभिलाषायें बढ रहीं हैं, उस समय वे सब फलवती हो जायंगी। अर्थात् इस समय विरह में अपने दोनों के मन में अनेक भावनायें जैसे कि गन्धमादन वन का विहार, गान, नृत्य, वाद्य, विनोद आदि बहुत सी क्रीडाओं की जो, जो अभिलाषायें बढ़कर इकट्ठी हो रही हैं। उन सब को शरद ऋतु की तादृश रात्रियों में सफल करेंगे। तात्पर्य यह है, कि भविष्य में होने वाले सुख की आशा ही से तेरे चित्त को धैर्य देना, जैसा कि मैं यहां अपने चित्त को धैर्य दे रहा हूं।

भुजगशयनादुत्थिते—भगवान् विष्णु, आषाढ शुक्ला एकादशी से कार्तिक-शुक्ला एकादशी तक शेष-शय्या पर शयन करते हैं, यह भगवान्

की योग निद्रा है। किसी किसी आचार्य के मत से आषाढ़ी-पूर्णिमा से कार्तिकी पूर्णिमा तक भी भगवान् की योग-निद्रा का समय माना जाता है, देखिए —

" आषाढे शुक्लपक्षान्ते भगवान् मधुसूदनः ।
भोगिभोगे निजां मायां योगनिद्रां समाप्नुयात् ॥
शेतेऽसौ चतुरो मासान् यावद्भवति कार्तिकी"।
(जयसिंह कल्पद्रुम)

इसमें श्रीराम चरित्र के—

" निद्राशनैः केशवमभ्युपेति "।

इस का आशय प्रकारान्तर से कथन किया हो ऐसा प्रतीत होता है।

अलङ्कार—यहा लोकोक्ति है। मूल में " लोचने मीलयित्वा " और अनुवाद में " आखमीचे " यह लोकोक्ति कथन की गई है। यह लोकोक्ति पूर्वकाल में भी अब की तरह प्रचलित थी, संस्कृत ग्रंथों में अन्यत्र भी देखी जाती है —

" कान्ते कत्यपि वासराणि गमय त्वं मीलयित्वा दृशौ "।
(अमरुशतक)

मूल—भूयश्चाह[१] त्वमपि[२] शयने कण्ठलग्ना पुरा मे
निद्रां गत्वा किमपि रुदती सत्वरं[३] विप्रबुद्धा
सान्तर्हासं कथितमसकृत्पृच्छतश्च[४] त्वया मे
दृष्टः स्वप्ने कितव रमयन् कामपि[५] त्वं मयेति॥५०॥

श्लोक—५०,

अब, मेघ के वचनो पर, अपनी प्रिया को यह दृढ़-विश्वास दिलाने के लिये कि "यह मेरा स्वयं कहलाया हुआ सन्देश है" यक्ष, उसको एकान्त का एक प्रसङ्ग स्मरण दिलाता है —

हे मेघ! मेरा इतना संदेश कह चुकने के पीछे उसे विश्वास दिलाने के लिये तू यह कह देना, कि उसने फिर यह भी कहा है, कि 'हे प्रिये!—एक दिन—तू मेरे कण्ठ से लगकर सोरही थी-उस दिन-कुछ निद्रा लेकर अचानक रोती हुई जग उठी थी, इसका कारण बार बार मेरे पूछने पर तू ने मुसकराती हुई ने यह कहा था, कि हे ठग! सपने में तुमको अन्य-स्त्री के साथ रमण करते हुए मैंने देखा—भला,

---

१ अपि, त्रिल०, असि, मल्लि०; आह, सु०। २ त्वमसि, जै० त्रिल० त्रिसु०। ३ सस्वन, व०, सस्वरं, न० ई० मा०। ४ पृच्छताऽसि, जै०, पृच्छते च, त्रिसु०। ५ कामिनी कामपि त्व, मल्लि०।

पद्यानुवाद—बोला है यों फिर "गल-बही डाल तू सो रही थी।
पाके निद्रा कुछ चकित सी शीघ्र रोती उठी थी।
पूछा मैंने बहुत तब, यों बोलके तू हंसी थी
अन्य-क्रीडा-रत ठग ! तुम्हें स्वप्न,मैं देखती थी"॥५०॥

कहिये तो किसी दिन न देखी हुई यह असह्य बात स्वप्न में मुझे दिखाई पडने से मैं क्यों न घबडाऊं ?

यह वर्णन, श्री रामचरित्र के —

' पर्यायेण प्रसुप्तश्च ममाङ्के भरताग्रजः ' ।

यहां से काकासुर के वृत्तान्त तक, श्री जानकी जी के कथन किये हुए अभिज्ञान पर लक्ष्य देकर किया गया है।

श्लोक—५१,

अब यक्ष अपना प्रेम इस समय भी पहिले के जैसा ही सूचन करके फिर धैर्य देता है —

---

† पाठान्तर—बोला है यों फिर, सुन ! कभी साथ तू सो रही थी।

मूल–एतस्मान्मां कुशलिनमभिज्ञानदानाद्विदित्वा
मा कौलीनादसितनयने[1] मय्यविश्वासिनी भूः।
स्नेहानाहुः किमपि विरहे [2]ध्वंसिनस्ते त्वभोगा-
दिष्टे[3] वस्तुन्युपचितरसाः प्रेमराशी भवन्ति॥५१॥

हे श्याम नयनी! इस–पिछले पद्य में एकान्त के प्रसङ्ग के सूचन-से मैं तुझे विश्वास दिलाता हूं कि तू मुझे स-कुशल समझना, लोगों के मूंसे–" तेरा पति जीता होता तो अब तक कुशल सम्वाद तो भेजता, अथवा तेरे पर उसका प्रेम इतने काल में अवश्य नष्ट हो गया है, वह तेरी याद ही नहीं करता " इस तरह की–झूठी बातें सुनकर तू मेरे विषय में कुछ अविश्वास न करना। यद्यपि लोग कहा करते हैं, कि दूर चले जाने पर स्नेह नष्ट हो जाता है—कहावत भी है "स्नेह प्रवासाश्रयात्"—किन्तु यह बात ठीक नहीं—कदाचित् साधारण मेल जोल के स्नेह के विषय में ऐसा होता भी हो, पर, जहां एक का दूसरे के साथ आन्तर्य स्नेह होता है—दोनों प्रेमी अभिन्न हृदय होते हैं, वहां तो—प्रिय-वस्तु न मिलने

---

१ चकितनयने, सारो०। २ ह्रासिनस्तेऽप्यभोगाद, जै०, ह्रासिनस्त ह्यभोगाद्व व० त्रिवु; विरहव्यापदस्तेह्यभोग्या., विल० भ० ह०, विरहध्यमि-नस्ते ह्यभोगाद, मल्लि० सु०। ३ इष्ट, विल० भ० ह०।

पद्यानुवाद—हे श्यामाक्षी! स-कुशल मुझे जान, यों चिन्ह पाके,
शङ्का मेरी कुछ न करना, लोक-चर्चा, वृथा से।
माना जाता प्रिय-विरह में स्नेह होता विनष्ट
वस्तु-प्यारी न मिल, बढके किन्तु हो प्रेम-पुष्ट॥५१॥

कारण-उसके अनुचिन्तन से प्रतिक्षण प्रवृद्ध-राग होता
ा प्रेम-राशी भूत [इकट्ठा] होकर परि-पुष्ट होता है।
ात् प्रियजन के दर्शन न होने से निरन्तर उसके देखने
अभिलाषा बढ़ जाने से प्रेमियों के मन में क्षण, क्षण,
ऊपर प्रेम के पडत चढ़ जाने से प्रेम के ढेर लग जाते
अतएव तू कुछ भी शङ्का न करना।

स्नेह-और प्रेम—यहां इन दोनों शब्दों का प्रयोग है। यद्यपि यह—
—एकार्थक है। किन्तु अवस्था भेद से इनमें भी भेद माना गया है,
है.—

"प्रेम. दिदृक्षा रम्येपु तच्चिन्तात्वभिलाषकः।
रागः तत्सङ्गबुद्धिः स्यात् स्नेहस्तत्सहवर्तनम्॥
तद्वियोगासहं प्रेम रतिस्तत्सहवर्तनम्।
शृङ्गारस्तत्समः क्रीडा संयोगः सप्तधा क्रमात्"॥

मूल–आश्वास्यैवं[1] प्रथमविरहादुग्रशोकां[2] सखीं ते[3]
शैलादाशु[4] त्रिनयनवृषोत्खातकूटान्निवृत्तः ।
[5]साभिज्ञानप्रहितकुशलैस्तद्वचोभिर्ममापि[6]
प्रातः कुन्दप्रसवशिथिलं जीवितं धारयेथाः[7] ॥५२॥

प्रेमराशी—यहां परस्पर में अनुरक्त सत्य-प्रेमियों के और सज्जनों के प्रेम-बन्धन की दृढता सूचन की है देखिए ! गुण निधान सज्जनों के स्नेह की दृढता पर किसी कवि ने कहा है —

"नहि भवति वियोगः स्नेहविच्छेदहेतु-
र्जगति गुणनिधीनां सज्जनानां कदाचित् ।
घनतिमिरनिरुद्धो दूरसंस्थोऽपि चन्द्रः
किमु कुमुदवधूनां प्रेमभङ्गं करोति" ॥

श्लोक—५२,

अब यक्ष, अलका में नायिका को सन्देश देकर फिर लौटकर अपनी प्रिया की कुशल सुनाने के लिये, मेघ से विनय करता है —

---

१ स्यनां, जै० विल० क० । २ विरहे शोकदग्धा, जै; विरहादुग्रशोका, विल० । ३ स्वा, मद्दि० सु० ; मे, विल० । ४ तस्माददे', जै० , शलादस्मात, विल० । ५ साभिज्ञानं, जै० । ६ वचनैस्तत्रयुक्तै, जै० । ७ धारयेद, ज० ।

पद्यानुवाद—ऐसे धैर्य, प्रथम-विरह-व्याकुला को बँधा के
आ तू; खोदे शिव-वृषभ से; शृङ्ग के शैल जाके।
लाके चिन्हों-युत कुशल के वाक्य उसके सुना तू
प्रातः कुन्द-प्रसव सम हा! प्राण मेरे बचा तू॥५२॥

हे मित्र मेघ! प्रथम-वियोग से अत्यन्त शोकाकुलित तेरी सखी को अर्थात् मेरी प्रिया को, मेरे कहे हुए सन्देश द्वारा इस प्रकार धैर्य बँधाकर फिर तू हिमालय से यहाँ लौट आना—उस हिमालय से जिसके शिखरों को श्री शिवजी का वाहन (नन्दीगण) अपने सींगों से खोदा करता है। पर केवल मेरा सन्देश सुनाकर ही तू न लौट आना किन्तु जिस तरह मेरा सन्देश सुनाकर मेरी पत्नी के प्राणों की तू रक्षा करे, उसी तरह पहिचान के साथ उसका भेजा हुआ कुशल-सम्वाद रूप अमृत भी तू अपने साथ अवश्य लेकर आना, उसे सुनाकर मेरे भी—प्रातः कालीन कुन्द के नवीन और कोमल फूल के समान—प्राणों की रक्षा करना। हम दोनों ही की जीवन-रक्षा अब तेरे ही आधीन है।

अलङ्कार—यहाँ वाचक लुप्तोपमा है। यक्ष के प्राण को कुन्द के फूल की उपमा दी गई है।

मूल—कच्चित्सौम्य व्यवसितमिदं बन्धुकृत्यं त्वया मे
प्रत्यादेशान्न[1] खलु भवतो[2] धीरतां[3] कल्पयामि ।
निःशब्दोऽपि प्रदिशसि जलं याचितश्चातकेभ्यः
प्रत्युक्तं हि प्रणयिषु सतामीप्सितार्थक्रियैव॥५३॥

— —

श्लोक—५३,

अब, इस प्रकार सन्देश कह चुकने पर मेघ द्वारा कुछ प्रत्युत्तर न मिलने पर भी अपने कार्य करने में प्रश्न पूर्वक उसकी अनुमति कल्पना करके यक्ष, मेघ की सविनय प्रशंसा करता है—

हे सौम्य ! मुझ मित्र का यह—सन्देश ले जाने का—कार्य करना क्या तू ने स्वीकार कर लिया ? यद्यपि तेरे द्वारा कुछ प्रत्युत्तर नहीं मिला है, पर मुझे कुछ शङ्का नहीं होती है—मैं नहीं सोचता हूं कि तूने मेरा कार्य अङ्गीकार नहीं किया—क्योंकि चातक पक्षियों को तू कुछ भी शब्द न करके—गर्जना न करके—जीवन (जल) दान देता है—बिना बोले ही याचकों का कार्य पूरा करने का तेरा स्वभाव ही है । तू सज्जन है, तुझे उचित ही है, याचकों की इच्छा पूर्ण करना ही उदार चेता सज्जनों का प्रति उत्तर हुआ करता है। वे मांगने वाले को

१ प्रत्याख्यातुम्, माइ० मु० व० र० प्रत्यादेशम्, इ० । २ अधीरता महि० मु० २ । तर्कयामि, त्रिल० ई० प्रा० च० ।

पद्यानुवाद—क्या स्वीकीया यह सुहृदका कार्य तूने सु मेरा ?
होती शङ्का कुछ न मुझ को मौन भी देख तेरा ।
देता वारी ध्वनि-रहित तू चातकों को न यों क्या ?
आशा-पूर्ती प्रति-वचन है याचकों को बड़ों का ॥५३॥

'हम देंगे' 'तेरा कार्य कर देंगे' ऐसा कुछ मूं से न कह के उनकी मांगी हुई वस्तु देकर ही अपनी कृपा उस पर दिखा देते हैं।

निःशब्द—यह पद मूल में और 'ध्वनिरहित' यह पद अनुवाद में श्लिष्ट है, इन का मेघ के पक्ष में 'गर्जना न करना' और सत्पुरुष के पक्ष में 'कुछ न कहना' अर्थ है। जो मेघ वर्षा करते हैं, वे प्राय गर्जना नहीं करते, महज्जनों का भी यही स्वभाव है, किसी कवि ने कहा है:—

'गर्जति शरदि न वर्षति वर्षासु निःस्वनो मेघः ।
नीचो वदति न कुरुते न वदति सुजनः करोत्येव' ॥

अर्थात् शरद ऋतु में प्राय मेघ आकाश में गर्जना मात्र करते हैं, किन्तु वर्षा नहीं करते, और वर्षा ऋतु में प्राय गर्जना न करके भी वर्षा करते हैं, इसी तरह छोटे आदमी मूं से कह कर भी कार्य नहीं करते, किन्तु सज्जन पुरुष मूं से कुछ न कह के भी कार्य कर देते हैं। राजतरङ्गिणी में लिखा है, कि महाराजा विक्रमादित्य ने कविवर मातृगुप्त के गुणों पर अत्यन्त प्रसन्न होकर उसको अपने मूं से कुछ न कह के, शासन-पत्र द्वारा

मूल—एतत्कृत्वा [1]प्रियमनुचितप्रार्थनावर्तिनो[2] मे
सौहार्दाद्वा विधुर इति वा मय्यनुक्रोश बुध्या
इष्टान्देशाञ्जलद[3] विचर प्रावृषा संभृतश्री-
र्माभूदेवं क्षणमपि[4] च ते विद्युता विप्रयोगः॥५४॥

हो काश्मीर का राज्य दे दिया, तब उसने काश्मीर के राज्य सिंहासनारूढ होकर उस उपकार के उपलक्ष्य में एक पद्य लिखकर भेजा था, वह यह है —

" नाकारमुद्वहसि नैव विकत्थसे त्वं
दित्सां न सूचयसि मुञ्चसि सत्फलानि ।
निःशब्दवर्षणमिवाम्बुधरस्य राजन्
सलक्ष्यते फलतएव तवप्रसादः " ॥
(राजत० द्वितीय तरङ्ग २२५)

इसमें भी यही भाव है। अर्थात् हे राजन् ! न तो आप कुछ चेष्टा ही दिखाते हो, न कुछ अपनी बड़ाई ही करते हो, और न, देने की अपनी इच्छा प्रत्यक्ष प्रकट करते, किन्तु—गर्जना के बिना अकस्मात् वृष्टि करने वाले मेघ के समान—आप की कृपा, फल होने पर ही जानी जा सकती है। अर्थात् कार्य हो जाने पर ही जाना जाता है, कि वह आप ही की कृपा

---

१ प्रिय समुचित प्रार्थन चेतस म, विल० भ० इ० । २ प्रार्थनादात्मना मे, नं, क०, प्रियमनुचितप्रार्थनावर्त्मनोमे, विद्यु० व । ३ विचर जलद, जै० सु० महि० व० । क्षणमपि सखे, जै०, कचिदपि नते, विल० इ० ।

पद्यानुवाद—मैत्री से, या समझ विरही, या दया-दृष्टि ही से—
वार्ता-हारी बन, यदपि न प्रार्थना योग्य ही ये।
वर्षा-श्री से युत, फिर सखे! चित्त चाहे वहीं जा
† ऐसा तेरे विरह क्षण भी हो न सौदामिनी का॥५४॥

का फल है। डाक्टर भाउ दाजी महाशय ने उक्त मातृगुप्त को ही प्रसिद्ध महाकवि कालिदास कल्पना किया है। किन्तु मातृगुप्त के चरित्र के साथ कालिदास के चरित्र की तुलना किसी अंश में भी नहीं हो सकती, उक्त डाक्टर साहब की कल्पना नितान्त भ्रमात्मक है।

इस भाव का वर्णन महाकवि श्रीहर्ष ने भी बड़ा चित्ताकर्षक किया है, देखिए! राजा नल के प्रति दमयन्ती का रूप-लावण्य वर्णन करके, उस-दमयन्ती—को नल में अनुरक्त करने की बात प्रकट करने के पीछे पश्चात्ताप करता हुआ हंस, राजा नल से कहता है —

"तव सम्मतिमेव केवलामधिगन्तुं धिगिदं निवेदितम्।
ब्रुवते हि फलेन साधवो नतु कण्ठेन निजोपयोगिताम्"॥
(नै० २—४६)

अर्थात् हे राजन्! केवल आपकी सम्मति लेने ही के लिये, उसको आप में अनुरक्त करने की प्रतिज्ञा करने वाले मुझ को धिक्कार है, क्योंकि महात्मा-जन अपनी उपयोगिता अर्थात् किया हुआ उपकार फल सिद्धि द्वारा ही प्रकट किया करते हैं, न कि वचनों से।

---

† पाठान्तर—ऐसा तेरे विरह मत हो मित्र! सौदामिनी का।

अलङ्कार—यहां अर्थान्तर न्यास है ।

शिक्षा—इसमें महज्जनों के सदाचार द्वारा अपने मुख से अपनी सब बड़ाई भी न करने का सार-गर्भित उपदेश सूचन किया गया है ।

श्लोक—५४,

अब, स-विनय क्षमा-प्रार्थना पूर्वक यक्ष-द्वारा मेघ को आशीष प्रदान कराते हुए महाकवि कालिदास ग्रंथ की समाप्ति में मङ्गलाचार करते हैं.—

हे जलधर ! मेरी यह प्रार्थना वस्तुतः बड़ी अनुचित है—तुझ इन्द्र के मंत्री और महान् उदार-चेता तथा जगत के परोप कारक मेघ को दूत कार्य जैसे छोटे काम में योजन करना बड़ अयोग्य है, तथापि मैंने तुझे मित्र-भाव से विनय की है, इस मैत्री के सम्बन्ध से, या मैं अपनी स्त्री की जुदाई के दुःख से पीड़ित हूं, इस कारण से अथवा, मेरी एतादृश दया जनक अवस्था पर दया लाके, तू इस—सन्देश सुगताने रूप—कार्य को करके फिर वर्षा ऋतु की शोभा से युक्त होता हुआ तेरा चित्त चाहे उन्हीं देशों में विचरण करना । अर्थात् वर्षा से पोषित हरियाली युक्त वन शाली मयूरों की मधुर-कूक आकाश में उड़ती हुई हारबन्ध बक-पंक्ति, जामन, केवड़े, और कदम्ब आदि के फूले फले वन, विचित्र रङ्ग की शोभा वाला इन्द्र-धनुष इत्यादि वर्षा के शोभायमान—सौन्दर्य से

अत्यन्त मनोहर शोभा पाता हुआ तू अपनी इच्छानुसार देशाओं में गमन करना—ऐसा कह कर फिर यक्ष, अपने मेत्र मेघ को समय के योग्य आशीर्वाद देकर विदा करता है कि-हे प्यारे! मुझे जिस तरह अपनी प्रियतमा का वियोग हुआ है, उस तरह तुझे अपनी प्रियतमा बिजली से क्षण भर भी वियोग मत हो। प्रसङ्गानुसार और अन्तः करण का उत्सभाव दिखाता हुआ इस छोटे से आशीर्वाद द्वारा कवि इस काव्य की समाप्ति करता है।

काव्य के अन्त में नायक को इच्छानुसार आशीर्वाद देने का कवि-सम्प्रदाय है, कहा है—

" अन्ते काव्यस्य नित्यत्वात् कुर्यादाशिषमुत्तमम्।
सर्वत्र व्याप्यते विद्वान्नायकेच्छानुरूपिणीम् "॥

शिक्षा—इस इस पद के प्रयोग से कवि ने यक्ष को अत्यन्त विषयासक्ति के कारण पत्नी-वियोग का दुःख रूप फल प्राप्त हुआ उसकी समानता दिखा के काव्य की समाप्ति में भी अत्यन्त विषयासक्ति का निषेध-गर्भित उपदेश सूचन किया है।

महाकवि कालिदास ने मेघदूत की समाप्ति पूर्वश्लोक में ही कर दी है। मेघ को सन्देश कह के विदा करने के पीछे क्या हुआ, सो उन्होंने कुछ भी लिखा, किन्तु यह वृत्तान्त पूरा करने के लिये-वियोगी दम्पती को मिलन देखने के उत्साह सम्पन्न किसी विद्वान् ने इसके अन्त में यह दो श्लोक और बढ़ा दिये हैं—

मूल-क्षेपक—तं सन्देशं जलधरवरो दिव्यवाचा चचक्षे
प्राणांस्तस्या जनहितरतो रक्षितुं यक्षवध्वाः।
प्राप्योदन्तं प्रमुदितमनाः सापि तस्थौ स्वभर्तुः
केषां न स्यादभिमतफला प्रार्थनाह्युत्तमेषु ॥१॥
श्रुत्वा वार्तां जलदकथितां तां धनेशोऽपि सद्यः
शापस्यान्तं सदयहृदयः संविधायास्तकोपः।
संयोज्यैतौ विगलितशुचौ दम्पती हृष्टचित्तौ
भोगानिष्टानविरतसुखान् भोजयामास शश्वत् २

श्लोक—१,

यक्ष के कहे हुये उस सन्देश को लोक हितकारी मेघ ने अलका में जाकर यक्ष की स्त्री के प्राणों की रक्षा करने के लिये दिव्यवाणी द्वारा उसको कह सुनाया, वह भी अपने स्वामी का कुशल समाचार का सन्देश पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुई। यह कार्य मेघ ने अपने योग्य ही किया क्योंकि उत्तमजनो से की हुई प्रार्थना किन की सफल नहीं होती? अर्थात् सज्जनों से प्रार्थना करने पर कोई भी हताश नहीं होता।

श्लोक—२,

अलकाधीश राजाओं के राजा कुबेर ने भी इस बात को

पद्यानुवादक—जो सन्देशा जलद-वरने दिव्य-वाणी-प्रयुक्त–
यक्ष-स्त्री को स-करुण दिया प्राण-रक्षा-निमित्त।
हुई वोभी प्रमुदित बड़ी कान्त-सम्वाद को ले
होती किस्की सफल न भला प्रार्थना उत्तमों से॥१॥
लोगों द्वारा सुन, धनद ने यों कि "हो मेघ-दूत–
आया था" सो स-करुण किया यक्ष का शाप दूर।
कीये दोनों मुदित विरही-दम्पती को मिला के
देके नाना-सुख-युत-सदा चित्त की कामनायें॥२॥

सुन कर, कि वियोग से अत्यन्त पीड़ित यक्ष का भेजा हुआ दूत बनकर मेघ, उसकी स्त्री के समीप सन्देश लेकर आया था, उनपर दया करके—शान्त कोप होकर—अवधि के पहिले ही शापको दूर कर यक्ष-दम्पती [नायक और नायिका] को मिलाकर उनको अपने वाञ्छित भोगों को निरन्तर भोगने के लिये आज्ञा देदी।

॥ शुभम् ॥

श्री ।

अन्य ग्रंथों के श्लोक और प्रमाण जो कि इस ग्रथ के जिस जिस पेज में उद्धृत किये गये है, उनका—

सूचीपत्र ।

(इसमें "भू० का चिन्ह है वह इस ग्रथ की भूमिका में उद्धृत प्रमाणों का सूचक है)

ग्रंथों का नाम

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध पाठ
भूमिका			
३	४	पुनरुक्त	पुनरुक्ते
६	१	इस काव्य का	इस काव्य के
३६	४	और भा	और भी
३६	१८	वच समुत्कार्ण	वक्र समुत्कीर्ण
४१	१५	शपुणां	शत्रूणां
४२	८	भोजमर्थं	भोजनाथ
४७	२२	इसा	इसी
५६	१६	उपयुक्त	उपर्युक्त
६०	१६	अन्त	अनन्तर
६२	३	मास	भास
६२	१५	नाटक का पात्र	नाटकों के पात्रों
६६	१०	भवमतिर्विशिष्यते	भवभूतिर्विशिष्यते
६६	१७	शङ्गार	शृङ्गार
६६	२०	भवभति	भवभूति
७२	१४	प्रचालत	प्रचलित
८५	४	दिङ्नागाचार्य-स्यशङ्कम	दिङ्नागाचार्यस्यशङ्कम
८६	१२	टसके	उसकी
८६	२२	अकर्षण	आकर्षण
१०५	७	श्वोक	श्लोक
कथारम्भ			
६	२	विरहदु ख	विरहदुख
११	६	कालिदास से	कालिदास के
२०	५	पुष्करावतक	पुष्करावर्तक
३४	१५	मेघ के थसा	मेघ के साथ
४६	१७	माघ भी	माघ ने भी
६२	२२	वाढे मेंढ	वाढें (मेंढ)

८२	३	त्रिद्रमाणा	त्रिद्रुमाणा
११२	४	तऊ	तुम
१३०	६	गिरा हुआ	गिरी हुई
१३१	२	फैला हुआ	फैला हुआ
१४०	३	माहा य	माहात्म्य
१४०	३	यस्मिन्दृष्टे	यस्मिन्दृष्टे
१४४	२	यत्काञ्चरन्भम्	यत्कीचरन्भम्
१४५	५	त्रीन्क्रमानति-विक्रम्य	त्रीन् क्रमानिव विक्रम्य
१५५	३	धन	घन
१६४	१७	दिखाता है	दिखाया है
१६५	१	ह-ाथों म	हाथों में
१६५	३	है वेणी में	हैं वेणी में
१८६	५	अलिपाक्त	अलिपक्ति
२०१	६	कमलिनो	कमलिनी
२१०	३	पृच्छन्तो	पृच्छन्ती
२१६	२	स	सखी ते
२१६	११	हान	हीन
२१८	१६	अश्रधारा	अश्रुधारा
२२१	११	नोष्णो	नोष्णो
२२२	१६	भगवग्दीता	भगवद्गीता
२३५	११	अमृतं वा	अमृत वा
२३६	८	व्यजनै	व्यजनै
२६०	१४	यहा	यही
२६४	१	दिनान्यस	दिनान्यस्त
२६५	४	परी	पूरी,
२६८	४	ह	हठ
२७६	५	हा कारमीर	ही कारमीर
२८०	१२	दिग्यवाणा	दिग्यवार्णा